प्रथम दो संस्करण : १० हजार ३००
(२६ मई, १९९३ से २४ अप्रैल, १९९४)

तृतीय संस्करण : ५ हजार २००
(१५ अगस्त, १९९४ ई.)

वीतराग-विज्ञान के संपादकीयों के रूप में ७ हजार ५००

योग २३ हजार

मूल्य : बीस रुपये मात्र

टाइप सैटिंग :
कॉम्प्रिन्ट प्राइवेट लिमिटेड
जयपुर

मुद्रक :
जयपुर प्रिन्टर्स
एम. आई. रोड
जयपुर

प्रकाशकीय

यह तो सर्वविदित ही है कि विगत १८ वर्षों में डॉ. हुकमचन्दजी भारिल्ल ने आत्मधर्म और वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीय लेखों के रूप में जो भी लिखा है; वह सब आज जिन-अध्यात्म की अमूल्य निधि बन गया है, पुस्तकाकार प्रकाशित होकर स्थाई साहित्य के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। न केवल हिन्दी भाषा में उसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, अपितु गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी आदि अनेक भाषाओं में उनके अनुवाद हो चुके हैं तथा अनेकों बार प्रकाशित हो चुके हैं।

इनमें धर्म के दशलक्षण, क्रमबद्धपर्याय, बारहभावना : एक अनुशीलन, चैतन्यचमत्कार, निमित्तोपादान, पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेद शिखर, शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में, आत्मा ही है शरण, गोम्मटेश्वर बाहुबली और परमभावप्रकाशक नयचक्र प्रमुख हैं। इन सब कृतियों ने जैनसमाज एवं हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। उनके लिखे साहित्य की अबतक आठ भाषाओं में ३५ लाख से अधिक प्रतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। उन्होंने अबतक लगभग ३ हजार २०० पृष्ठ लिखे हैं, जो सभी प्रकाशित हैं।

आज के बहुचर्चित और जैनदर्शन के महत्त्वपूर्ण लगभग सभी विषयों पर उन्होंने कलम चलाई है और उन्हें सर्वांगरूप से प्रस्तुत किया है। समयसार भी आज का बहुचर्चित विषय है। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के उदय ने समयसार को आज जन-जन की वस्तु बना दिया है। शायद ही कोई अध्यात्मप्रेमी ऐसा होगा, जो समयसार का स्वाध्याय न करता हो। इसप्रकार स्वामीजी का हम सब पर अनन्त-अनन्त उपकार है।

इसप्रकार समयसार पठन-पाठन की वस्तु तो बन गया है, पर आधे-अधूरे अध्ययन और विविध प्रकार की महत्त्वाकांक्षाओं ने आज कुछ ऐसी स्थितियाँ उत्पन्न कर दी हैं कि अब उसके सर्वांग अनुशीलन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी है।

इधर कुछ दिनों से उन लोगों ने भी समयसार पर लिखना और बोलना आरम्भ किया है, जो अबतक समयसार के अध्ययन-अध्यापन का निषेध करते रहे हैं। वे वस्तु को जिसतरह प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे भी अनेक विसंगतियाँ उत्पन्न हो रही हैं।

यद्यपि स्वामीजी के प्रवचनरत्नाकर उपलब्ध हैं और वे समयसार के मर्म को खोलने में पूर्णतः समर्थ हैं; पर वे प्रवचनों के संकलन हैं। प्रवचनों के संकलन और व्यवस्थित लेखन में जो अन्तर होता है, वह उनमें भी विद्यमान है।

आज स्वामीजी हमारे बीच में नहीं हैं और उन्हीं के प्रतिपादन को आधार बनाकर विसंगतियाँ उत्पन्न की जा रही हैं। अतः वातावरण की शुद्धि के लिए आज समयसार के सम्यक् अनुशीलन की महती आवश्यकता है। यह काम डॉ. भारिल्ल के ही वश की बात है; क्योंकि पहले भी जब जिस विषय को लेकर सामाजिक वातावरण दूषित हुआ, तब डॉ. भारिल्ल ने उन विषयों पर जो सर्वांग अनुशीलन प्रस्तुत किया; उससे व्यवस्थित वस्तुस्वरूप तो सामने आया ही, सामाजिक वातावरण भी लगभग शान्त हो गया। क्रमबद्धपर्याय, परमभावप्रकाशक नयचक्र एवं निमित्तोपादान जैसी कृतियाँ इसका सशक्त प्रमाण हैं। आज ये विषय विवाद की वस्तु नहीं रहे; अतः अब तो विरोध केवल विरोध के लिए होता है और उसमें व्यक्तिगत बातें ही अधिक होती हैं, तात्त्विक बातें न के बराबर ही समझिये।

हमारा पक्का विश्वास है कि डॉ. भारिल्ल ने हमारे अनुरोध पर जो समयसार अनुशीलन आरम्भ किया है; उससे न केवल मुमुक्षु समाज को लाभ होगा, अपितु वातावरण की शुद्धि में भी यह अनुशीलन उपयोगी सिद्ध होगा।

वीतराग-विज्ञान के जून, १९९२ के अंक से जब इसका सम्पादकीय के रूप में प्रकाशन आरम्भ हुआ, तब ही से अनुकूल प्रतिक्रियायें आने लगीं और इन लेखों को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की माँग भी आने लगी; वैसे तो हम उनके सभी सम्पादकीयों को पुस्तकाकार प्रकाशित करते ही आ रहे हैं, इन्हें भी करते ही; पर लोगों को धैर्य नहीं था, वे अधिक प्रतीक्षा नहीं करना चाहते थे।

दिसम्बर, १९९२ में देवलाली (महाराष्ट्र) में लगनेवाले शिविर में डॉ. भारिल्ल ने वीतराग-विज्ञान के सम्पादकीयों के आधार पर समयसार की छठवीं-सातवीं गाथायें ली, तो इनके पुस्तकाकार प्रकाशन की माँग जोर पकड़ने लगी; पर उस समय इसपर हम कोई ध्यान न दे सके; किन्तु स्वामीजी की जयन्ती के अवसर पर जब देवलाली में २२ मई से २६ मई, १९९३ तक समयसार की १४वीं गाथा पर डॉ. भारिल्ल के प्रवचन हुए तो इस माँग ने जोर पकड़ लिया।

डॉ. साहब का विचार था कि ६८ गाथाओं के पूर्वरंग और जीवाजीवाधिकार के समाप्त होने पर उसे समयसार अनुशीलन भाग १ के रूप में एक साथ ही प्रकाशित किया जावे। उन्होंने अपनी इस भावना को अनेक बार दुहराया भी, पर अनेक लोगों ने ऐसी भावमयी भावनायें व्यक्त कीं कि आप जबतक प्रकाशित करेंगे, तबतक हम रहें या न रहें ? अतः अभी जितना भी तैयार हो गया है, उतना ही प्रकाशित कर दें। उनकी भावना को ध्यान में रखते हुए हमें २५ गाथाओं के अनुशीलन को समयसार अनुशीलन भाग १ के पूर्वार्द्ध के रूप में मई, १९९३ में ही प्रकाशित करना पड़ा; जिसकी पाँच हजार प्रतियाँ तीन माह में ही समाप्त हो गईं। अतः सितम्बर, १९९३ में ही उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करना पड़ा।

इसका उत्तरार्द्ध गाथा २६ से ६८ तक अभी अप्रैल '९४ में प्रकाशित हुआ है, जो समाप्तप्राय: है।

प्रस्तुत कृति दोनों का सम्मिलित रूप है। इसके मराठी और गुजराती अनुवाद भी हो रहे हैं; जो क्रमशः मराठी वीतराग-विज्ञान एवं गुरुप्रसाद में छप रहे हैं, आगे चलकर पुस्तकाकार भी प्रकाशित होंगे।

गुरुदेव का तो अनन्त-उपकार हम सब पर है ही; क्योंकि उन्होंने न केवल हमको विस्तार से सबकुछ समझाया है, अपितु जिनवाणी का मर्म समझने की दृष्टि भी दी है। डॉ. भारिल्ल की सूक्ष्म पकड़ की तो स्वामीजी भी प्रशंसा किया करते थे, पर उन्हें इसके लेखन में अथक् श्रम करते मैंने स्वयं अपनी आँखों से देखा है; क्योंकि इसे लिखे जाने का मैं प्रत्यक्ष साक्षी हूँ। उन्होंने जिसप्रकार प्रत्येक गाथा के मर्म को सहज बोधगम्य बनाया है, सप्रमाण प्रस्तुत किया है, सयुक्ति और सोदाहरण समझाया है; वह अपने आप में अपूर्व है। मुझे पूरा-पूरा विश्वास है कि इससे अध्यात्मप्रेमी समाज को बहुत लाभ होगा। मेरे विश्वास को उन पत्रों से बल मिला है, जो समय-समय पर हमें प्राप्त होते रहे हैं और जिन्हें वीतराग-विज्ञान में यथासंभव प्रकाशित भी किया गया है।

विदेशों से प्राप्त पत्रों से स्पष्ट है कि न केवल देश में, अपितु विदेशों में भी इस अनुशीलन को पढ़ने की बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा की जाती है और इसका विधिवत पठन-पाठन भी चल रहा है।

'वास्तव में यह ग्रन्थ पूरा होने पर समाज को एक अमूल्य निधि प्राप्त होगी' – बाहुबली कुंभोज की विदुषी वहिन श्री गजाबैन की उक्त पंक्तियाँ एक ऐतिहासिक तथ्य सिद्ध होंगी – ऐसा हमारा पक्का विश्वास है।

अत्यल्प समय में इतना सुन्दर व शुद्ध मुद्रण करने के लिए जयपुर प्रिन्टर्स, जयपुर को जितना धन्यवाद दिया जाय, कम है। सभी आत्मार्थी भाई-बहिन इस कृति के भरपूर लाभ लें। इस मंगल भावना के साथ विराम लेता हूँ।

– **नेमीचन्द पाटनी**

दिनांक : १५ मई, १९९४ ई. महामंत्री, पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर

प्रस्तुत पुस्तक की कीमत कम करनेवाले दातारों की सूची

क्र. सं.	दातारों के नाम	राशि
१.	श्री सोभागचन्द पी. शाह हस्ते श्रीमती लीलाबेन, लन्दन	१०,०००.००
२.	श्री हरिलाल पोपटलाल शाह, बम्बई, हस्ते – मधुभाई	१००१.००
३.	श्री गोसरभाई वीसरिया, देवलाली	१००१.००
४.	श्रीमती वसुमतिबेन वीरचन्दभाई अजमेरा, बम्बई	१००१.००
५.	स्व. मरघाबेन नाथालाल शाह की स्मृति में, हस्ते रजनीभाई	१००१.००
६.	डॉ. अरविन्दभाई दोशी, गोंडल	१००१.००
७.	श्रीमती मंजुलाबेन मनहरलाल पारेख, सोनगढ़	१००१.००
८.	श्रीमती भानुबेन गणपतभाई मेहता, बम्बई	१००१.००
९.	श्रीमती कुसुमबेन उदाणी, बैंगलोर	१००१.००
१०.	श्री ताराचन्द माणेकचन्दजी, तलोद	१००१.००
११.	श्रीमती कान्ताबेन केवलचन्द जवेरी, बम्बई	१००१.००
१२.	श्री रतीलाल मोहनलाल घिया, राजकोट	१००१.००
१३.	श्रीमती मंजुलाबेन पूनमचन्द शाह, बम्बई	१००१.००
१४.	श्री विपिन लाभशंकर मेहता, बम्बई	१००१.००
१५.	श्रीमती मंगुबेन हाथीबाई शाह, बम्बई (ह. प्रमिलाबेन)	१००१.००
१६.	श्री मधुकुमार हरीलाल शाह, बम्बई	१००१.००
१७.	श्रीमती रतनबेन पदमजी शाह, ह. मणीकान्तभाई, बम्बई	१००१.००
१८.	श्रीमती शशी धर्मपत्नी दिलीप सेठी, इन्दौर हाल न्यूयार्क	१००१.००
१९.	श्री माणकलाल रामचन्द गांधी, बम्बई	१००१.००
२०.	कृषिभूषण विजयराज फतेचंद ब्रह्मेचा, जवल (नासिक)	१००१.००
२१.	सौ. सुषमा चानेकर, अकोला	१००१.००
२२.	श्री रजनीकान्त छोटालाल शाह, बम्बई	१०००.००
२३.	श्री प्रवीणचन्द पोपटलाल बोरा, बम्बई	१०००.००
२४.	श्री कान्तिभाई रामजीभाई मोटाणी, बम्बई	१०००.००
२५.	श्री मुकुन्दभाई मणीलाल खारा, बम्बई	१०००.००
२६.	श्री सुमनभाई रामजीभाई दोशी, बम्बई	१०००.००
२७.	श्री चिमनलाल के. शाह, बम्बई	१०००.००
२८.	श्री विनयदक्ष चैरीटेबल ट्रस्ट, बम्बई (ह. दक्षाबेन)	५०१.००
२९.	श्री डॉ. चन्दूभाई एवं ईश्वरभाई कामदार, राजकोट	५०१.००
३०.	श्री महेन्द्रभाई मेहता, बम्बई	५०१.००
३१.	श्रीमती शान्ताबेन लालचन्द शाह, थाणे	५०१.००
३२.	श्री मणीकान्त पी. शाह. माटुंगा-बम्बई	५०१.००
३३.	श्रीमती लीलावती बेन छोटालाल मेहता	५०१.००
३४.	श्री प्रवीणचन्द छोटालाल मेहता, सूरत	५०१.००
३५.	श्री श्वेट मिलन शाह, बम्बई	५०१.००
३६.	श्री अभिनन्दनकुमारजी जैन, जबलपुर	५०१.००

३७.	श्री शान्तिनाथ सोनाज, अकलूज	५०१.००
३८.	श्री गंभीरचन्द हमीरचन्द भानावत (सेमारीवाले) अहमदावाद	५०१.००
३९.	श्रीमती निरूपमा बहन सुतरीया, बम्बई	५०१.००
४०.	ब्र. रमावेन पारेख, देवलाली	५०१.००
४१.	श्री कुलीन लोढ़ा, एलनटाउन अमेरिका	५०१.००
४२.	श्री हर्षभाई पोपटलाल वोरा	५०१.००
४३.	श्री सुभाष वसन्तभाई तलाटी, वम्बई	५०१.००
४४.	श्रीमती गुलकन्दावेन सुन्दरलाल जैन (ह. श्रीचन्दजी)	५०१.००
४५.	श्री रमेशचन्द पोपटलाल वोरा, वम्बई	५०१.००
४६.	श्री अशोककुमार वीरचन्दभाई शाह, वोरीवली-वम्बई	५०१.००
४७.	श्री हंसमुखलाल छोटालाल शाह, वम्बई	५०१.००
४८.	श्री रजनीकान्त पोपटलाल वोरा, वम्बई	५०१.००
४९.	श्री रमणीकलाल घड़ियाली, मोरवी	५०१.००
५०.	श्री भोगीलाल मगनलाल कंधार, वम्बई	५०१.००
५१.	श्री विपिनचन्द पानाचन्द कुवड़िया, वोरीवली-वम्बई	५००.००
५२.	श्री अमृतलाल मंगलदास	५००.००
५३.	श्री राजेन्द्रभाई नरसिंहपुरा	२५१.००
५४.	ब्र. जशीवेन दामाणी, सोनगढ़	२५१.००
५५.	श्री रूपाराव गोसाई	२५१.००
५६.	श्रीमती नलिन प्रफुल्लभाई दोशी, वम्बई	२५१.००
५७.	श्रीमती पुष्पावाई जैन (जीजीवाई) ध.प. अजितकुमार जैन मुरेना	२५१.००
५८.	श्री कृष्णराव गोसावी, औरंगावाद	२५१.००
५९.	श्रीमती रमावेन कामदार	२०१.००
६०.	गुप्तदान-हस्ते ज्योति सोगानी, जयपुर	२०१.००
६१.	श्रीमती सुशीलावाई ध.प. जवाहरलालजी, विदिशा	२०१.००
६२.	श्रीमती सुशीलावाई नन्दकुमार सिंघई, इन्दौर	२०१.००
६३.	श्रीमती राजकुमारी गोधा ध.प. कोमलचन्दजी गोधा, जयपुर	२०१.००
६४.	श्रीमती प्रेमचन्दजी वड़जात्या, दिल्ली	२०१.००
६५.	श्रीमती पानादेवी सेठी ध.प. श्री मोहनलाल सेठी, गोहाटी	२०१.००
६६.	श्रीमती इन्द्रमणीदेवी ध.प. स्व. आनन्दीलालजी, रामगढ़केन्ट	२०१.००
६७.	श्री फूलचन्द विमलचन्द झांझरी, उज्जैन	२०१.००
६८.	ब्र. चेतना वहन, देवलाली	१५१.००
६९.	श्रीमती कमलादेवी, जयपुर	१५१.००
७०.	स्व. श्रीमती कुसुम एवं सुनन्द वंसल स्मृति निधि, अमलाई	१११.००
७१.	जयन्तीभाई धनजीभाई दोशी, वम्वई	१११.००
७२.	श्रीमती कान्तावेन राजेन्द्र पारीख	१०१.००
७३.	ब्र. कान्तावेन मास्टर	१०१.००
७४.	चौ. फूलचन्दजी द्वारा मनोज एण्ड कम्पनी, वम्बई	१०१.००
७५.	श्री सुरेशचन्द सुनीलकुमार जैन, वैंगलोर	१०१.००
	योग	५२,७८६.००

अनुक्रमणिका

समयसार अनुशीलन

मंगलाचरण

(अडिल्ल छन्द)

समयसार का एकमात्र प्रतिपाद्य जो ।
आत्मख्याति का एकमात्र आराध्य जो ॥
अज अनादि अनिधन अविचल सद्भाव जो ।
त्रैकालिक ध्रुव सुखमय ज्ञायकभाव जो ॥
परमशुद्धनिश्चयनय का है ज्ञेय जो ।
सत्‌श्रद्धा का एकमात्र श्रद्धेय जो ॥
परमध्यान का ध्येय उसे ही ध्याउँ मैं ।
उसे प्राप्त कर उसमें ही रम जाउँ मैं ॥
समयसार अरु आत्मख्याति के भाव को ।
जो कुछ जैसा समझा है मैंने प्रभो ॥
उसी भाव को सहज सरल शैली विषें ।
विविध पक्ष से जन-जन के हित रख रहा ॥
इसमें भी है एक स्वार्थ मेरा प्रभो ।
नित प्रति ही चित रहा करे इसमें विभो ॥
मेरे मन का हो ऐसा ही परिणमन ।
मन का ही अनुकरण करें हित-मित वयन ॥
अपनापन हो निज आतम में नित्य ही ।
अपना जानूँ निज आतम को नित्य ही ॥
रहे निरन्तर निज आतम में ही रमन ।
रहूँ निरन्तर निज आतम में ही मगन ॥
अन्य न कोई हो विकल्प हे आत्मन् ।
निज आतम का ज्ञान ध्यान चिन्तन मनन ॥
गहराई से होय निरन्तर अध्ययन ।
निश-दिन ही बस रहे निरन्तर एक धुन ॥

समयसार अनुशीलन

पृष्ठभूमि

भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादक ग्रन्थाधिराज समयसार जिनागम का अजोड़ रत्न है, सम्पूर्ण जिनागम का सिरमौर है। आचार्य अमृतचन्द्र इसे जगत का अद्वितीय अक्षय चक्षु कहते हैं और कहते हैं कि जगत में इससे महान और कुछ भी नहीं है। 'न खलु समयसारादुत्तरं किंचिदस्ति[१]' 'इदमेकं जगच्चक्षुरक्षय[२]' – आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त सूक्तियाँ समयसार की महिमा वताने के लिए पर्याप्त हैं ।

समयसार का समापन करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वयं लिखते हैं कि जो आत्मा इस समयसार नामक शास्त्र को पढ़कर, इसमें प्रतिपादित आत्मवस्तु को अर्थ व तत्त्व से जानकर उस आत्मवस्तु में स्थित होता है, अपने को स्थापित करता है; वह आत्मा उत्तम सुख को प्राप्त करता है अर्थात् अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त करता है ।

यह ग्रन्थाधिराज अत्यन्त क्रान्तिकारी महाशास्त्र है। इसने लाखों लोगों के जीवन को अध्यात्ममय वनाया है, मत-परिवर्तन के लिए वाध्य किया है। कविवर पण्डित वनारसीदासजी, श्रीमद् रायचन्द्रजी एवं आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी को इसने ही आन्दोलित किया था। उक्त महापुरुषों के जीवन को आमूलचूल परिवर्तित करने वाला यही ग्रन्थराज है ।

इसके सन्दर्भ में श्री कानजीस्वामी कहते हैं कि यह समयसार शास्त्र आगमों का भी आगम है, लाखों शास्त्रों का सार इसमें है। यह जैनशासन का स्तम्भ है, साधकों की कामधेनु है, कल्पवृक्ष है। इसकी हर गाथा

---

१. आत्मख्याति, कलश २४४
२. वही, २४५

छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलते हुए महामुनि के आत्मानुभव में से निकली हुई है ।

इस ग्रन्थाधिराज का मूल प्रतिपाद्य नवतत्त्वों के निरूपण के माध्यम से नवतत्त्वों में छुपी हुई परमशुद्धनिश्चयनय की विषयभूत वह आत्मज्योति है, जिसके आश्रय से निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

समयसार के इस अनुशीलन में समयसार की मूल गाथाओं के साथ-साथ आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका को मुख्य आधार बनाया जायगा। आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका, पाण्डे राजमलजी की कलश टीका, पण्डित बनारसीदासजी के नाटक समयसार एवं पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा की भाषा वचनिका का भी आवश्यकतानुसार यथास्थान उपयोग किया जायेगा। आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के प्रवचनों से भी लाभ उठाया जायेगा। इनके अतिरिक्त तत्संबंधित अन्य उपलब्ध साहित्य का उपयोग भी निःसंकोच किया जायेगा ।

इस अनुशीलन का एकमात्र उद्देश्य समयसार की मूल विषयवस्तु को अत्यन्त सरल भाषा व सुबोध शैली में जन-जन के समक्ष प्रस्तुत करना है। साथ में अपने उपयोग का सदुपयोग करना भी एक प्रयोजन है। मैं नहीं चाहता कि जीवन की इस सान्ध्य बेला में उपयोग यहाँ-वहाँ भटकता रहे। उसे त्रिकाली ध्रुव आत्मा का एक ऐसा सम्बल मिले कि उसे अन्यत्र भटकने का अवसर ही न रहे। बस, निरन्तर एक ही धुन रहे; वह भी भगवान आत्मा के चिन्तन, मनन, अध्ययन, पठन-पाठन, लेखन और अनुभवन की ही; क्योंकि मेरी दृढ़ आस्था है कि एकमात्र यही मार्ग है, सुखी होने का यही एकमात्र उपाय है ।

समयसार जैनियों की गीता है। इसमें ही उस मूल वस्तु का विवेचन है, जो आत्मसाधकों का एकमात्र आधार है। समयसार के मूल प्रतिपाद्य का जन-जन तक पहुँचना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। यही विचार कर यह उपक्रम किया जा रहा है; इसके मूल में अन्य कोई लौकिक कामना नहीं है।

समयसार की आत्मख्याति टीका का मंगलाचरण इसप्रकार है :-

(अनुष्टुभ्)

नमः समयसाराय स्वानुभूत्या चकासते ।
चित्स्वभावाय भावाय सर्वभावान्तरच्छिदे ॥ १ ॥

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
सकलज्ञेय-ज्ञायक नमौं, समयसार सद्रूप ॥ १ ॥

स्वानुभूति से प्रकाशित, चैतन्यस्वभावी, सर्वपदार्थों को जाननेवाले सत्तास्वरूप समयसार को नमस्कार हो ।

मंगलाचरण के उक्त छन्द में शुद्धात्मा को नमस्कार किया गया है। यहाँ समयसार का अर्थ शुद्धात्मा ही लिया गया है। समय शब्द का अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र स्वयं ही गाथा २ व ३ की टीका में विस्तार से स्पष्ट करेंगे। अतः उसके सन्दर्भ में विशेष चर्चा करना वहाँ ही ठीक रहेगा। यहाँ तो समय शब्द का सामान्य अर्थ आत्मा ही लेना है और सार शब्द का अर्थ है द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित। इसप्रकार द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित आत्मा ही शुद्धात्मा है, समयसार है ।

उस शुद्धात्मा को जानना, पहिचानना, उसमें जमना-रमना, उसमें उपयोग का झुकना, नमना ही वास्तविक नमस्कार है ।

यहाँ जिस समयसार अर्थात् शुद्धात्मा को नमस्कार किया गया है, उसे चार विशेषणों से समझाया गया है :-

(१) भावाय (२) चित्स्वभावाय (३) सर्वभावान्तरच्छिदे एवं
(४) स्वानुभूत्या चकासते ।

नमः के योग में चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग होने से समयसार को समयसाराय, भाव को भावाय एवं चित्स्वभाव को चित्स्वभावाय के रूप में रखा गया है। मूल शब्द भाव, चित्स्वभाव और समयसार ही हैं। इसीप्रकार स्वानुभूत्या चकासते एवं सर्वभावान्तरच्छिदे के सम्बन्ध में भी समझना चाहिए।

यहाँ उक्त चार विशेषणों से समयसार के द्रव्य, गुण और पर्याय स्वभाव को समझाया गया है। भाव कहकर द्रव्य, चित्स्वभाव कहकर गुण और सर्वभावान्तरच्छिदे तथा स्वानुभूत्या चकासते कहकर पर्याय स्वभाव को स्पष्ट किया गया है; क्योंकि मोह के नाश का उपाय द्रव्य-गुण-पर्याय से निज भगवान आत्मा को जानना ही है ।

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा गया है कि जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से और पर्यायरूप से जानता है, वह अपने आत्मा को भी उसीप्रकार जानता है और उसका मोह नाश को प्राप्त होता है ।

समयसार अर्थात् भगवान आत्मा भावस्वरूप है, सत्तारूप है, अस्तित्वरूप है, सत् है; और सत् द्रव्य का लक्षण है। जैसाकि तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है –

"सद् द्रव्यलक्षणम्[१] = द्रव्य का लक्षण सत् है ।"

इसप्रकार 'भाव' विशेषण के माध्यम से सर्वप्रथम भगवान आत्मा के द्रव्यस्वभाव को बताया गया है, उसके अस्तित्व की स्थापना की है; क्योंकि जगत में जिसका अस्तित्व ही न हो, उसका गुणानुवाद बंध्यासुतविवाहवर्णन के समान ही काल्पनिक सिद्ध होगा ।

छह द्रव्यों के समूह का नाम ही लोक है। इस लोक में छह द्रव्यों के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। यदि भगवान आत्मा का द्रव्यत्व ही सिद्ध न हो तो उसका अस्तित्व ही सिद्ध न होगा और अस्तित्व सिद्ध हुए बिना उसकी चर्चा ही सम्भव नहीं है। अतः उसकी चर्चा आरम्भ करने के पहले उसके अस्तित्व को सिद्ध करना आवश्यक ही है। यही कारण है कि मंगलाचरण में सर्वप्रथम भगवान आत्मा के अस्तित्व की स्थापना की गई है। इसके माध्यम से आत्मा का अस्तित्व ही न माननेवाले नास्तिकों के मत का निराकरण भी सहजभाव से हो गया है ।

---

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५ सूत्र २९

'वह सत्तास्वरूप भगवान आत्मा चैतन्यभावी है' – ऐसा कहकर भगवान आत्मा के स्वभाव को स्पष्ट किया गया है। वह भगवान आत्मा ज्ञान-दर्शन आदि अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है – यह कहने से भगवान आत्मा को सर्वथा निर्गुण माननेवालों का तो निराकरण हो ही गया, साथ में उस भगवान आत्मा की पहिचान का चिन्ह भी स्पष्ट हो गया ।

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो गई कि भगवान आत्मा जानने-देखने के स्वभाव वाला है। जानना-देखना उसका सहज स्वभाव है, असाधारण भाव है; जो आत्माओं में ही पाया जाता है, जीवद्रव्य में ही पाया जाता है, पुद्गलादि अजीव द्रव्यों में नहीं। इसीकारण यह चित्स्वभाव, भगवान आत्मा का लक्षण है, पहिचान का चिन्ह है। इसके माध्यम से भगवान आत्मा को अजीवादि परद्रव्यों में भिन्न जाना जा सकता है ।

तत्त्वार्थसूत्र में ज्ञान-दर्शन उपयोग को ही जीव का लक्षण कहा गया है।[१] जानना-देखना जीव का स्वभाव है। जानने-देखने को ही चेतना कहते हैं; इसीकारण यहाँ चित्स्वभाव शब्द का प्रयोग किया गया है ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जानना-देखना जीव का स्वभाव तो है; पर वह किसको जानना-देखता है अथवा किसको जानना-देखना उसका स्वभाव है ?

इसी के उत्तर में कहा गया है कि भगवान आत्मा सब पदार्थों को जानने-देखने के स्वभाव वाला है; वह सर्वज्ञस्वभावी है। आत्मख्याति के परिशिष्ट में जिन ४७ शक्तियों का निरूपण है, उसमें सर्वदर्शित्व और सर्वज्ञत्व शक्तियों का भी निरूपण है ।

यद्यपि यह पर्याय की बात लगती है; क्योंकि जानने-देखने की क्रिया तो पर्याय में ही होती है, तथापि यह पर्यायस्वभाव की बात है, प्रगट पर्याय की बात नहीं; सर्वज्ञता की बात नहीं, सर्वज्ञस्वभाव की बात है। यहाँ जिस

१. आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय २ सूत्र ८

समयसाररूप भगवान आत्मा को नमस्कार किया गया है, वह सर्वज्ञपर्याय सहित भगवान आत्मा की बात नहीं है, अपितु सर्वज्ञस्वभावी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा की बात है ।

यहाँ सर्वज्ञस्वभाव की बात करके सर्वज्ञाभाववादियों का निराकरण भी कर दिया गया है ।

यहाँ एक प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि ऐसा भगवान आत्मा जाना जा सकता है या नहीं ? सर्वज्ञ भगवान के ज्ञान में तो जाना ही जाता है, यहाँ उनके जानने की बात नहीं है। यहाँ तो यह बात है कि हम उसे जान सकते हैं या नहीं ?

यदि हम उसे जान सकते हैं तो किसप्रकार ?

इसके उत्तर में कहा गया है कि 'स्वानुभूत्या चकासते' । तात्पर्य यह है कि भगवान आत्मा स्वनुभूति के द्वारा जाना जाता है ।

इस कथन से उन लोगों का निराकरण हो गया, जो ऐसा मानते हैं कि भगवान आत्मा जाना ही नहीं जा सकता है। उन लोगों का भी निराकरण हो गया, जो स्वानुभूति के अतिरिक्त अन्य उपायों से भगवान आत्मा को जानना मानते हैं या जानना चाहते हैं। तात्पर्य यह कि भगवान आत्मा व्रत-उपवासादि क्रियाकाण्ड से पकड़ने में आने वाला नहीं है, कोरी बातों से भी कार्य होनेवाला नहीं है। देव-शास्त्र-गुरु भी हमें आत्मा की बात बता तो सकते हैं, पर वे आत्मा का अनुभव नहीं करा सकते, आत्मा का दर्शन नहीं करा सकते। आत्मा का दर्शन तो स्वानुभूति के माध्यम से स्वयं ही करना होगा ।

भगवान आत्मा स्वानुभवगम्य है। तात्पर्य यह है कि वह इन्द्रियगम्य नहीं है, अनुमानगम्य भी नहीं है। आगे यथास्थान इसे और अधिक विस्तार से स्पष्ट किया जायेगा; अतः यहाँ अधिक विस्तार से चर्चा करना अभीष्ट नहीं है, पर यहाँ इतना निश्चित है कि यह अतीन्द्रिय महापदार्थ, अतीन्द्रिय निर्विकल्प अनुभवज्ञान का ही विषय है ।

इसप्रकार यहाँ यह कहा गया है कि मैं उस समयसाररूप शुद्धात्मा को नमस्कार करता हूँ, जो सत्तास्वरूप है, चैतन्यस्वभावी है, सर्वदर्शी एवं सर्वज्ञत्वादि शक्तियों से सम्पन्न है और स्वानुभूति द्वारा प्रकाशित होता है ।

वस्तुतः नमने योग्य, ज्ञान का ज्ञेय बनाने योग्य, ध्यान का ध्येय बनाने योग्य तो एकमात्र दृष्टि का विषय त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा ही है; क्योंकि उसके आश्रय से मुक्तिमार्ग प्रगट होता है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस ग्रन्थाधिराज की टीका आरम्भ करने के पूर्व मंगलाचरण के रूप में उसे ही स्मरण करते हैं, नमन करते हैं ।

यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि मंगलाचरण में तो इष्टदेव को नमस्कार किया जाता है। यहाँ इष्टदेव को नमस्कार न करके समयसार को नमस्कार क्यों किया गया है ?

समयसाररूप निज भगवान आत्मा ही हम सभी को परम इष्ट है; क्योंकि उसी की आराधना से हम सबका कल्याण होनेवाला है। वह भगवान आत्मा ही स्वयं देवाधिदेव है; क्योंकि जितने आत्मा आजतक अरहंत और सिद्धरूप देव बने हैं, वे इस समयसाररूप भगवान आत्मा की आरधना करके ही बने हैं ।

यदि पर्याय की दृष्टि से विचार करें तो सर्वज्ञपर्याय से संयुक्त अरहंत और सिद्ध भगवान ही समयसार हैं। तथा समयसार नामक ग्रन्थ शास्त्र तो है ही और उसके कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्ददेव हैं। इसप्रकार समयसार शब्द से सच्चे देव-शास्त्र-गुरु का भी स्मरण हो गया ।

समयसार ग्रन्थ की टीका के आरम्भ में समयसार शब्द के माध्यम से त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्मरण करना आचार्य अमृतचन्द्र की अपनी विशेषता है। इसप्रकार का प्रयोग अष्टसहस्री के मंगलाचरण में भी हुआ है, जहाँ श्रीवर्द्धमान और समन्तभद्र शब्दों का प्रयोग व्यक्तियों के नाम के अर्थ में भी हुआ है और चौबीसों तीर्थंकरों के विशेषणों के रूप में भी हुआ है ।

'केवलज्ञानरूपी श्री से वर्द्धमान (श्रीवर्द्धमान) और चारों ओर से भद्र (समन्तभद्र) चौबीसों ही तीर्थंकरों को नमस्कार करके[1] ...... इत्यादि कथन द्वारा आचार्य विद्यानंदी चौबीसों तीर्थंकरों, अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर और आप्तमीमांसा के कर्त्ता आचार्य समन्तभद्र को एक ही छन्द में स्मरण करते हैं; क्योंकि उनकी अष्टसहस्री कृति का आधार समन्तभद्र की आप्तमीमांसा ही है ।

उसीप्रकार त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के प्रतिपादक आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की टीका आरम्भ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र समयसार ग्रंथाधिराज, उसके प्रतिपाद्य भगवान आत्मा एवं उसके कर्त्ता आचार्य कुन्दकुन्द के रूप में देव-शास्त्र-गुरु को 'समयसार' शब्द से एक साथ ही स्मरण करें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

इसप्रकार देवाधिदेव के रूप में समयसाररूप भगवान आत्मा एवं देव-शास्त्र-गुरु का स्मरण कर आचार्य अमृतचन्द्रदेव अब अनेकान्तमयी जिनवाणी नित्य प्रकाशित रहे, भव्य जीवों को मुक्ति का मार्ग दिखाती रहे – ऐसी मंगल कामना करते हुए दूसरा कलश लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः ।
अनेकान्तमयी मूर्तिर्नित्यमेव प्रकाशताम् ॥ २ ॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥ २ ॥

परपदार्थों, उनके गुण-पर्यायरूप भावों एवं परपदार्थों के निमित्त से होनेवाले अपने विकारों से कथंचित् भिन्न एकाकार अनन्तधर्मात्मक निज आत्मतत्त्व को देखनेवाली, जाननेवाली, प्रकाशित करनेवाली, अनेकान्तमयी मूर्ति सदा ही प्रकाशित रहे, जयवंत वर्ते ।

---

१. श्रीवर्द्धमानमभिवन्द्यसमन्तभद्र ...... ।

इस छन्द के भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छावड़ा लिखते हैं –

"यहाँ सरस्वती की मूर्ति को आशीर्वचन रूप से नमस्कार किया है। लौकिक में जो सरस्वती की मूर्ति प्रसिद्ध है, वह यथार्थ नहीं है; इसलिए यहाँ उसका यथार्थ वर्णन किया है। सम्यग्ज्ञान ही सरस्वती की सत्यार्थ मूर्ति है। उसमें भी सम्पूर्णज्ञान तो केवलज्ञान है, जिसमें समस्त पदार्थ प्रत्यक्ष भासित होते हैं। वह अनन्तधर्म सहित आत्मतत्त्व को प्रत्यक्ष देखता है, इसलिए वह सरस्वती की मूर्ति है और उसी के अनुसार जो श्रुतज्ञान है, वह आत्मतत्त्व को परोक्ष देखता है, इसलिए वह भी सरस्वती की मूर्ति है और द्रव्यश्रुत वचनरूप है वह भी उसकी मूर्ति है, क्योंकि वह वचनों द्वारा अनेक धर्मवाले आत्मा को बतलाती है ।

इसप्रकार समस्त पदार्थों के तत्त्व को बतानेवाली ज्ञानरूप तथा वचनरूप अनेकान्तमयी सरस्वती की मूर्ति है। इसीलिए सरस्वती के वाणी, भारती, शारदा, वाग्देवी इत्यादि बहुत से नाम कहे जाते हैं ।

यह सरस्वती की मूर्ति अनन्त धर्मों को 'स्यात्' पद से एक धर्मी में अविरोध रूप से साधती है, इसलिए सत्यार्थ है। कितने ही अन्यवादी जन सरस्वती की मूर्ति को अन्यथा स्थापित करते हैं, किन्तु वह पदार्थ को सत्यार्थ कहनेवाली नहीं है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा को अनन्त धर्मवाला कहा है; सो उसमें वे अनन्त धर्म कौन-कौन से हैं ?

उसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वस्तु में अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तिकत्व, अमूर्तिकत्व, इत्यादि धर्म तो गुण हैं और उन गुणों का तीनों काल में समय-समयवर्ती परिणमन होना पर्याय है, जो कि अनन्त हैं ।

और वस्तु में एकत्व-अनेकत्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, भेदत्व-अभेदत्व, शुद्धत्व-अशुद्धत्व आदि अनेक धर्म हैं। वे सामान्यरूप धर्म तो वचनगोचर हैं,

किन्तु अन्य विशेषरूप अनंत धर्म भी हैं, जो कि वचन के विषय नहीं हैं, किन्तु वे ज्ञानगम्य हैं। आत्मा भी वस्तु है, इसलिए उसमें भी अपने अनन्त धर्म हैं ।

आत्मा के अनन्तधर्मों में चेतनत्व असाधारण धर्म है, वह अन्य अचेतन द्रव्यों में नहीं है। सजातीय जीव द्रव्य अनंत हैं, उनमें भी यद्यपि चेतनत्व है, तथापि सबका चेतनत्व निजस्वरूप से भिन्न-भिन्न कहा है; क्योंकि प्रत्येक द्रव्य के प्रदेशभेद होने से वह किसी का किसी में नहीं मिलता ।

वह चेतनत्व अपने अनन्तधर्मों में व्यापक है, इसलिए उसे आत्मा का तत्त्व कहा है। उसे यह सरस्वती की मूर्ति देखती है और दिखाती है। इसप्रकार इसके द्वारा सर्व प्राणियों का कल्याण होता है, इसलिए 'सदा प्रकाशरूप रहो' इसप्रकार इसके प्रति आशीर्वादरूप वचन कहा है ।"

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के उक्त कथन से पाण्डे राजमलजी के कथन की तुलना करते हुए श्री कानजीस्वामी कहते हैं -

"पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा 'सरस्वती' शब्द में श्रुतज्ञान, केवलज्ञान और वाणी - इन तीनों को गर्भित कर लेते हैं, जबकि कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी अकेली वाणी को ही लेते हैं ।

यही तो वीतराग का अनेकान्त मार्ग है, जिस अपेक्षा कथन करना हो, वही लागू पड़ जाती है ।[१]

'पश्यन्ती' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने अनुभवशील लिया है तथा अनुभवशील का भाव यह बताया है कि वाणी सर्वज्ञानुसारिणी है अर्थात् उसका स्वभाव सर्वज्ञ के ज्ञानानुसार परिणमित होने का है । ...... पण्डित जयचन्दजी ने पश्यन्ती का अर्थ ऐसा किया है कि भावश्रुतज्ञान आत्मा को परोक्ष देखता है, केवलज्ञान आत्मा को प्रत्यक्ष देखता है और दिव्यध्वनि आत्मा को दिखाती है ।[२]

यहाँ कोई वितर्क करे कि वाणी तो अचेतन है, उसे नमस्कार क्यों किया?

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग १ पृष्ठ १८
२. वही, भाग १ पृष्ठ १९

इसका उत्तर कलशटीकाकार पाण्डे राजमलजी ने ऐसा दिया है कि वाणी सर्वज्ञानुसारिणी है। इसके सिवाय जीवादि पदार्थों के स्वरूप का ज्ञान कराने में वाणी निमित्त है। इसलिए वाणी के भी पूज्यपना है ।[१]"

सर्व परवस्तुओं से भिन्न, नैमित्तिक परभावों से भिन्न व अपने ही स्वरूप में तन्मय आत्मा प्रत्यगात्मा कहलाता है।[२] यहाँ अनेकान्तमयी सरस्वती को उक्त प्रत्यगात्मा की प्रतिपादक कहा गया है और उसके नित्य प्रकाशित रहने की कामना की गई है। तात्पर्य यह है कि प्रत्यगात्मारूप निज भगवान आत्मा की चर्चा-वार्ता, उसके स्वरूप का प्रतिपादन निरन्तर होते रहना चाहिए; क्योंकि इस प्रत्यगात्मा के स्वरूप की देशना ही आत्मार्थी जीवों को मुक्तिमार्ग में लगाने में निमित्त होती है ।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में देशनालब्धि का होना भी अनिवार्य है। उस देशनालब्धि का साधन सदा उपलब्ध रहे – यही भावना व्यक्त हुई है इस आशीर्वादरूप जिनवाणी की वंदना में ।

वैसे तो विद्यमान बीस तीर्थंकरों के माध्यम से अढाई द्वीप में निरन्तर ही इसप्रकार की देशना उपलब्ध रहती है, अतः अनेकान्तमयी मूर्ति नित्य प्रकाशित ही है; तथापि हम-तुम जैसे भव्यजीवों को भी प्रत्यगात्मा का उपदेश निरन्तर प्राप्त रहे, वह प्रत्यगात्मा हमारे ज्ञान का ज्ञेय निरन्तर बना रहे – यही मंगल आशीर्वाद दिया है आचार्यदेव ने हम सबको ।

शुद्धात्मा की प्रतिपादक जिनवाणी-गंगा का प्रवाह इस लोक में अविरल प्रवाहित होता रहे – इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने आत्मख्याति टीका लिखने का उपक्रम किया है, जिनवाणी-गंगा के अविरल प्रवाह में अपना योगदान दिया है। हम सभी का भी पावन कर्तव्य है कि आत्मकल्याण के प्रयास के साथ-साथ जिनवाणी-गंगा के प्रवाह में यथाशक्ति तन-मन-धन से योगदान करते रहें ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर, भाग १ पृष्ठ १९-२०

२. समयसार, सप्तदशांगी टीका, पृष्ठ ३-४

वीतरागी सर्वज्ञ परमात्मा की शुद्धात्मा की प्रतिपादक वीतरागवाणी हम सभी को निरन्तर प्राप्त रहे – इस मंगल कामना के बाद अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस आत्मख्याति टीका के प्रणयन का प्रयोजन स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

(मालिनी)

परपरिणतिहेतोर्मोहनाम्नोऽनुभावा –
दविरतमनुभाव्यव्याप्तिकल्माषितायाः ।
मम परमविशुद्धिः शुद्धचिन्मात्रमूर्ते –
र्भवतु समयसारव्याख्ययैवानुभूतेः ॥ ३ ॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ।
परमविशुद्धी को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से ॥ ३ ॥

यद्यपि मैं तो शुद्ध चिन्मात्रमूर्ति भगवान आत्मा हूँ; तथापि परपरिणति का मूल कारण जो मोह नामक कर्म है, उसके उदय का निमित्त पाकर मेरी परिणति वर्तमान में मैली हो रही है, कल्माषित हो रही है। समयसार की इस आत्मख्याति नामक व्याख्या से, टीका से मेरी वह परिणति परमविशुद्धि को प्राप्त हो। यही मेरी मंगल भावना है ।

आचार्यदेव की परिणति तीन कषाय का अभाव होने से विशुद्ध तो है ही, पर अभी ऐसी परमविशुद्धि नहीं है कि जिसके फल में केवलज्ञान की प्राप्ति हो; अभी संज्वलन कषाय सम्बन्धी मलिनता विद्यमान है। यही कारण है कि वे विशुद्धि की नहीं, परमविशुद्धि की कामना करते हैं। अन्य किसी भी प्रकार की लौकिक कामना आचार्यदेव के हृदय में नहीं है, जिसकी प्रेरणा से वे यह टीका लिखने को उद्यत हुए हों। उनकी तो एकमात्र यही कामना है कि जब उनका उपयोग शुभभाव में रहे, तब वे एकमात्र समयसार की विषयवस्तु का ही चिन्तन-मनन करते रहें ।

इस छन्द में प्रकारान्तर से आचार्यदेव ने समयसार की व्याख्या लिखने का संकल्प भी व्यक्त किया है, प्रतिज्ञा भी की है और यह भी स्पष्ट कर दिया है कि मेरा अपनापन तो अन्तर में विराजमान शुद्धतत्त्व में ही है। इसीलिए वे जोर देकर कहते हैं कि मैं तो शुद्धचैतन्यमात्रमूर्ति हूँ, मुझमें तो कुछ विकृति है ही नहीं। हाँ, पर्याय में पर्यायगत योग्यता के कारण एवं मोहोदय के निमित्त से कुछ मलिनता है; वह भी इस समयसार की व्याख्या से समाप्त हो जावे; क्योंकि व्याख्या के काल में मेरा जोर तो त्रिकाली स्वभाव पर ही रहना है ।

आचार्यदेव के हृदय में कोई पापभावरूप मलिनता तो है नहीं; यही टीका लिखने, उपदेश देने आदि शुभभावरूप मलिनता ही है और वे उसका ही नाश चाहते हैं। तथा वे अच्छी तरह जानते हैं कि टीका करने के भाव से, टीका करने के भावरूप मलिनता समाप्त नहीं होगी। पर वे यह भी जानते हैं कि अन्तर में तीन कषाय के अभावरूप निर्मलता है, मिथ्यात्व के अभाव से पर में से अपनापन टूट गया है और अपने त्रिकाली ध्रुव आत्मा में ही अपनापन आ गया है; उसके वल से, आत्मा की रुचि की तीव्रता से, निश्चित ही इस विकल्प का भी नाश होगा और शुद्धोपयोग में उपयोग चला जायगा ।

दूसरे कलश में उन्होंने यह भावना व्यक्त की थी कि जिनवाणी का प्रवाह निरन्तर चलता रहे, जिनवाणी नित्य ही प्रकाशित रहे। यह भावना तो उत्तम है, पर शुद्धोपयोग रूप तो नहीं है। वस आचार्यदेव को तो यही मलिनता भासित होती है और मानो उसके नाश के लिए शुद्धात्मा के जोरवाले शास्त्र की टीका लिखने का भाव उन्हें आया है ।

प्रकारान्तर से आचार्यदेव यह भी वताना चाहते हैं कि समयसार का पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना, उसकी टीका करना, गहराई से अध्ययन करना, मनन करना; उसकी विषयवस्तु का परिचय प्राप्त करना, घोलन करना परमविशुद्धि का कारण है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस कलश के माध्यम से स्वयं की वर्तमान पर्याय की स्थिति का ज्ञान भी कराना चाहते हैं और जिनवाणी के अध्ययन-मनन करने की, स्वाध्याय करने की प्रेरणा भी देना चाहते हैं। अतः मानों वे कह रहे हैं कि हे भव्यजीवों ! तुम इसका अध्ययन करो, मनन करो, पठन-पाठन करो, इसकी विषयवस्तु को जन-जन तक पहुँचाओ; तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा । •

रुचि अनुयायीवीर्य

हमें आध्यात्मिक ग्रंथों के स्वाध्याय की वैसी रुचि भी कहाँ है जैसी कि विषय-कषाय और उसके पोषक साहित्य पढ़ने की है। ऐसे बहुत कम लोग होंगे, जिन्होंने किसी आध्यात्मिक, सैद्धान्तिक या दार्शनिक ग्रन्थ का स्वाध्याय आद्योपान्त किया हो। साधारण लोग तो बँधकर स्वाध्याय करते ही नहीं, पर ऐसे विद्वान भी बहुत कम मिलेंगे, जो किसी भी महान ग्रन्थ का जमकर अखण्डरूप से स्वाध्याय करते हों। आदि से अन्त तक अखण्डरूप से हम किसी ग्रन्थ को पढ़ भी नहीं सकते तो फिर उसकी गहराई में पहुँच पाना कैसे संभव है ? जब हमारी इतनी भी रुचि नहीं कि उसे अखण्डरूप से पढ़ भी सकें तो उसमें प्रतिपादित अखण्ड वस्तुस्वरूप हमारे ज्ञान और प्रतीति में कैसे आवे ?

विषय-कषाय के पोषक उपन्यासादि को हमने कभी अधूरा नहीं छोड़ा होगा, उसे पूरा करके ही दम लेते हैं; उसके पीछे भोजन को भी भूल जाते हैं। क्या आध्यात्मिक साहित्य के अध्ययन में भी कभी भोजन को भूले हैं ? यदि नहीं, तो निश्चित समझिये हमारी रुचि अध्यात्म में उतनी नहीं, जितनी विषय-कषाय में है ।

'रुचि अनुयायी वीर्य' के नियमानुसार हमारी सम्पूर्ण शक्ति वहीं लगती है, जहाँ रुचि होती है। स्वाध्यायतप के उपचार को भी प्राप्त करने के लिए हमें आध्यात्मिक साहित्य में अनन्यरुचि जागृत करनी होगी ।

— धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १११

समयसार गाथा १

आत्मख्याति के मंगलाचरण के वाद अव आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार की मूल गाथाएँ आरम्भ होती हैं। सर्वप्रथम मंगलाचरण की गाथा है। उसकी उत्थानिका लिखते हुए आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि 'अथ सूत्रावतार – अव सूत्र का अवतार होता है।' आचार्य अमृतचन्द्र के हृदय में समयसार की कितनी महिमा है – यह वात उनके इस कथन में झलकती है ।

लोक में 'अवतार' शव्द वहुत महिमावंत शव्द है। यह शव्द लोककल्याण के लिए भगवान के अवतरण के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यहाँ समयसार की मूल गाथाओं के लिए उक्त शव्द का प्रयोग करके आचार्य अमृतचन्द्र उन गाथाओं के लोककल्याणकारी स्वरूप को स्पष्ट करना चाहते हैं। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द की इन गाथाओं में लोक के परमकल्याण की वात ही आने वाली है ।

समयसार के मंगलाचरण की मूल गाथा इसप्रकार है –

वंदित्तु सव्वसिद्धे धुवमचलमणोवमं गदिं पत्ते ।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवलीभणिदं ॥१॥

(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्वपर हित ।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥१॥

मैं ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त हुए सभी सिद्धों को नमस्कार कर श्रुतकेवलियों द्वारा कहे गये इस समयसार नामक प्राभृत को कहूँगा ।

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों को नमस्कार करके श्रुतकेवलियों द्वारा कथित समयसार नामक ग्रंथाधिराज वनाने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

इस गाथा का भाव आचार्य अमृतचन्द्रदेव आत्मख्याति में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"यह पंचमगति (सिद्धदशा) स्वभाव के आलम्बन से उत्पन्न हुई होने से ध्रुव है, अनादिकालीन परिभ्रमण का अभाव हो जाने से अचल है और उपमा देने योग्य जगत के सम्पूर्ण पदार्थों से विलक्षण होने एवं अद्‌भुत महिमा की धारक होने से अनुपम है ।

धर्म, अर्थ और काम – इस त्रिवर्ग से भिन्न होने के कारण अपवर्ग है नाम जिसका, ऐसी पंचमगति को प्राप्त सर्वसिद्धों को; जो मेरे आत्मा की साध्यदशा के स्थान पर हैं अर्थात् जैसा मुझे बनना है, जो मेरा आदर्श है, उसके स्थान पर हैं; उन सर्वसिद्धों को भावस्तुति और द्रव्यस्तुति के माध्यम से अपने और पर के आत्मा में स्थापित करके; सर्वपदार्थों को साक्षात् जाननेवाले केवलियों द्वारा प्रणीत, अनादिनिधन श्रुत द्वारा प्रकाशित, स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियों द्वारा कथित होने से प्रमाणता को प्राप्त; सर्वपदार्थों या शुद्धात्मा का प्रकाशक एवं अरहंत भगवान के प्रवचनों का अवयव है जो – ऐसे इस समयसार नामक ग्रन्थ का अपने और पराये अनादिकालीन मोह के नाश के लिए भाववचन और द्रव्यवचन के माध्यम से परिभाषण आरम्भ किया जाता है ।"

चारों ही गतियाँ परपदार्थों के अवलम्वन से उत्पन्न होती हैं, इसकारण अध्रुव हैं, विनाशीक हैं; पर पंचमगति सिद्धदशा स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होती है; अतः ध्रुव है, अविनाशी है, सदा एक-सी रहनेवाली है ।

यद्यपि परिवर्तन तो सिद्धदशा में भी होता है, पर वह परिवर्तन सदा एक-सा ही होता है, सुखरूप ही होता है; इसकारण इसे ध्रुव कहा है। सदा एकरूप ही रहनेवाले ध्रुव स्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होने के कारण सिद्धदशा सदा एक-से आनन्दरूप ही रहती है, शान्तिरूप ही रहती है। पर अनेक रूप धारण करनेवाले परपदार्थों के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण चारों गतियों रूप संसार दशा सांसारिक दुःख-सुखरूप होती रहती है, बदलती रहती है।

सांसारिक सुख भी दुखरूप ही है, तथा दुःखों का रूप भी बदलता रहता है। इसकारण संसार दशा अध्रुव है, चारों गतियाँ अध्रुव है ।

ध्रुवस्वभाव अलग है और ध्रुवस्वभाव के अवलम्बन से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय अलग है। ध्रुवस्वभाव तो सदा एकरूप ही रहता है, परन्तु ध्रुवस्वभाव के आश्रय से उत्पन्न होनेवाली ध्रुवपर्याय सदा एकरूप नहीं रहती, किन्तु एक-सी रहती है। स्वभाव की ध्रुवता एकरूप रहना है और पर्याय की ध्रुवता एक-सी रहना है। यहाँ पर्याय की ध्रुवता की बात है ।

त्रिकाली ध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा को अनुभूतिपूर्वक जानना, निज जानना और उसमें ही अपनापन स्थापित होना, उसका ही ध्यान करना, उसमें ही लीन हो जाना ही ध्रुवस्वभाव का अवलम्बन है, आश्रय है। इसप्रकार के अवलम्बन से ही ध्रुवपर्याय प्रगट होती है, सिद्धदशा प्रगट होती है ।

अनादिकाल से इस आत्मा ने निज भगवान आत्मा को तो कभी जाना ही नहीं; मात्र परपदार्थों, उनके भावों और उनके निमित्त से अपने आत्मा में उत्पन्न होनेवाली विकारी पर्यायों को ही जाना-माना है, उनमें ही अपनापन स्थापित किया है और उनका ही ध्यान किया है, तथा यह आत्मा उनमें ही रचा-पचा रहा है ।

बस यही पर का आलम्बन है, पर का आश्रय है और इससे ही अनन्त दुःख है। पंचमगति में पर का अवलम्बन छूट गया है, एकमात्र त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का अवलम्बन रह गया है; यही कारण है कि सिद्धदशा सुखमयदशा है, शान्तिमयदशा है, ध्रुवदशा है ।

अनादिकाल से यह भगवान आत्मा चार गति और चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण कर रहा है। परभावों के निमित्त से होनेवाले इस परिभ्रमण के रुक जाने से पंचमगति अचलता को प्राप्त हो गई है ।

चारों ही गतियाँ दुखमय हैं और यह पंचमगति सुखमय है। जगत में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है कि जिससे इसकी उपमा दी जा सके; क्योंकि जगत

में जितने भी पदार्थ उपमा देने योग्य हैं, यह पंचमगति उन सबसे विलक्षण है, अद्‌भुत महिमावाली है; इसीकारण इसे अनुपम कहा गया है ।

ध्रुव विशेषण से विनाशीकपने का, अचल विशेषण से परिभ्रमण का एवं अनुपम विशेषण से चारों गतियों में पाई जानी वाली कथंचित् समानता का निषेध – व्यवच्छेद इस पंचमगति में हो गया ।

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में अचल के स्थान पर पाठान्तर के रूप में अमल पद भी दिया है और अचल पद के साथ-साथ अमल पद की भी व्याख्या दी है, जो इसप्रकार है –

"भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म रूपी मल से रहित एवं शुद्धस्वभाव सहित होने से पंचमगति अमल है ।"

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष – इन चार पुरुषार्थों में से धर्म, अर्थ और काम – इनको त्रिवर्ग कहते हैं। इन तीनों से भिन्न होने से, विलक्षण होने से मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं। इस अविनाशी, अविचल, अमल, अनुपम और अपवर्ग गति को प्राप्त सभी सिद्ध परमात्माओं को नमस्कार कर आचार्य कुन्दकुन्ददेव इस समयप्राभृत शास्त्र को रचने की प्रतिज्ञा करते हैं ।

सर्वसिद्धों को नमस्कार करने के हेतु को स्पष्ट करते हुए टीकाकार अमृतचन्द्र कहते हैं कि 'वे सिद्ध भगवान सिद्धत्व के कारण साध्य जो आत्मा, उसके प्रतिच्छन्द के स्थान पर हैं ।' इसी को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं कि 'जिनके स्वरूप का संसारी भव्यजीव चिन्तवन करके, उनके समान अपने स्वरूप को ध्याकर, उन्हीं के समान हो जाते हैं और चारों गतियों से विलक्षण पंचमगति को प्राप्त करते हैं ।'

प्रवचनसार की ८०वीं गाथा में कहा गया है कि 'जो अरहंत भगवान को द्रव्यरूप से, गुणरूप से एवं पर्यायरूप से जानते हैं, वे अपने आत्मा को जानते हैं; और उससे उनका मोह नाश को प्राप्त होता है।' यहाँ भी यही बात कही जा रही है कि 'सिद्धों के स्वरूप का चिन्तवन कर, उन्हीं के समान अपने रूप को ध्याकर, संसारी जन उन्हीं के समान हो जाते हैं ।'

जो सिद्धपद हमारे लिए साध्य है, वह सिद्धपद जिन्होंने प्राप्त कर लिया है; वे सिद्ध भगवान हमारे आदर्श हैं, क्योंकि हमें उन जैसा ही बनना है ।

यहाँ उन्हीं सिद्ध भगवान को द्रव्य व भाव स्तुति के माध्यम से स्वयं के व पाठकों के आत्मा में स्थापित करके इस समयसार ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा की गई है ।

द्रव्यस्तुति और भावस्तुति का स्वरूप स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"मन, वाणी, देह तथा शुभाशुभ वृत्ति से मैं भिन्न हूँ; इसप्रकार शुद्धात्मा की ओर उन्मुख होकर तथा रागवृत्ति से हटकर अंतरंग में स्थिर होना सो भावस्तुति है। शेष शुभभावरूप स्तुति करना सो द्रव्यस्तुति है ।[१]

'मैं पूर्ण ज्ञानघन एवं स्वभाव से निर्मल हूँ' – ऐसे भावसहित रागादि को विस्मरण करके रागरहित भगवान आत्मा को अपने लक्ष में लेकर अंतरंग में स्थिर होना सो अंतरंग एकाग्रता अर्थात् भाववंदना है। शुभलक्षी भक्तिभाव द्रव्यस्तुति अर्थात् द्रव्यवंदना है ?[२]"

आचार्य जयसेन ने तात्पर्यवृत्ति टीका में 'वंदित्तु' पद की व्याख्या इसप्रकार की है –

"निश्चयनय से अपने में ही आराध्य-आराधक भाव होने से निर्विकल्पसमाधि है लक्षण जिसका – ऐसे भावनमस्कार द्वारा एवं व्यवहार से वचनात्मक द्रव्यनमस्कार के द्वारा वंदना करके ..... ।"

आचार्य कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र एवं जयसेन सभी छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका में झूलने वाले भावलिंगी सन्त थे। छठवें गुणस्थान का उत्कृष्ट काल भी अन्तर्मुहूर्त ही होता है। इसकारण वे हर अन्तर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान में जाते ही थे। यही उनके द्वारा किया गया भावनमस्कार है,

---

१. समयसार प्रवचन : प्रथम भाग, पृष्ठ २९
२. वही, पृष्ठ ३३

भावस्तुति है और इस गाथा में जो शब्दों में नमस्कार किया गया है; वही द्रव्यनमस्कार है, द्रव्यस्तुति है ।

उक्त भावस्तुति और द्रव्यस्तुति के माध्यम से ही आचार्यदेव अपने और पाठकों के आत्मा में सिद्धों की स्थापना करना चाहते हैं। वे इस ग्रन्थाधिराज का प्रणयन सिद्धों की साक्षीपूर्वक करना चाहते हैं और पाठकों से भी अपेक्षा रखते हैं कि वे भी अपने हृदय में सिद्धों की स्थापना करके इस ग्रंथाधिराज का स्वाध्याय करें ।

जगत में भी जब कोई महान काम किया जाता है तो लोकमान्य पुरुषों को साक्षी बनाकर ही किया जाता है। शादी जैसे कार्य को भी लोग देव-शास्त्र-गुरु की परोक्ष साक्षी और पंचों की प्रत्यक्ष साक्षी पूर्वक करते हैं। यही कारण है कि आत्महितकारी इस महान ग्रन्थाधिराज के प्रणयन में आचार्यदेव सर्वसिद्धों को साक्षी बनाना चाहते हैं ।

'सिद्ध समान सदा पद मेरो' की सूक्ति के अनुसार सभी आत्मा सिद्ध समान तो हैं ही और प्रत्येक आत्मार्थी का अन्तिम साध्य भी सिद्ध दशा ही है। यही कारण है कि इस परम मंगलमय प्रसंग पर वे अपने और पाठकों के आत्मा में सिद्धत्व की स्थापना करके इस महान कार्य का आरम्भ करते हैं ।

'श्रुतकेवली' शब्द की व्युत्पत्ति आचार्य जयसेन इसप्रकार करते हैं –

"श्रुते परमागमे केवलिभिः सर्वज्ञैर्भणितं श्रुतकेवलिभणितं अथवा श्रुतकेवलिभणितं गणधरदेवकथितमिति ।"

श्रुते माने परमागम में जो केवलियों – सर्वज्ञों ने कहा है, उसे ही श्रुतकेवलिभणित कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार तो 'सुदकेवलीभणिदं' पद का अर्थ 'सर्वज्ञदेव द्वारा परमागम में कहा गया' यह ही होता है। दूसरे सभी गणधर द्वादशांग के पाठी होते हैं, अतः श्रुतकेवली होते हैं। वस्तुतः गणधरदेव ही तो द्वादशांग रूप सर्वश्रुत की रचना करते हैं। इसकारण दूसरे अर्थ में आचार्य जयसेन द्वारा 'गणधरदेव द्वारा कथित' अर्थ लिया गया है ।

तात्पर्य यह है कि यह परमागम शास्त्र सर्वज्ञों और गणधरों की वाणी के अनुसार ही लिखा गया है।

आचार्य अमृतचन्द्र इसे और भी अधिक विस्तार देते हैं। वे कहते हैं –

"सर्वपदार्थों को साक्षात् जाननेवाले केवलियों द्वारा प्रणीत, अनादिनिधन श्रुत द्वारा प्रकाशित, स्वयं अनुभव करनेवाले श्रुतकेवलियों द्वारा कथित, सर्वपदार्थों और शुद्धात्मा का प्रकाशक, अरहंत भगवान के प्रवचनों का अवयव – यह समयसार नामक ग्रन्थ मेरे द्वारा आरम्भ किया जाता है ।"

श्रुतकेवली शब्द में जयसेन ने अकेले गणधरदेव ही लिए हैं, जबकि अमृतचन्द्र ने सभी श्रुतकेवली ले लिए हैं; अतः उसमें अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु तक की सम्पूर्ण परम्परा आ जाती है ।

उक्त सम्पूर्ण-कथन ग्रन्थ की प्रामाणिकता को स्पष्ट करने के लिए ही किया गया है। आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपनी ओर से कुछ भी कहने वाला नहीं हूँ। इस समयसार में मैं जो कुछ भी कहूँगा, वह सब वस्तुस्वरूप के अनुरूप तो होगा ही, सर्वज्ञ परमात्मा की दिव्यध्वनि के अनुसार भी होगा, गणधरदेव रचित द्वादशांग के अनुसार भी होगा, शुद्धात्मा और सम्पूर्ण पदार्थों के सही स्वरूप को प्रकाशित करने वाला ही होगा ।

यह काम मैं स्व-पर के कल्याण के लिए ही कर रहा हूँ। वह स्व-पर का कल्याण भी कोई लौकिक प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला नहीं है अर्थात् अनादिकालीन मोह के नाश के लिए ही यह उपक्रम है ।

यहाँ एक प्रश्न सम्भव है कि शिष्यों के तो अनादिकालीन दर्शनमोह और चारित्रमोह का होना सम्भव हो सकता है; पर आचार्यदेव तो मोहरहित ही हैं, वे तो वीतरागी भावलिंगी संत हैं; उनके मोह का होना कैसे सम्भव है ? जिसके नाश के लिए वे यह उपक्रम कर रहे हैं ।

भाई, आचार्यदेव भी अभी पूरी तरह निर्मोही कहाँ हुए हैं ? हो गये होते तो वे वीतरागी-सर्वज्ञ हो गये होते; उनके भी संज्वलन सम्बन्धी चारित्रमोह

विद्यमान है। अतः यहाँ जिसके जितना और जिसप्रकार का मोह है, उसे ही लेना चाहिए। मिथ्यादृष्टि जीवों के दर्शनमोह और चारित्रमोह दोनों प्रकार के मोह के नाश की बात लेनी चाहिए एवं चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टियों के मात्र चारित्रमोह के नाश की बात लेनी चाहिए; इसीप्रकार पंचमगुणस्थान वालों के शेष दो कषायरूप चारित्रमोह के नाश की बात लेनी चाहिए और मुनिराजों के मात्र संज्वलन कषाय के नाश की बात लेनी चाहिए ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने मंगलाचरण के तीसरे छन्द में इस ग्रन्थ की टीका करने से अपने चित्त की परमविशुद्धि की कामना ही की है। वही बात वे यहाँ टीका में आचार्य कुन्दकुन्द की ओर से कह रहे हैं ।

भाई, देखो तो आचार्यदेव कह रहे हैं कि यह शास्त्र अरहंत भगवान के प्रवचनों का अवयव है, भगवान की दिव्यध्वनि का अंश है। यह कोई साधारण पुस्तक नहीं है, यह तो केवली भगवान की वाणी का अवयव है, अंश है। अतः इसे केवली भगवान की वाणी के समान आदर देकर ही पढ़ना चाहिए। जब ऐसा करोगे, तभी इसके स्वाध्याय से पूरा लाभ प्राप्त होगा ।

अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि भाववचन और द्रव्यवचन से इसका परिभाषण आरम्भ किया जाता है ।

भाववचन और द्रव्यवचन को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"आचार्यदेव कहते हैं कि मेरी ज्ञानपर्याय भाववचन है और विकल्पपूर्वक जो वाणी निकलती है, वह द्रव्यवचन है। ज्ञानपर्याय में प्रतिसमय वृद्धि होती है और शब्द की रचना शब्द के कारण होती है। यहाँ दोनों का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है ।[१]"

'वोच्छामि' शब्द का अर्थ हिन्दी वचनिकाकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसी गाथा के भावार्थ में इसप्रकार करते हैं –

"गाथा सूत्र में आचार्यदेव ने 'वक्ष्यामि' कहा है। उसका अर्थ टीकाकार ने 'वच परिभाषणे' धातु से परिभाषण किया है। उसका आशय इसप्रकार

---

१. आत्मधर्म (हिन्दी), अक्टूबर १९७६, पृष्ठ १८

सूचित होता है कि – चौदह पूर्वों में से ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व में बारह वस्तु अधिकार हैं; उनमें भी एक-एक के बीस-बीस प्राभृत अधिकार हैं। उनमें से दसवें वस्तु में समय नामक जो प्राभृत है, उसके मूल सूत्रों के शब्दों का ज्ञान पहले बड़े आचार्यों को था और उसके अर्थ का ज्ञान आचार्यों की परिपाटी के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव को भी था। उन्होंने समयप्राभृत का परिभाषण किया – परिभाषा सूत्र बनाये ।

सूत्र की दस जातियाँ कही गई हैं, उनमें से एक परिभाषा जाति भी है। जो अधिकार को अर्थ के द्वारा यथास्थान सूचित करे, वह परिभाषा कहलाती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव समयसार का परिभाषण करते हैं अर्थात् वे समयप्राभृत के अर्थ को ही यथास्थान बतानेवाला परिभाषा सूत्र रचते हैं ।''

इसप्रकार यह स्पष्ट है कि यह समयसार नामक ग्रन्थाधिराज तीर्थंकर भगवान महावीर की दिव्यध्वनि में समागत, गौतमादि गणधरों द्वारा रचित एवं भद्रबाहुपर्यन्त सभी श्रुतकेवलियों द्वारा कथित द्वादशांग के बारहवें अंग के ज्ञानप्रवाद नामक पांचवें पूर्व के दसवें वस्तु अधिकार के समय नामक प्राभृत के अनुसार लिखा गया है ।

इस ग्रन्थाधिराज समयसार का मूल प्रतिपाद्य भगवान आत्मा का शुद्ध स्वरूप है; अतः वह अभिधेय हुआ। इस ग्रन्थ में जिन पदों का, शब्दों का प्रयोग किया गया है, वे सभी पद शुद्धात्मा के प्रतिपादक हैं। अतः उन पदों और शुद्धात्मा में वाचक-वाच्य संबंध है, प्रतिपादक-प्रतिपाद्य संबंध है और शुद्धात्मा की प्राप्ति ही मूल प्रयोजन है ।

इसप्रकार इस ग्रन्थ के अभिधेय, संबंध और प्रयोजन तो स्पष्ट ही हैं ।

इसप्रकार इस पहली गाथा में आचार्य कुन्दकुन्ददेव ध्रुव, अचल, अमल और अनुपम गति को प्राप्त सर्वसिद्धों की वंदना कर केवली और श्रुतकेवलियों द्वारा कथित समयसार नामक ग्रन्थ को लिखने की प्रतिज्ञा करते हैं । •

समयसार गाथा २

प्रथम गाथा में समयप्राभृत कहने की प्रतिज्ञा की गई है, समयसार लिखने की प्रतिज्ञा की गई है। अतः यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि समय क्या है ? इसलिए अब आचार्यदेव सर्वप्रथम समय का स्वरूप ही स्पष्ट करते हैं ।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण ।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं ॥२॥

(हरिगीत)

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्व-समय ।
जो कर्म पुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय ॥२॥

जो जीव दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में स्थित है; उसे स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित है; उसे परसमय जानो ।

स्वभाव में स्थित जीव स्वसमय है और परभाव में स्थित जीव परसमय है। स्वसमय और परसमय दोनों अवस्थाओं में व्यापक प्रत्यगात्मा समय है ।

मूल गाथा में तो स्वसमय और परसमय को ही परिभाषित किया गया है, पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन पहले समय का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, उसके बाद स्वसमय और परसमय को समझाते हैं ।

'समय' शब्द का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''समय शब्द 'सम' उपसर्गपूर्वक 'अय' धातु से बना है। 'अय' का अर्थ गमन भी होता है और ज्ञान भी होता है। 'सम्' का अर्थ 'एकसाथ' होता है। इसप्रकार जिस वस्तु में एक ही काल में जानना और परिणमन करना – ये दोनों क्रियायें पाई जावें, वह ही समय है। चूंकि जीव प्रतिसमय जानता भी है और परिणमन भी करता है; अतः जीव नामक पदार्थ ही समय है ।

वह समय नामक जीव पदार्थ परिणमनशील होने से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतारूप अनुभूति लक्षणवाली सत्ता से युक्त है; चैतन्यस्वभावी होने से नित्य उद्योतरूप निर्मल दर्शन-ज्ञान ज्योतिस्वरूप है; अनन्तधर्मों के अधिष्ठातारूप एकधर्मी होने से जिसका द्रव्यत्व प्रगट है; क्रम और अक्रम से प्रवत्त होनेवाले विचित्र स्वभाव को धारण करनेवाला होने से जो गुण-पर्याय वाला है। स्व-पर के प्रकाशन में समर्थ होने से समस्त पदार्थों को प्रकाशित करनेवाली एकरूपता प्राप्त की है जिसने; अन्यद्रव्यों के जो विशेष गुण हैं, ऐसे अवगाहनहेतुत्व, गतिहेतुत्व, स्थितिहेतुत्व, वर्तनाहेतुत्व और रूपित्व के अभाव से एवं असाधारण चैतन्यरूप के सद्भाव से आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल – इन पांचों द्रव्यों से जो अत्यन्त भिन्न है; वह जीव नामक पदार्थ अनन्त अन्यद्रव्यों से अत्यन्त एकक्षेत्रावगाहरूप से संबंधित होने पर भी अपने स्वरूप से न छूटने के कारण टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावरूप है ।

ऐसा जीव नामक पदार्थ ही समय है ।

जब यह समय (जीव) सब पदार्थों को प्रकाशन करने में समर्थ केवलज्ञान को उत्पन्न करनेवाली भेदविज्ञानज्योति के उदय होने से सभी परद्रव्यों से अपनापन तोड़कर, अपने दर्शन-ज्ञान स्वभाव में है नियतवृत्ति जिसकी, ऐसे आत्मतत्त्व में एकाकार होकर प्रवृत्ति करता है; तब दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होने से अपने स्वरूप को एकत्वरूप से एक ही समय में जानता तथा परिणमता हुआ स्वसमय कहलाता है ।

जब यह समय (जीव) अनादि अविद्यारूपी केले के मूल की गांठ के समान परिपुष्ट मोह के उदयानुसार प्रवृत्ति की अधीनता से दर्शन-ज्ञान स्वभाव में नियतवृत्ति रूप आत्मतत्त्व से अपनापन तोड़कर परद्रव्य के निमित्त से उत्पन्न मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकतारूप से लीन होकर प्रवृत्त होता है, तब पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने से युगपद् ही पर में एकाकार होकर जानता और परिणमता हुआ परसमय कहलाता है ।

इसप्रकार इस समय (जीव) की स्वसमय और परसमय – यह द्विविधता (दो पना) प्रगट होती है ।"

यहाँ समय का स्वरूप सात विशेषणों के माध्यम से स्पष्ट किया गया है। वह समय नामक जीव पदार्थ –

(१) उत्पाद-व्यय-ध्रुव युक्त सत्ता सहित है ।

(२) ज्ञान-दर्शनस्वरूप चैतन्यस्वभावी है ।

(३) अनन्तधर्मात्मक एक अखण्ड द्रव्य है ।

(४) अक्रमवर्ती गुणों एवं क्रमवर्ती पर्यायों से युक्त है ।

(५) स्व-परप्रकाशक सामर्थ्य से युक्त होने से अनेकाकार होने पर भी एकरूप है ।

(६) अपने असाधारण चैतन्यस्वभाव के सद्भाव एवं परद्रव्यों के विशेष गुणों के अभाव के कारण परद्रव्यों से भिन्न है ।

(७) परद्रव्यों से एक क्षेत्रावगाहरूप से अत्यन्त मिला हुआ होने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होने के कारण टंकोत्कीर्ण चित्स्वभावी है ।

यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ परद्रव्यों और उनके गुण-पर्यायों से अत्यन्त भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वभावी, उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से सहित, गुण-पर्यायवान, स्व-परप्रकाशक, अनन्तधर्मात्मक, टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य है ।

यहाँ प्रमाण के विषयभूत जीवद्रव्य को लिया गया है; द्रव्यार्थिकनय के विषय या दृष्टि के विषयरूप जीवतत्त्व को नहीं। उसकी चर्चा तो छठवीं-सातवीं एवं चौदहवीं-पन्द्रहवीं गाथा में आयेगी ।

यहाँ तो पर से भिन्न और अपने गुण-पर्यायों से अभिन्न जीवतत्त्व की बात चल रही है, क्योंकि यह जीव की द्विविधता की बात है। जिस जीव में द्विविधता आती है, वह जीव तो गुण-पयार्यवाला जीव ही हो सकता है;

परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत जीव तो एकरूप ही होता है, उसमें तो द्विविधता (दो पना) संभव ही नहीं है ।

यहाँ जो जीवद्रव्य के विशेषण दिये गये हैं, उनसे जैनदर्शन में मान्य ज़ीव का स्वरूप स्पष्ट होता है और अन्य कथित मान्यताओं का निराकरण भी होता है ।

आत्मा 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य सहित है' - इस विशेषण से आत्मा की सत्ता न मानने वाले नास्तिकों, आत्मा को सर्वथा अपरिणामी माननेवाले सांख्यों, सत्ता को सर्वथा नित्य माननेवाले नैयायिक और वैशेषिकों तथा सर्वथा क्षणिक माननेवाले बौद्धों का निराकरण हो गया ।

'आत्मा स्व-परप्रकाशक है' - इस विशेषण से ज्ञान अपने को ही जानता है, पर को नहीं; इसप्रकार एकाकार को ही माननेवालों का तथा ज्ञान पर को ही जानता है, अपने को नहीं; इसप्रकार अनेकाकार को ही माननेवालों का निराकरण हो गया ।

'यह भगवान आत्मा धर्मादि अन्य द्रव्यों से भिन्न है' - इस विशेषण से एक ब्रह्मवस्तु को ही माननेवालों का निराकरण हो गया ।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा उक्त कथन के सार को इसी गाथा के भावार्थ में इसप्रकार लिखते हैं :-

"जीव नामक वस्तु को पदार्थ कहा है। 'जीव' इसप्रकार अक्षरों का समूह 'पद' है और उस पद से जो द्रव्य-पर्यायरूप अनेकान्तस्वरूपता निश्चित की जाये, वह पदार्थ है ।

यह जीव पदार्थ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमयी सत्तास्वरूप है, दर्शन-ज्ञानमयी चेतनास्वरूप है, अनन्तधर्मस्वरूप द्रव्य है, द्रव्य होने से वस्तु है, गुण-पर्यायवान है, उसका स्व-परप्रकाशक ज्ञान अनेकाकाररूप एक है और वह जीवपदार्थ आकाशादि से भिन्न असाधारण चैतन्य-गुणस्वरूप है तथा अन्य द्रव्यों के साथ एकक्षेत्र में रहने पर भी अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता। ऐसा ज़ीव नामक पदार्थ समय है ।

जब वह अपने स्वभाव में स्थित हो, तब स्वसमय है और जब परस्वभाव राग-द्वेष-मोहरूप होकर रहे, तब परसमय है ।

इसप्रकार जीव के द्विविधता आती है ।''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि मूल गाथा में तो स्वसमय और परसमय की ही चर्चा की है, उन्हें ही परिभाषित किया है; समय की तो बात ही नहीं की; पर टीका में मुख्यरूप से समय की बात की जा रही है। इसका क्या कारण है ?

आचार्य कुन्दकुन्ददेव प्रमाण के विषयभूत समय नामक जीवद्रव्य का कथन पंचास्तिकाय और प्रवचनसार नामक ग्रन्थ में विस्तार से कर चुके हैं; अतः यहाँ उसका विवेचन उन्हें अभीष्ट नहीं है। इस ग्रन्थराज में तो वे द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत आत्मद्रव्य का स्वरूप बताना चाहते हैं। यही कारण है कि उन्होंने ग्रन्थ का नाम समयसार रखा है। समय माने पर से पृथक् गुण-पर्यायवाला जीवद्रव्य, प्रमाण का विषयरूप जीव-द्रव्य; और समयसार का अर्थ होता है पर और पर्याय से पृथक् त्रिकाली ध्रुव आत्मवस्तु। समय के साथ सार लग जाने से पर्याय का निषेध हो जाता है ।

अब रही यह बात कि जब आचार्य कुन्दकुन्द ने समय का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया तो उसी गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र समय के स्वरूप को इतने विस्तार से क्यों स्पष्ट कर रहे हैं ।

अरे भाई ! विस्तार से कहाँ, संक्षेप में ही तो समझाया है। पंचास्तिकाय एवं प्रवचनसार के विस्तृत विवेचन को मात्र छह-सात पंक्तियों में समेट कर ही तो वात की है। आचार्य अमृतचन्द समय अर्थात् आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर देना चाहते हैं, स्मरण करा देना चाहते हैं; जिससे पाठकों को समय के सन्दर्भ में समयसार समझाया जा सके ।

स्वसमय और परसमय - ये दो भेद समय के हैं, समयसार के नहीं। तात्पर्य यह है कि गुण-पर्यायवान जीवद्रव्य ही स्वसमय और परसमय में विभक्त होता है, विभाजित होता है; समयसाररूप शुद्धात्मा तो अविभक्त है,

उसके तो कोई भेद होते ही नहीं हैं। स्वसमय और परसमय के भेद पर्याय की ओर से किये गए भेद ही हैं; अतः पर्याय सहित आत्मा के ही हो सकते हैं ।

उनकी परिभाषाओं से ही यह वात स्पष्ट होती है कि जव यह समय नामक जीव पदार्थ दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होता है, तव स्वसमय कहलाता है और जव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होता है, तव परसमय कहलाता है। तात्पर्य यह है कि जव यह गुण-पर्यायवान जीवद्रव्य अपने त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसमें ही जमता-रमता है, तव स्वसमय कहलाता है; और जव पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से प्राप्त संयोगों में, संयोगीभावों में अपनापन स्थापित करता है, उन्हें ही अपना जानता-मानता है, उनमें ही जमता-रमता है, तव परसमय कहलाता है ।

प्रवचनसार में स्वसमय-परसमय की परिभाषा इसप्रकार दी गई है -

"जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिदिट्ठा ।
आदसहावम्हि ठिदा से सगसमया मुणेदव्वा ॥[१]

जो जीव पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, उन्हें स्वसमय जानना चाहिए ।"

समयसार की दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार में आत्मस्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। इसीप्रकार समयसार में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार में पर्यायों में निरत आत्मा को परसमय कहा गया है ।

उक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। आत्मस्वभाव में स्थित होने का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना

---

१. आचार्य कुन्दकुन्द : प्रवचनसार, गाथा ९४

है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; उसी को आत्मस्वभाव में स्थित होना कहते हैं और उसी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहते हैं ।

समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का अर्थ मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में पर्यायों में निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमानजाति द्रव्यपर्यायों में एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है ।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या में आत्मख्याति में मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका टीका में मनुष्यादि असमानजाति द्रव्यपर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है ।

आत्मख्याति में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका में अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है। रागादि के साथ एकता की बात उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहता है और मनुष्य देहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहता है ।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है और वे तीनों भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है; सम्यग्ज्ञान भी सम्यक्-मिथ्या की अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है; भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्पने में कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नहीं होती ।

अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में चारित्र का अंश चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाता है और पूर्णता वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवें

गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में निश्चयचारित्र होता है ।

इसप्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नांकित तीन भागों में रखा जाता है –

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थगुणस्थानवाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं ।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे ।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो बारहवें गुणस्थान से आगे वाले ही स्वसमय कहलायेंगे ।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय – यह अपेक्षा तो ठीक; पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे – स्वसमय या परसमय ?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पंचास्तिकाय की १६५वीं गाथा द्रष्टव्य है, जो इसप्रकार है –

"अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो ।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो ॥

'शुद्धसम्प्रयोग से दुःखों से मोक्ष होता है' – अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है ।"

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है। वे आगे लिखते हैं कि यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहंतादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरंजित चित्तवृत्ति

शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' – ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तबतक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है; तो फिर निरंकुश रागरूपक्लेश से कलंकित अतरंगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यों नहीं कहलायेंगे ?

उक्त गाथा और उसकी टीका दोनों ही गंभीर मंथन की अपेक्षा रखती हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि 'ज्ञानी भी अज्ञान से' – यह गाथा का वाक्य एवं 'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान भी' यह टीका का वाक्य – ये दोनों ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है ?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है; तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना संभव नहीं होता। क्योंकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहंतादि की भक्ति से अनुरंजित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है – ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है। अतः यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नहीं है ।

यदि औदयिक अज्ञान की बात नहीं है और ज्ञानी के ज्ञायोपशमिक अज्ञान होता ही नहीं है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, यहाँ मुख्यरूप से तो मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है। इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहंत की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है – इस अभिप्राय वाले भी परसमय कहे जाते हैं तो फिर विषय-कषाय में सुखबुद्धि से निरंकुश प्रवृत्ति करनेवाले तो परसमय होंगे ही ।

वस्तुतः तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नहीं; भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न ? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है। यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' – यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है ।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने में संकोच का अनुभव हो रहा है। उनका यह संकोच इस रूप में व्यक्त हुआ है कि वे कहते हैं यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है। यद्यपि गाथा में ऐसा कोई भेद नहीं किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखते हैं ।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्मपरसमय हैं' – इसप्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने व्यक्त किया है। उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है –

"कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासंयम में स्थित होने में अशक्त होता हुआ काम-क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पंचपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है, तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है, और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है – ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है ।"

उक्त कथन में मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है। इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय है ।

पंचास्तिकाय की गाथा १६५ से १६९ तक पाँच गाथाओं में शुभराग में धर्मबुद्धि का और शुभरागरूप परिणति का बड़ी ही निर्दयता से निषेध किया गया है। ऐसे जीवों को परसमय कहकर स्वसमय बनने की प्रेरणा दी गई है ।

समयसार की दूसरी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीव को स्वसमय और निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव को परसमय कहते हैं ।

हाँ, एक बात यह भी हो सकती है कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की देशघाति प्रकृति सम्यक्प्रकृतिमिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व में चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं; उन दोषों को ही यहाँ 'अज्ञानलव' शब्द से संबोधित किया हो; क्योंकि उक्त दोषों का भी लगभग वही स्वरूप है, जो यहाँ सूक्ष्मपरसमय के प्रतिपादन में व्यक्त किया गया है। अत: एक संभावना यह भी हो सकती है कि यहाँ चल, मल और अगाढ़ दोष वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टियों को ही यहाँ 'सूक्ष्मपरसमय' शब्द से संबोधित किया गया हो ।

अरे, भाई ! यह सब तो सूक्ष्मपरसमय का विवेचन है, मूलरूप से तो यहाँ यही उपयुक्त है कि स्वसमय माने सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, मुक्तिमार्गी एवं मुक्त; तथा परसमय माने मिथ्यादृष्टि संसारी। प्रथम गुणस्थान वाले परसमय हैं और चौथे गुणस्थान से सिद्धदशा तक के जीव स्वसमय है ।

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि वास्तविक धर्मपरिणत आत्मा ही धर्मात्मा है, स्वसमय है, और धर्म परिणति से विहीन मोह-राग-द्वेषरूप परिणत आत्मा ही अधर्मात्मा है, परसमय है ।

स्वसमय उपादेय है, परसमय हेय है, समय ज्ञेय है और समयसार ध्येय है। समयसाररूप ध्येय के ज्ञान, श्रद्धान और ध्यान से यह समय स्वसमय बनता है और समयसार के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान के अभाव में मोह-राग-द्वेषरूप परिणत होकर परसमय बनता है ।

अत: समयसाररूप शुद्धात्मा को समझकर उसमें अपनापन स्थापित करना, उसका ही ध्यान करना अपना परम कर्त्तव्य है । •

यद्यपि विवेक का स्थान सर्वोपरि है, किन्तु वह विनय और मर्यादा को भंग करनेवाला नहीं होना चाहिए। विवेक के नाम पर कुछ भी कर डालना तो महापाप है; क्योंकि निरंकुश विवेक पूर्वजों से प्राप्त श्रुतपरम्परा के लिए घातक सिद्ध हो सकता है ।

– आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ३१

समयसार गाथा ३

दूसरी गाथा में समय की द्विविधता बताई गई थी; पर यह द्विविधता शोभनीय नहीं है, शोभास्पद तो एकत्व ही है। इस बात को तीसरी गाथा में स्पष्ट करते हैं ।

एयत्तणिच्छयगदो समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए ।
बंधकहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होदि ॥ ३ ॥

(हरिगीत)

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
विसंवाद है पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ॥ ३ ॥

एकत्वनिश्चय को प्राप्त जो समय है, वह लोक में सर्वत्र ही सुन्दर है। इसलिए एकत्व में दूसरे के साथ बंध की कथा विसंवाद पैदा करनेवाली है।

प्रत्येक पदार्थ अपने में ही शोभा पाता है, पर के साथ बंध की कथा, मिलावट की बात विसंवाद पैदा करनेवाली है; अतः यदि विसंवाद से बचना है तो एकत्व को ही अपनाना श्रेयस्कर है ।

आत्मख्याति में इस गाथा के भाव को इसप्रकार प्रस्तुत किया गया है –

"यहाँ समय शब्द से सामान्यतः सभी पदार्थ कहे जाते हैं; क्योंकि जो एकीभाव से स्वयं के गुण-पर्यायों को प्राप्त हो, उसे समय कहते हैं। इस व्युत्पत्ति के अनुसार धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव; लोक के ये सभी पदार्थ समय शब्द से अभिहित किए जाते हैं और एकत्वनिश्चय को प्राप्त होने से सुन्दरता को पाते हैं। तात्पर्य यह है कि ये सब अकेले ही शोभास्पद होते हैं; क्योंकि अन्यप्रकार से उसमें सर्वसंकरादि दोष आ जावेंगे।

वे सभी पदार्थ अपने-अपने द्रव्य में अन्तर्मग्न रहनेवाले अपने अनन्त धर्मों के चक्र को चुम्बन करते हैं, स्पर्श करते हैं, तथापि वे परस्पर एक-

दूसरे को स्पर्श नहीं करते। अत्यन्त निकट एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठ रहे हैं, तथापि वे सदाकाल अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते हैं। पररूप परिणमन न करने से उनकी अनन्त व्यक्तिता नष्ट नहीं होती, इसलिए वे टंकोत्कीर्ण की भांति सदा स्थित रहते हैं और समस्त विरुद्ध कार्य व अविरुद्ध कार्य की हेतुता से विश्व को सदा टिकाये रखते हैं, विश्व का उपकार करते हैं ।

इसप्रकार सर्वपदार्थों का भिन्न-भिन्न एकत्व प्रतिष्ठित हो जाने पर - एकत्व सिद्ध हो जाने पर जीव नामक समय को बंध की कथा से ही विसंवाद की आपत्ति आती है। तात्पर्य यह है कि जब सभी पदार्थ परस्पर भिन्न ही हैं तो फिर यह बन्धन की बात जीव के साथ ही क्यों ?

जब बंध की बात ही नहीं टिकती तो फिर बंध के आधार पर कहा गया पुद्गल प्रदेशों में स्थित होना भी कैसे टिकेगा ? तथा उसके आधार पर होनेवाला परसमयपना भी नहीं टिक सकता। जब परसमयपना नहीं रहेगा तो फिर उसके आधार पर किया गया स्वसमय-परसमय का विभाग भी कैसे टिकेगा ? जब यह विभाग ही नहीं रहा तो फिर समय (जीव) के एकत्व होना ही सिद्ध हुआ और यही श्रेयस्कर भी है ।''

देखो, दूसरी गाथा में 'समय' शब्द का अर्थ जीवद्रव्य लिया था और यहाँ छहों द्रव्य लिया जा रहा है। वहाँ जो एक ही समय में गमन भी करे और ज्ञान भी करे, उसे समय कहते हैं; इस व्याख्या के अनुसार समय शब्द का अर्थ जीव किया था और यहाँ जो अपने गुण-पर्यायों को प्राप्त हो, उसे समय कहते हैं, इस व्याख्या के अनुसार समय शब्द का अर्थ छहों द्रव्य लिया है ।

दूसरी गाथा में समय का द्विविधपना बताया था और यहाँ उसका निषेध किया जा रहा है, उसमें बाधा उपस्थित की जा रही है ।

यहाँ यह कहा जा रहा है कि जब प्रत्येक द्रव्य भिन्न-भिन्न ही हैं, अपने-अपने में ही रहते हैं, कोई किसी को छूता भी नहीं है तो फिर आत्मा का पुद्गल के प्रदेशों में स्थित होना कैसे संभव है ? इस बंध की कथा में ही

विसंवाद है अथवा यह बंध की कथा ही विसंवाद पैदा करनेवाली है। जब दो द्रव्य परस्पर मिलते ही नहीं तो बंधने की बात में दम ही क्या है ?

जब आत्मा बंधा ही नहीं है तो उसके परसमयपना ही नहीं ठहरता है। जब परसमयपना ही नहीं है तो फिर स्वसमय कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि स्वसमय तो परसमय की अपेक्षा कहा जाता है। अतः समय तो समय है, वह न स्वसमय है न परसमय है। इस बंध की कथा ने ही ऐसे दो भेद किये हैं; अतः यह बंधकथा ही विसंवाद पैदा करनेवाली है, दुविधा पैदा करनेवाली है ।

यदि विसंवाद मिटाना है तो बंध की बात ही मत करो, एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा ही श्रेष्ठ है। बंध की कथा विसंवाद पैदा करनेवाली और एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा विसंवाद मिटानेवाली है। यही बात तो आगे चौथी-पांचवीं गाथा में कहनेवाले हैं कि तुमने अबतक काम, भोग और बंध की कथा ही सुनी है; अब मैं तुम्हें एकत्व-विभक्त आत्मा की कथा सुनाऊँगा ।

आचार्यदेव को बंध की कथा में कोई रस नहीं है, वे तो आत्मा के एकत्व को ही समझाना चाहते हैं। वे तो यहाँ भी साफ-साफ कह रहे हैं कि प्रत्येक द्रव्य अपने अन्तर में रहनेवाले अनन्तधर्मों को चूमते हैं, परन्तु पर को स्पर्श भी नहीं करते; एकक्षेत्रावगाह रूप से अत्यन्त निकट ठहर रहे हैं, पर अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते ।

इसलिए बंध की कथा में कोई दम नहीं है, एकत्व की कथा ही करने योग्य है ।

प्रश्न – विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य की हेतुता से विश्व का उपकार करते हैं; विश्व को टिकाये रखते हैं। – इस कथन का क्या आशय है ?

उत्तर – उक्त कथन का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"द्रव्य की पर्याय में जो उत्पाद-व्यय है, वह परस्पर विरुद्ध कार्य है।

उपजना व विनशना – इसप्रकार दो परस्पर विरुद्ध कार्य होते हैं। जिससमय द्रव्य की वर्तमान पर्याय उत्पन्न होती है, उसीसमय पूर्व की पर्याय का व्यय होता है। उत्पाद् भावरूप है और व्यय अभावरूप है। इसकारण उत्पाद को व्यय से विरुद्ध कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी गुण गुणपने से त्रिकाल कायम रहते हैं, इससे वे अविरुद्ध हैं। ऐसा विरुद्ध-अविरुद्ध वस्तु का स्वरूप ही है ।

एकसमय की पर्याय में जो उत्पाद-व्यय है, वह परस्पर विरुद्धभाव है और गुण कायम रहते हैं, वह अविरुद्धभाव हैं। इसतरह विरुद्ध और अविरुद्ध कार्य अर्थात् अनन्त द्रव्यों का उत्पाद-व्ययरूप विरुद्धभाव और गुणरूप अविरुद्धभाव – इन दोनों के हेतुपने से हमेशा विश्व का उपकार करते हैं। अर्थात् द्रव्य के गुण-पर्यायरूप स्वरूप के द्वारा विश्व के समस्त पदार्थ जैसे हैं, वैसे ही टिके रहते हैं ।[१]"

प्रत्येक द्रव्य का परिणमन अपने में ही होता है, कोई भी द्रव्य पररूप परिणमन नहीं करता। इसकारण प्रत्येक द्रव्य का व्यक्तित्व सदा स्वतंत्र ही रहता है, उसकी व्यक्तिता कभी नष्ट नहीं होती; वह अपनी स्वतंत्र इकाई के रूप में सदा प्रतिष्ठित रहता है। यही कारण है कि सभी पदार्थ टंकोत्कीर्ण की भाँति सदा स्थित रहते हैं ।

यहाँ एकत्वनिश्चयगत समय का अर्थ स्पष्ट करते हुए सभी पदार्थों के सम्बन्ध में चार बातें स्पष्ट की गई हैं –

(१) जीवादि सभी पदार्थ अपने में ही मग्न हैं, अपने गुण-पर्यायों को ही आलिंगित करते हैं, पर को स्पर्श तक नहीं करते ।

(२) वे एकक्षेत्रावगाहरूप से अत्यन्त निकट रहने पर भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होते, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ते ।

(३) पररूप परिणमन न करने से वे टंकोत्कीर्ण की भाँति अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व को धारण किये रहते हैं, उनकी व्यक्तिता (व्यक्तित्व-इकाई) नष्ट नहीं होती ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ ६३

(४) उत्पाद और व्यय तथा उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य जैसे विरोधी स्वभावों को एक साथ धारण करके वे विश्व को टिकाये रखते हैं, विश्व का उपकार करते हैं ।

वे पर को स्पर्श नहीं करते, स्वभाव से च्युत नहीं होते और अपनी इकाई को कायम रखते हुए विश्व को टिकाये रखते हैं। जगत के सभी द्रव्यों में ये विशेषतायें समानरूप से पाई जाती हैं। यद्यपि जीव नामक पदार्थ में भी उक्त विशेषतायें पाई जाती हैं, तथापि उसके बंधन की जो बात है, वह विसंवाद पैदा करती है ।

जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता ही नहीं है, अपने स्वभाव से च्युत होता ही नहीं है, टंकोत्कीर्ण की ही भाँति अपनी इकाई को टिकाये रखता है; तो फिर आत्मा ही दूसरे से क्यों बँधे ?

इस बंध की कथा ने ही तो आत्मा के स्वसमय और परसमय - ऐसे दो भेद किये हैं। इस द्विविधपने ने ही तो आत्मा के सौन्दर्य को खण्डित किया है। अतः अन्य द्रव्यों के समान आत्मा को भी द्विविधता इष्ट नहीं। एकत्व में ही सौन्दर्य है - इसलिए आत्मा को एकत्व ही इष्ट है ।

आचार्य जयसेन इस गाथा की व्याख्या करते हुए एकत्वनिश्चयगत का अर्थ अपने शुद्धगुण-पर्यायों से परिणत अथवा अभेदरत्नत्रयपरिणत करते हैं और 'समय' शब्द का अर्थ भी अमृतचन्द्र के समान छहद्रव्य न करके मात्र आत्मा ही करते हैं ।

इसप्रकार उनके अनुसार अभेदरत्नत्रयपरिणत अर्थात् निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मा ही एकत्वनिश्चयगत आत्मा है और वही लोक में सर्व सुन्दर है, वही आत्मा का वास्तविक स्वरूप है ।

निष्कर्ष के रूप में वे स्पष्ट लिखते हैं -

"ततः स्थितं स्वसमय एव आत्मनः स्वरूपमिति - अतः यह निश्चित आ कि स्वसमय ही आत्मा का स्वरूप है ।"

'बंधकथा' का अर्थ कर्मजनित गुणस्थान आदि पर्याय करते हुए वे कहते हैं कि आत्मा के साथ बंध की कथा अर्थात् गुणस्थानादि की चर्चा विसंवादिनी है, असत्य है। ध्यान रहे आचार्य जयसेन विसंवादिनी का अर्थ स्पष्टरूप से असत्य करते हैं ।

इसप्रकार उनके अनुसार गुणस्थानादिपर्यायों की चर्चा अथवा इन पर्यायों की ओर से आत्मा की चर्चा असत्यार्थ है। तात्पर्य यह है कि स्वसमय की कथा वास्तविक है, करने योग्य है, विसंवाद मिटानेवाली है और परसमय की चर्चा करना ठीक नहीं है, विसंवाद करनेवाली है, बंध की कथा है; जिसे इस जीव ने अनन्तबार सुनी है, समझी है; पर एकत्वनिश्चयगत स्वसमय की कथा न सुनी है न समझी है और न उसका परिचय ही प्राप्त किया है ।

इसी भाव को आचार्य कुन्दकुन्ददेव स्वयं अगली गाथा में व्यक्त कर रहे हैं ।

आचार्यदेव जिस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की चर्चा समयसार में करनेवाले हैं, उसके औचित्य पर प्रकाश तो आगामी गाथा में डाला जायेगा; यहाँ तो मात्र इतना ही बताना है कि बंधकथा में उलझने से कोई लाभ नहीं है । •

स्वभाव से तो प्रत्येक आत्मा स्वयं ज्ञानान्दस्वभावी परिपूर्ण तत्त्व है ही, पर्याय में भी पूर्णता प्राप्त करने के लिए उसे पर की ओर झांकने की आवश्यकता नहीं। यह स्वयं अपनी भूल से दुःखी है और स्वयं अपनी भूल मेटकर सुखी भी हो सकता है। प्रत्येक आत्मा स्वयं भगवानस्वरूप है और यदि पुरुषार्थ करे तो भगवानस्वरूप आत्मा की अनुभूति करने में भी समर्थ है ।

– सत्य की खोज, पृष्ठ १८६

समयसार गाथा ४

अब इस चौथी गाथा में यह स्पष्ट करते हैं कि काम, भोग एवं बंध की कथा तो सभी को सुलभ है, पर उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की बात सभी को सहज सुलभ नहीं है, अपितु अत्यन्त दुर्लभ है ।

सुदपरिचिदाणुभूदा सव्वस्स वि कामभोगबंधकहा ।
एयत्तस्सुबलंभो णवरि ण सुलहो विहत्तस्स ॥४॥

(हरिगीत)

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा ।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥४॥

काम, भोग और बंध की कथा तो सम्पूर्ण लोक ने खूब सुनी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है और उनका अनुभव भी किया है; अतः वह तो सर्वसुलभ ही है। परन्तु पर से भिन्न और अपने से अभिन्न भगवान आत्मा की कथा न कभी सुनी है, न उसका कभी परिचय प्राप्त किया है और न कभी उसका अनुभव ही किया है; अतः वह सुलभ नहीं है ।

यही कारण है कि आचार्यदेव उस असुलभ कथा को इस समयसार ग्रन्थाधिराज के माध्यम से सुलभ कराना चाहते हैं ।

यद्यपि लोक में काम और भोग शब्द लगभग एक ही अर्थ में प्रयुक्त होते हैं, तथापि आचार्य जयसेन उक्त अर्थ को स्वीकार करते हुए भी अथवा कहकर 'काम' शब्द का अर्थ स्पर्शन और रसना इन्द्रिय का विषय करते हैं और 'भोग' शब्द का अर्थ घ्राण, चक्षु एवं कर्ण इन्द्रिय का विषय करते हैं। इसप्रकार काम-भोगकथा का अर्थ पंचेन्द्रिय विषयों की कथा हो जाता है ।

'वंध' शब्द का अर्थ 'संवंधी' करते हुए वे लिखते हैं कि काम-भोग म्बन्धी कथा। 'बंध' शब्द का दूसरा अर्थ प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और

अनुभाग बंध तथा उसके फल में प्राप्त होनेवाली नरकादिरूप चतुर्गति परिभ्रमण भी वे करते हैं। तीसरी गाथा की टीका में बंधकथा का अर्थ गुणस्थानादि पर्याय किया ही था ।

इसप्रकार समग्ररूप से उनका कहना यह है कि पंचेन्द्रियों के विषयों एवं चार प्रकार के बंध व उसके फल में प्राप्त होनेवाली नरकादि गतियों तथा गुणस्थानादिरूप संसारी पर्यायों की कथा तो इस जीव ने अनन्तबार सुनी है, समझी है, उसका परिचय भी प्राप्त किया है, अनुभव भी किया है; अतः वह कथा तो सर्वसामान्य को सहज ही सुलभ है। किन्तु पर से भिन्न अपने में एकत्व लिए निश्चयरत्नत्रय से परिणित रागरहित भगवान आत्मा की बात सुलभ नहीं है। इसीकारण आचार्यदेव एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की बात आरम्भ करते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की टीका में इसका भाव इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

''यद्यपि यह कामभोग सम्बन्धी (कामभोगानुबद्धा) कथा एकत्व से विरुद्ध होने से अत्यन्त विसंवाद करानेवाली है; तथापि समस्त जीवलोक ने इसे अनन्तवार सुना है, अनन्तबार इसका परिचय प्राप्त किया है और अनन्तवार इसका अनुभव भी किया है ।

संसाररूपी चक्र के मध्य में स्थित; द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव और भावरूप अनन्त पंचपरावर्तन से भ्रमण को प्राप्त; अपने एकछत्र राज्य से समस्त विश्व को वशीभूत करनेवाला महामोहरूपी भूत जिसे बैल की भाँति जोतता है, भार वहन कराता है; अत्यन्त वेगवान तृष्णारूपी रोग के दाह से संतप्त एवं आकुलित होकर जिसप्रकार मृग मृगजल के वशीभूत होकर जंगल में भटकता है; उसीप्रकार पंचेन्द्रियों के विषयों से घिरा हुआ है या पंचेन्द्रियों के विषयों को घेर रखा है जिसने; ऐसा यह जीवलोक इस विषय में परस्पर आचार्यत्व भी करता है, एक-दूसरे को समझाता है, सिखाता है, प्रेरणा देता है। यही कारण है कि काम-भोग-बंधकथा सबको सुलभ है ।

किन्तु निर्मल भेदज्ञानज्योति से स्पष्ट भिन्न दिखाई देनेवाला आत्मा का एकत्व अथवा एकत्व-विभक्त आत्मा यद्यपि अंतरंग में प्रगटरूप से प्रकाशमान है; तथापि कषाय-चक्र के साथ एकरूप किये जाने से अत्यन्त तिरोभूत हो रहा है ।

जगत के जीव एक तो अपने को जानते नहीं हैं और जो आत्मा को जानते हैं, उनकी सेवा नहीं करते हैं, उनकी संगति में नहीं रहते हैं। इसकारण इस एकत्व-विभक्त आत्मा की बात जगत के जीवों ने न तो कभी सुनी है न कभी इसका परिचय प्राप्त किया है और न कभी वह आत्मा जगत के जीवों के अनुभव में ही आया है; यही कारण है कि भिन्न आत्मा का एकत्व सुलभ नहीं है ।"

इस टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"इस लोक में समस्त जीव संसाररूपी चक्र पर चढ़कर पंचपरावर्तनरूप भ्रमण करते हैं। वहाँ उन्हें मोहकर्मरूपी पिशाच के द्वारा जोता जाता है। इसलिए वे विषयों की तृष्णारूपी दाह से पीड़ित होते हैं और उस दाह का इलाज इन्द्रियों के रूपादि विषयों को जानकर उनकी ओर दौड़ते हैं तथा परस्पर भी विषयों का ही उपदेश करते हैं ।

इसप्रकार काम तथा भोग की कथा तो अनन्तवार सुनी, परिचय में प्राप्त की और उसी का अनुभव किया; इसलिए वह सुलभ है ।

किन्तु सर्व परद्रव्यों से भिन्न एक चैतन्यचमत्कारस्वरूप अपने आत्मा की कथा का ज्ञान स्वयं को स्वयं से कभी हुआ नहीं, और जिसे वह ज्ञान हुआ है उनकी सेवा नहीं की; इसलिए उसकी कथा न तो कभी सुनी, न परिचय किया और न अनुभव किया; इसकारण उसकी प्राप्ति सुलभ नहीं, दुर्लभ है ।"

अनादिकाल से यह आत्मा पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख मानता हुआ उन्हीं के संग्रह और भोगने में मग्न है। पुण्योदय से या कालक्रमानुसार मनुष्य र्याय पाकर भी अनादि अभ्यास के कारण यह पंचेन्द्रियों के विषयों को

ही जोड़ने और भोगने में लगा रहता है। धर्म के नाम पर भी जिन भावों से पुण्य-पाप बंधता है, उन भावों का ही विचार करता है, चर्चा-वार्ता करता है, गुणस्थानादि की चर्चा करके या कुछ बाह्याचार पालकर अपने को धर्मात्मा मान लेता है ।

धर्म के नाम पर भी कर्मबंध की ही चर्चा करता है, 'पर' और रागादि से भिन्न निज भगवान आत्मा का विचार ही नहीं करता है। कर्मबंध की चर्चा तो करता है; पर कर्म से बंधने की वात तो बहुत दूर, कर्म ने तो आज तक आत्मा को छुआ ही नहीं – यह बात आज तक इसके कान में ही नहीं पड़ी है; पड़ी भी हो तो इसने उसपर ध्यान ही नहीं दिया है, विचार ही नहीं किया है ।

एक तो यह एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के वारे में स्वयं कुछ जानता नहीं है, दूसरे जो ज्ञानी धर्मात्माजन भगवान आत्मा के स्वरूप को भलीभाँति जानते हैं – उनकी सेवा नहीं करता, उनका समागम नहीं करता, उनसे कुछ सीखने-समझने की कोशिश नहीं करता; यदि आगे होकर भी वे कुछ सुनायें, समझायें तो यह उनकी वात पर ध्यान ही नहीं देता; इसलिए अनन्तकाल से संसार में भटक रहा है ।

यहाँ आचार्यदेव ज्ञानियों के सत्समागम की प्रेरणा देते हुए कह रहे हैं कि भाई ! तू ज्ञानियों की सेवा कर, उनकी वात पर ध्यान दे। तुझे पता नहीं है कि भगवान आत्मा को नहीं पहिचानने से तेरी कैसी दुर्दशा हो रही है ?

अज्ञानी की दुर्दशा का चित्र खींचते हुए टीका में कहा गया है कि यह लोक संसाररूपी चक्की के पाटों के बीच अनाज के दानों के समान पिस रहा है, मोहरूपी भूत इसे पशुओं की भाँति जोत रहा है, तृष्णारूपी रोग से यह जल रहा है, मृगतृष्णा में फँसकर मृग की भाँति भटक रहा है। आश्चर्य तो यह है कि पंचेन्द्रिय विषयों में उलझा हुआ, फँसा हुआ यह अज्ञानी लोक परस्पर आचार्यत्व भी करता है। लोग विषय-कषाय की चतुराई एक-दूसरे को बताते हैं, सिखाते हैं। पैसा कैसे कमाना, उसे कैसे भोगना – आदि बातों को जगत को बताते हैं, उन्हीं कार्यों के करने की प्रेरणा भी देते हैं ।

बाप बेटों को समझाता है कि पैसा कैसे कमाना, कैसे जोड़ना और बेटे भी बाप को समझाते हैं कि अब जमाना बदल गया है, पुरानी ईमान धर्म की बातें अब नहीं चल सकतीं। अब तो खाओ-पिओ और मौज उड़ाओ – इसी में सार है ।

इसप्रकार सभी अज्ञानी एक-दूसरे को भोग भोगने की ही प्रेरणा देते हैं। इसीकारण काम, भोग और बंध की कथा जगत में सर्वत्र सुलभ है; किन्तु पर से विभक्त एवं अपने में अविभक्त भगवान आत्मा की कथा अत्यन्त दुर्लभ है; क्योंकि उसकी चर्चा करनेवाले इस जगत में अत्यन्त अल्प हैं, कहीं-कहीं ही जुगनू के समान चमकते दिखाई देते हैं ।

सागारधर्मामृत में लिखा है –

"खद्योतवत् सुदेष्टारो हा द्योतंते क्वचित्-क्वचित् ।[१]

सदुपदेश देनेवाले इस कलियुग में जुगनू के समान कहीं-कहीं ही चमकते हैं – इस बात का अत्यन्त खेद है ।"

यद्यपि भेदज्ञानज्योति से प्रकाशमान यह भगवान आत्मा अन्तरंग में स्पष्टरूप से प्रकाशमान है; तथापि अनादिकालीन अज्ञान से कषायचक्र के साथ एकरूप किये जाने से तिरोहित हो रहा है, अज्ञानी जगत को दिखाई नहीं दे रहा है। यही कारण है कि आचार्यदेव भेदज्ञान की है प्रधानता जिसमें – ऐसा यह एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के स्वरूप का प्रकाशक शास्त्र समयसार लिख रहे हैं ।

आगामी गाथा में वे इस बात को प्रतिज्ञावाक्य के रूप में भी प्रस्तुत करने जा रहे हैं। अतः हे भव्यजीवो ! तुम इस विरल महाशास्त्र का गहराई से अध्ययन करना। अत्यन्त विरल यह भगवान आत्मा का प्रतिपादन हम सबके महाभाग्य से हमें प्राप्त हो गया है; अतः पूरे आदर-सम्मान के साथ इसका पूरा-पूरा लाभ लेना चाहिए ।

---

१. पण्डित आशाधर : सागारधर्मामृत,

बातें तो सब शास्त्रों में लिखी रहती हैं, पर उनका मर्म ज्ञानियों के हृदय में होता है। अतः यहाँ ज्ञानियों के सत्समागम की विशेष प्रेरणा दी गई है, उनकी सेवा करने की भी आज्ञा दी गई है ।

देखो, यहाँ आचार्यदेव ने जगत के जीवों का कितना वास्तविक चित्रण किया है कि वे एक तो स्वयं कुछ जानते नहीं हैं; दूसरे आत्मज्ञानी सत्पुरुषों की बात मानते नहीं हैं। ज्ञानी धर्मात्माओं की बात मानना तो बहुत दूर, उनकी बात ध्यान से सुनते भी नहीं हैं; अपितु उनका विरोध करते हैं। आचार्यदेव ने 'आत्मज्ञानीनामनुपासनात्' शब्द का प्रयोग किया है - जिसका सीधा-सादा अर्थ होता है कि आत्मज्ञपुरुषों की उपासना नहीं करने से एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा की प्राप्ति नहीं होती ।

आत्मोपलब्धि के पूर्व देशनालब्धि आवश्यक है। देशना की प्राप्ति आत्मज्ञानी धर्मात्माओं के सत्समागम से ही संभव है। यहाँ उपासना का अर्थ कोई पूजा-पाठ करना ही नहीं है, अपितु उनसे प्रीतिपूर्वक आत्मा की बात सुनना है, समझना है; क्योंकि यहाँ साफ-साफ लिखा है कि ज्ञानी धर्मात्माओं की उपासना नहीं करने से आत्मा की बात न कभी सुनी है, न आत्मा का परिचय प्राप्त किया है। इसका तो यही आशय हुआ कि गुरुमुख से आत्मा की बात सुनना, आत्मा का परिचय प्राप्त करना भी आत्मानुभव के लिए आवश्यक है ।

आत्मज्ञानी गुरुओं की सेवा का अर्थ मात्र उनके पैर दबाना नहीं है, अपितु उनकी उचित विनय के साथ, मर्यादा के साथ; उनसे आत्मा की बात सुनना-समझना ही है। यहाँ पर उन आत्मज्ञानी गुरुओं को लेना ही अपेक्षित है कि जो आत्मा की बात करते हों, स्वयं समझते हों; उनकी बात नहीं है, जो आत्मा का नाम सुनते ही उत्तेजित हो जाते हों ।

आत्मा की बात का आशय भी एकत्व-विभक्त आत्मा की बात से है। यहाँ रागी-द्वेषी विकारी आत्मा की बात नहीं, कर्मों से बंधे संसारी आत्मा की बात भी नहीं; पर इनसे भिन्न शुद्ध-बुद्ध, निरंजन-निराकार एकत्व-विभक्त त्रिकाली ध्रुव निज भगवान आत्मा की बात है। इसी त्रिकाली ध्रुव

भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करनेवाले, इसमें ही मगन ज्ञानी गुरुओं से एकत्व-विभक्त आत्मा की बात समझने की प्रेरणा इस गाथा में दी गई है।

आचार्यदेव इसी एकत्व-विभक्त आत्मा को समझाने की प्रतिज्ञा आगामी गाथा में कर रहे हैं ।

इसलिए शास्त्रों का ही सेवन करना

मेरे जितने दिन शास्त्राभ्यास में जाते हैं, सो धन्य हैं तथा जो समय परमागम के अभ्यास बिना बीतता है, सो व्यर्थ जाता है। स्वाध्याय बिना शुभध्यान नहीं होता, पाप नहीं छूटता, कषायें मंद नहीं होतीं; संसार, देह, भोगों से वैराग्य नहीं आता। समस्त व्यवहार की उज्ज्वलता एवं परमार्थ का विचार आगम के सेवन करने से ही होते हैं ।

श्रुत के सेवन से जगत में मान्यता होती है, उच्चता, उज्ज्वलता, आदर-सत्कार प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान ही परमबांधव है, उत्कृष्ट धन है, परममित्र है, अविनाशी धन है। स्वदेश-परदेश में, सुख-दुख में, आपादा-सम्पदा में परमशरणभूत सम्यग्ज्ञान ही है। स्वाधीन अविनाशी धन ज्ञान ही है, इसलिए शास्त्रों का ही सेवन करना ।

अपनी आत्मा को नित्य ज्ञानदान करो, अपनी सन्तान को तथा शिष्यों को ज्ञानदान ही करो, करोड़ों रुपयों का दान भी ज्ञानदान के समान नहीं है। धन तो मद उत्पन्न करता है, विषयों में उलझाता है, दुर्ध्यान कराता है, संसाररूप अन्धे कुयें में डुबोता है, इसलिए ज्ञानदान समान धनदान नहीं है। जो एक श्लोक, आधा श्लोक, एक पद, मात्रा का भी यदि नित्य अभ्यास करता है, तो वह शास्त्रार्थ का पारगामी हो जाता है। विद्या है, सो परमदेव है ।

जो माता-पिता शास्त्राभ्यास कराते हैं, वे करोड़ों का धन देते हैं – ऐसा जानना सम्यग्ज्ञान को देनेवाले जो गुरु हैं, उनके उपकार समान तीन लोक में कोई उपकार नहीं है और जो ज्ञान को देनेवाले गुरु का उपकार नहीं मानता, उसके समान कृतघ्नी-पापी कोई नहीं है ।

यह जीव ज्ञान के अभ्यास बिना व्यवहार-परमार्थ दोनों में मूढ़ है, अज्ञानी है; इसलिए प्रवचनभक्ति ही परमकल्याण का कारण है। प्रवचन के सेवन बिना मनुष्य पशु समान है । – **रत्नकरण्डश्रावकाचार, पृष्ठ २११-२१२**

समयसार गाथा ५

अव इस पाँचवीं गाथा में आचार्यदेव एकत्व-विभक्त आत्मा का स्वरूप दिखाने की प्रतिज्ञा करते हैं और पाठकों से अनुरोध करते हैं कि तुम इसके माध्यम से निज भगवान आत्मा का स्वरूप जानकर विशुद्ध आत्मकल्याण की भावना से स्वीकार करना। इससे तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ।

मूल गाथा इसप्रकार है –

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण ।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेत्तव्वं ॥५॥

(हरिगीत)

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन ।
पर नहीं करना छल ग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥५॥

मैं उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को निज वैभव से दिखाता हूँ। यदि मैं दिखाऊँ तो प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि चूक जाऊँ तो छल ग्रहण नहीं करना ।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि मैं अपने सम्पूर्ण वैभव से आत्मा की वात समझाऊँगा और तुम अपने बुद्धिरूप वैभव से सम्पूर्ण शक्ति लगाकर इसे समझने का प्रयास करना। यदि मैं अपने प्रयास में सफल होऊँ और भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट कर सकूँ तो तुम उसे अपने अनुभव से प्रमाणित करना, श्रद्धापूर्वक स्वीकार करना। यदि मैं चूक जाऊँ तो किसी भी प्रकार का छल ग्रहण नहीं करना ।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका के आधार पर लिखे गये भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छावड़ा आचार्य कुन्दकुन्द के निजवैभव का स्वरूप स्पष्ट करते हुए लिखते हैं –

"आचार्य आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, पर और अपर गुरु के उपदेश और स्वसंवेदन – इन चार प्रकार से उत्पन्न हुए अपने ज्ञानवैभव से

एकत्व-विभक्त शुद्ध आत्मा का स्वरूप दिखाते हैं। हे श्रोताओ ! उसे अपने स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से प्रमाण करो; यदि कहीं किसी प्रकरण में भूल जाऊँ तो उतने से दोष को ग्रहण नहीं करना। कहने का आशय यह है कि यहाँ अपना अनुभव प्रधान है, उससे शुद्धस्वरूप का अनुभव करो ।''

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने तो मात्र इतना ही कहा था कि मैं निजवैभव से एकत्व-विभक्त आत्मा की बात समझाऊँगा; पर आचार्य अमृतचन्द्रदेव यह भी स्पष्ट करते हैं कि आचार्य कुन्दकुन्द का वैभव क्या था, कैसा था और कैसे उत्पन्न हुआ था ?

जगत तो रुपया-पैसा और धूल-मिट्टी को ही वैभव मानता है। अतः वे स्पष्ट करते हैं कि उनका वैभव ज्ञानवैभव था, वह ज्ञानवैभव मुक्तिमार्ग के प्रतिपादन में पूर्णतः समर्थ था और उसका जन्म आगम के सेवन से हुआ था, युक्ति के अवलम्बन से हुआ था, परम्पराचार्य गुरुओं के उपदेश से हुआ था और आत्मा के अनुभव से हुआ था। तात्पर्य यह है कि उन्होंने जो बात कही है, वह काल्पनिक नहीं है; उसका आधार जिनागम है, भगवान महावीर की दिव्यध्वनि है। जिनागम का गहरा अभ्यास करके ही उन्होंने यह बात जानी है, समझी है। अतः उनका यह समयसार ग्रन्थाधिराज भगवान महावीर की दिव्यध्वनि का सार - द्वादशांग जिनवाणी का सार है ।

यह भगवान आत्मा का प्रतिपादन जिनागम के अनुसार तो है ही, पर इसे मात्र पढ़कर नहीं लिखा गया है, पहले तर्क की कसौटी पर कसकर परखा गया है, युक्तियों के अवलम्बन से उसकी सच्चाई को गहराई से जाना गया है; इतना ही नहीं, भगवान महावीर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक चली आई अविच्छिन्न आचार्य परम्परा से प्रमाणित किया गया है और उस भगवान आत्मा का साक्षात् अनुभव भी किया गया है; तव जाकर उसका प्रतिपादन किया गया है ।

इसप्रकार आचार्य कुन्दकुन्द का ज्ञानवैभव जिनागम का अभ्यास कर,
का मर्म सुनकर, तर्क की कसौटी पर कसकर और

अनुभव करके उत्पन्न हुआ है। इसी ज्ञानवैभव को आधार बनाकर वे यह समयसार ग्रन्थ लिख रहे हैं ।

यद्यपि उन्हें सीमन्धर परमात्मा के साक्षात् दर्शन करने और उनकी दिव्यध्वनि श्रवण करने का अवसर भी प्राप्त हुआ था; तथापि अमृतचन्द्र ने उसका उल्लेख न कर भगवान महावीर की आचार्य परम्परा का उल्लेख करना ही उचित समझा। आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की टीका लिखते समय अधिकतम विस्तार 'निजवैभव' शब्द की व्याख्या में ही दिया है। उनके द्वारा लिखित इस गाथा की टीका का मूल भाव इसप्रकार है -

"मेरे निजवैभव का जन्म लोक की समस्त वस्तुओं के प्रकाशक 'स्यात्' पद की मुद्रावाले शब्दब्रह्म (परमागम) की उपासना से हुआ है; समस्त विपक्षी अन्यवादियों द्वारा गृहीत एकान्तपक्ष के निराकरण में समर्थ अतिनिष्तुष निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से हुआ है। निर्मल विज्ञानघन आत्मा में अन्तर्मग्न परमगुरु सर्वज्ञदेव, अपरगुरु गणधरादिक से लेकर हमारे गुरुपर्यन्त समस्त आचार्य परम्परा से प्रसाद के रूप में प्राप्त शुद्धात्मतत्त्व के उपदेशरूप अनुगृह से एवं निरन्तर झरते हुए, स्वाद में आते हुए सुन्दर आनन्द की मुद्रा से युक्त स्वसंवेदन से मेरे वैभव का जन्म हुआ है ।

इसप्रकार शब्दब्रह्म की उपासना से, निर्बाध युक्तियों के अवलम्बन से, गणधरादि आचार्य परम्परा के उपदेश से एवं आत्मानुभव से जन्मे अपने सम्पूर्ण ज्ञानवैभव से मैं उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा को दिखाने के लिए कटिवद्ध हूँ, कृतसंकल्प हूँ; इस व्यवसाय में मैं बद्ध हूँ, सन्नद्ध हूँ ।

यदि मैं भगवान आत्मा को दिखा दूँ, अपने व्यवसाय में सफल हो जाऊँ तो तुम स्वयं के अनुभव प्रत्यक्ष से परीक्षा करके प्रमाण करना, स्वीकार करना और यदि कहीं स्खलित हो जाऊँ तो तुम्हें छल ग्रहण करने में जागृत नहीं रहना चाहिए ।"

यहाँ जो चूक जाने की बात कही है, वह भगवान आत्मा के स्वरूप में चूकने की बात नहीं है; यह तो प्रतिपादन में भाषा में शब्दों के प्रयोग आदि

में चूकने की बात है। तत्त्वार्थसूत्र के अन्त में भी एक छन्द आता है, जिसमें इसप्रकार की चर्चा की गई है। वह छन्द इसप्रकार है –

अक्षरमात्रपदस्वरहीनं व्यंजनसंधिविवर्जितरेफं ।
साधुभिस्तत्र मम क्षमितव्यं को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे ॥

अक्षर, मात्रा, पद, स्वर, व्यंजन, सन्धि, रेफ आदि के सन्दर्भ में ही भूल की सम्भावना उक्त छन्द में व्यक्त की है और उसी के लिए क्षमा याचना भी की है; क्योंकि शास्त्र तो समुद्र के समान अपार है, उनमें तो बड़ों-बड़ों से भी भूल हो सकती है ।

छहढ़ाला में भी इसीप्रकार का भाव व्यक्त किया गया है –

लघु धी तथा प्रमाद तैं शब्द अर्थ की भूल ।
सुधी सुधार पढ़ो सदा जो पावो भवकूल ॥

उक्त छन्द में भी शब्द और अर्थ की भूल स्वीकार की गई है, भाव की नहीं; क्योंकि ज्ञानी धर्मात्माओं से भाव में तो भूल हो ही नहीं सकती है ।

भाव के प्रति पूर्णतः आश्वस्त होने पर भी आचार्यदेव, ज्ञानी धर्मात्माजन, शब्दादि के सन्दर्भ में हुई भूल को स्वीकार करने में संकोच नहीं करते, क्षमा याचना करने में भी संकोच नहीं करते; यह उनकी महानता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि भूल होगी ही; यहाँ तो मात्र सम्भावना के आधार पर क्षमा याचना की गई है। इसमें से ऐसा अर्थ निकालना कि इसमें अवश्य कोई गलती होगी, क्योंकि आचार्यदेव स्वयं स्वीकार कर रहे हैं – यह हमारी बुद्धि का अजीर्ण ही होगा। यदि चूक जाऊँ तो इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि बात मात्र संभावना की है। चूक होगी ही – ऐसी बात बिल्कुल नहीं है ।

कुछ लोग ऐसी बातें भी करते हैं कि देखो ! आचार्यदेव हमसे क्षमा याचना कर रहे हैं। अरे भाई ! आचार्यदेव हमसे क्षमायाचना करें – यह हमारा सौभाग्य नहीं, दुर्भाग्य है। अरे आचार्यदेव तो तुम्हें सावधान कर रहे हैं कि जिससे तुमसे समझने में कोई भूल न हो जावे। आजकल कुछ

लोग आचार्यों की भूल निकालने में ही सावधान हैं और अपने को बड़ा विद्वान मान रहे हैं ।

यहाँ तो आचार्यदेव हल्की-सी डाट पिला रहे हैं कि कहीं कोई अक्षर मात्रा आदि में चूक हो जावे तो छल ग्रहण नहीं करना, भाव को समझने का प्रयास करना। अरे, भाई ! साफ-साफ ही तो लिखा है कि छल ग्रहण करनें में जागृत नहीं रहना ।

इसी प्रकरण में आचार्य जयसेन तो यहाँ तक लिखते हैं कि दुर्जनों के समान छल ग्रहण न करना ।[१]

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का अभिप्राय भी द्रष्टव्य है -

''अनुभव में तो चूक नहीं है, परन्तु भाषा में, छन्द में या व्याकरण में कहीं कुछ कम-बढ़ आ जाय तो छल ग्रहण कर अर्थ का अनर्थ मत कर वैठना। हम जो कहना चाहते हैं, उस भाव को ध्यान में रखकर सही अर्थ, भाव ग्रहण करना; शब्दों को नहीं पकड़ना। वस्तु के निर्णय करने में अनुभव प्रधान है, उससे भगवान पूर्णानन्द का नाथ स्वसंवेदन में आता है। इस रीति से तू प्रमाण करना ।[२]''

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि आचार्यदेव के वैभव की उत्पत्ति में तो आगम के सेवन, युक्ति के अवलम्बन, परम्पराचार्य गुरु के उपदेश और आत्मा के अनुभव - इन चार बातों को लिया है; पर श्रोताओं से 'अनुभव से प्रमाण करना' - मात्र यही कहा गया है। ऐसा नहीं कहा कि हे पाठको ! तुम भी हमारी इस बात को आगम से मिलान कर, तर्क की कसौटी पर कसकर, परम्पराचार्यों से समझकर प्रमाणित करना ।

उक्त तीन बातें तो हो ही गई हैं; क्योंकि यहाँ आगम के आधार पर ही तो बात कही जा रही है, युक्तियाँ भी भरपूर दी ही जावेंगी और आचार्य

१. यदि च्युतो भवामि तर्हि छलं न ग्राह्यं दुर्जनवदिति ।
२. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ ७९

परम्परा से आगत भी बात है ही; बस शिष्य को तो अब मात्र अनुभव से मिलान करना है, प्रमाणित करना है, अनुभव ही करना है ।

यदि वह समयसार की बात को अन्य आगमों से मिलान करने बैठे, दूसरों से पूछने जाये कि यह सत्य है या असत्य तो समय तो खराब होगा ही, साथ ही यह क्रिया समयसार ग्रन्थाधिराज पर शंका करने जैसी भी होगी। अतः आत्मार्थियों को तो एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा का स्वरूप जो आचार्य बता रहे हैं, उसके आधार पर अन्तरोन्मुख होकर मात्र अनुभव ही करना है, अनुभव से ही प्रमाणित करना है। शेष तीनों बातें तो समयसार के स्वाध्याय से सहज ही सम्पन्न हो जावेंगी ।

आचार्यदेव ने तीन बातों को तो अत्यन्त सुलभ कर दिया है। अरे भाई ! यदि पेट भरना है तो उसके लिए कमाना होगा, भोज्य-पदार्थ बाजार से लाना होगा, उसे बनाना होगा, खाना होगा, चबाना होगा और फिर निगलना भी होगा। इतना तो करना ही होगा, उसके बाद तो भोजन स्वयंचालित प्रक्रिया में चढ़ जावेगा ।

हाँ, यह तो हो सकता है कि कमाकर कोई दूसरा दे दे, अन्य कोई भोज्य-सामग्री बाजार से ला भी सकता है, बना भी सकता है, खिला भी सकता है, कदाचित् चबाने के स्थान पर कूटकर पीसकर भी दे सकता है; पर निगलना तो स्वयं को ही होगा। तुम्हारे भोजन को कोई और निगल तो नहीं सकता। यदि वह निगलेगा तो भोजन उसके पेट में जायेगा, तुम्हारे में नहीं; उससे उसकी भूख मिटेगी, तुम्हारी नहीं ।

यहाँ और सब काम तो आचार्यदेव ने कर ही दिये हैं; पर अनुभव करना तो निगलने के समान है, उसे तो तुम्हें ही करना होगा। जिसप्रकार दूसरे का निगला हुआ भोजन तुम्हें पोषण नहीं दे सकता; उसीप्रकार दूसरे का अनुभव तुम्हारे काम नहीं आयेगा। आत्मा का अनुभव तो तुम्हें ही करना होगा, तभी तुम्हारा कल्याण होगा। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि अनुभव से प्रमाण करना ।

प्रश्न – जब आचार्य कुन्दकुन्द को सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का साक्षात् लाभ प्राप्त हुआ था और उनकी दिव्यध्वनि श्रवण का लाभ भी मिला था तो फिर उनकी देशना को आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने भगवान महावीर की आचार्य परम्परा से क्यों जोड़ा ? कुन्दकुन्द की वाणी को सीमन्धर परमात्मा की वाणी से जोड़कर बात करने से उनकी वाणी में विशेष प्रामाणिकता आती, जिससे लोगों को उनकी वाणी का अध्ययन करने में विशेष रस आता, विशेष उत्साह रहता, विशेष प्रेरणा प्राप्त होती ।

उत्तर – ऊपर-ऊपर से सोचने पर तो ऐसा ही लगता है, पर गंभीरता से विचार करने पर आचार्य अमृतचन्द्र का यह प्रयोग अत्यन्त विवेक-सम्मत प्रतीत होता है। कुन्दकुन्द वाणी को सीमन्धर परमात्मा से जोड़ने पर अनेक प्रश्न खड़े हो जाते ।

सर्वप्रथम तो यही कहा जाने लगता कि इसका क्या प्रमाण है कि उन्हें सीमन्धर परमात्मा की दिव्यध्वनि के श्रवण का अवसर प्राप्त हुआ था। ठोस प्रमाण के अभाव में उनकी वाणी पर ही प्रश्नचिन्ह लग जाता ।

यदि किसी तरह यह प्रमाणित भी कर दिया जाता तो फिर यह प्रश्न खड़ा होता कि कौन-कौन से ग्रन्थ उसके पहले लिखे गये और कौन-कौन से बाद में ? जो पहले लिखे गये थे, उनकी प्रामाणिकता का आधार क्या होता ? यह सिद्ध करना भी आसान नहीं है कि सभी ग्रन्थ बाद में लिखे गये हैं ।

जिन आचार्यों को सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ है; उनकी वाणी की प्रामाणिकता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगता। लोगों को ऐसा प्रतीत होने लगता कि जिन्होंने सीमन्धर परमात्मा की वाणी सुनी है, उनकी वाणी अपेक्षाकृत अधिक प्रामाणिक है; जबकि ऐसा कोई भेद जिनागम में है ही नहीं और होना भी नहीं चाहिए ।

सीमन्धर परमात्मा के दर्शन एवं उनकी वाणी का लाभ मिलना महान सौभाग्य की बात है; पर उसमें आचार्य कुन्दकुन्द को कुछ नया ज्ञान प्राप्त

हुआ था – ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान तो उन्हें पहले से था ही, छठवें-सातवें गुणस्थान की भूमिका के योग्य सम्यक्चारित्र भी था। सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों के वाद भी इससे अधिक कुछ नहीं हुआ था ।

भावलिंगी सच्चे मुनिराजों की यह मर्यादा आगम में बताई गई है कि वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में सातवें गुणस्थान में जाते ही हैं, अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त करते ही हैं, आत्मानुभव करते ही हैं, शुद्धोपयोग में जाते ही हैं ।

पंचमकाल में इससे आगे जाना संभव ही नहीं है। अत: यह सुनिश्चित है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों के पूर्व ही उस चरमबिन्दु को स्पर्श कर लिया था, जिस पर पहुँचना पंचमकाल में संभव था।

यद्यपि यह वात पूर्णत: सत्य है कि आचार्य कुन्दकुन्द को सीमन्धर परमात्मा के दर्शनों का लाभ प्राप्त हुआ था, उनकी दिव्यवाणी श्रवण करने का लाभ भी प्राप्त हुआ था; तथापि यदि कोई इसमें शंका करे तो करो; पर इसमें तो शंका करने को कोई स्थान ही नहीं है कि उन्हें हर अन्तर्मुहूर्त में निज भगवान आत्मा के दर्शनों का लाभ प्राप्त होता था; क्योंकि सभी भावलिंगी मुनिराजों को आचार्यों को इसप्रकार का लाभ प्राप्त होता ही है। यही कारण कि उनकी वाणी आत्मानुभव से प्रसूत होती है और उसे आगम और आगमपाठी पूर्वाचार्यपरम्परा का पृष्ठबल प्राप्त रहता है तथा वह वाणी तर्क की तुला पर नपी-तुली होती है ।

इस समयसार ग्रन्थाधिराज में आचार्य कुन्दकुन्द जिस शुद्धात्म वस्तु का प्रतिपादन करने जा रहे हैं, उसका अनुभव वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में करते थे, उसका रसास्वाद वे प्रत्येक अन्तर्मुहूर्त में लेते थे; अत: उनकी यह वाणी आत्मानुभव से प्रसूत है। मानों वे हर अन्तर्मुहूर्त में आत्मा को देख-देख कर ही उसका स्वरूप इसमें लिखते रहे हैं ।

शुद्धात्मा के प्रतिपादन के अतिरिक्त जो भी जिनागम में आता है, उसे तो सुनकर-पढ़कर ही लिखा जाता है, छद्मस्थों द्वारा पुराण-पुरुषों और

त्रिलोकादि का वर्णन तो सुनकर या पढ़कर ही जाना जाता है; उनका अनुभव तो संभव है ही नहीं, उन्हें तर्क की कसौटी पर कसना भी संभव नहीं है; क्योंकि वे वस्तुयें काल व क्षेत्र से दूरवर्ती हैं; पर आत्मा तो सदा और सर्वत्र हमारे पास ही हैं; पास ही क्या, हम स्वयं आत्मा ही तो हैं। यही कारण है कि आत्मा का अनुभव संभव होता है ।

अतः समयसार के प्रतिपादन को अन्य पुराणादि व त्रिलोकादि के प्रतिपादन के समान मात्र सुनी-सुनाई बात नहीं समझना चाहिए। यह तो आचार्यदेव के अनुभव से निकली हुई बात है और हमें भी इसे अनुभव से ही प्रमाण करना है। पुराणादि और त्रिलोकादि की बात को तो अनुभव से प्रमाण करना संभव है ही नहीं; आत्मा असंख्यप्रदेशी है, अनन्तगुण वाला है – यह जानना भी अनुभव से संभव नहीं है; क्योंकि अनुभव में प्रदेश प्रत्यक्ष नहीं होते, अनन्तगुण भी गिनने में नहीं आते। अतः इन्हें तो आगम प्रमाण के आधार पर स्वीकार करना ही यथेष्ट है, पर्याप्त है; पर आत्मा का अनुभव तो किया ही जा सकता है; अतः आचार्यदेव का यह आदेश उचित ही है कि तुम इसे अनुभव से प्रमाण करना, अनुभव करके प्रमाण करना, इसका अनुभव करना; तुम्हारा कल्याण इसी में है ।

इसप्रकार इस गाथा में शुद्धात्मा के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा करके अब आचार्यदेव मूल विषयवस्तु के प्रतिपादन में संलग्न होते हैं । •

धर्मपिता सर्वज्ञ परमात्मा के विरह में एक जिनवाणी माता ही शरण है। उसकी उपेक्षा हमें अनाथ बना देगी। आज तो उसकी उपासना ही मानों जिनभक्ति, गुरुभक्ति और श्रुतभक्ति है। उपादान के रूप में निजात्मा और निमित्त के रूप में जिनवाणी ही आज हमारा सर्वस्व है। निश्चय से जो कुछ भी हमारे पास है, उसे निजात्मा में और व्यवहार से जो कुछ भी बुद्धि, बल, समय और धन आदि हमारे पास हैं, उन्हें जिनवाणी माता की उपासना, अध्ययन, मनन, चिन्तन, संरक्षण, प्रकाशन, प्रचार व प्रसार में ही लगा देने में इस मानवजीवन एवं जैनकुल में उत्पन्न होने की सार्थकता है ।

– परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ १८४

समयसार गाथा ६

पाँचवीं गाथा में एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा के दिखाने की प्रतिज्ञा की गई थी। अत: अब इस छठवीं गाथा में उस एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा का स्वरूप बताते हैं; और यह भी बताते हैं कि उसे शुद्ध किसप्रकार कहा जाता है। 'वह शुद्धात्मा कौन है ?' – इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही इस गाथा का उदय हुआ है ।

ण वि होदि अप्पमत्तो ण पमत्तो जाणगो दु जो भावो ।
एवं भणंति सुद्धं णादो जो सो दु सो चेव ॥६॥

(हरिगीत)

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥६॥

जो एक ज्ञायकभाव है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है; इसप्रकार उसे शुद्ध कहते हैं और जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह तो वही है; अन्य कोई नहीं ।

आचार्य जयसेन की टीका में इस गाथा में पाठ भेद पाया जाता है। 'सुद्धं' के स्थान पर 'सुद्धा' शब्द है और 'णादो' के स्थान पर 'णादा' शब्द है। इसप्रकार उनके अनुसार इस गाथा का अर्थ इसप्रकार होता है –

"जो एक ज्ञायकभावरूप शुद्धात्मा है, वह अप्रमत्त भी नहीं है और प्रमत्त भी नहीं है – ऐसा शुद्धनय के जाननेवाले महापुरुष कहते हैं। उसे चाहे ज्ञायक कहो या शुद्ध कहो एक ही बात है; बस वह तो वही है, ज्ञाता ही है ।"

यहाँ ही यह भी कहा गया है कि 'प्रमत्त' शब्द से आरंभिक छह गुणस्थान ग्रहण करना और 'अप्रमत्त' शब्द से अन्त के आठ गुणस्थान लेना चाहिए। इसप्रकार यहाँ ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा को गुणस्थानातीत कहकर शुद्ध कहा गया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की जो टीका लिखी है, वह अत्यन्त गम्भीर है; जो गहराई से मंथन करने की अपेक्षा रखती है। पण्डित जयचन्दजी छावड़ा के अनुसार उसका अर्थ और भावार्थ इसप्रकार है -

''जो स्वयं अपने से ही सिद्ध होने से (किसी से उत्पन्न हुआ न होने से) अनादि सत्तारूप है, कभी विनाश को प्राप्त न होने से अनन्त है, नित्य उद्योतरूप होने से क्षणिक नहीं है और स्पष्ट प्रकाशमान ज्योति है; ऐसा जो ज्ञायक एक 'भाव' है, वह संसार की अवस्था में अनादि बंधपर्याय की निरूपणा से (अपेक्षा से) क्षीर-नीर की भाँति कर्मपुद्गलों के साथ एकरूप होने पर भी, द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा से देखा जाय तो दुरन्त कषायचक्र के उदय की (कषायसमूह के अपार उदयों की) विचित्रता के वश से प्रवर्त्तमान पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले समस्त अनेकरूप शुभाशुभ भाव, उनके स्वभावरूप परिणमित नहीं होता (ज्ञायकभाव से जड़भावरूप नहीं होता), इसलिए वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वही समस्त अन्य द्रव्यों के भावों से भिन्नरूप से उपासित होता हुआ 'शुद्ध' कहलाता है।

और जैसे दाह्य (जलने योग्य पदार्थ) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं, तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उस 'भाव' के ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की (स्वरूप को जानने की) अवस्था में भी, दीपक की भाँति, कर्त्ता-कर्म का अनन्यत्व (एकता) होने से ज्ञायक ही है - स्वयं जाननेवाला है; इसलिए स्वयं कर्त्ता और अपने को जाना इसलिए स्वयं ही कर्म है। (जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को - अपनी ज्योतिरूप शिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञायक का समझना चाहिए ।)

भावार्थ :- अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से आती है। उसमें मूलद्रव्य तो अन्य द्रव्यरूप नहीं होता, मात्र परद्रव्य के निमित्त से अवस्था मलिन हो

जाती है। द्रव्यदृष्टि से तो द्रव्य जो है वही है और पर्याय (अवस्था) दृष्टि से देखा जाये तो मलिन ही दिखाई देता है। इसीप्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञायकत्वमात्र है; और उसकी अवस्था पुद्गलकर्म के निमित्त से रागादिरूप मलिन है, वह पर्याय है। पर्यायदृष्टि से देखा जाये तो वह मलिन ही दिखाई देता है और द्रव्यदृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकत्व तो ज्ञायकत्व ही है; वह कहीं जड़त्व नहीं हुआ। यहाँ द्रव्यदृष्टि को प्रधान करके कहा है। जो प्रमत्त-अप्रमत्त के भेद हैं, वे परद्रव्य की संयोगजनित पर्यायें हैं। यह अशुद्धता द्रव्यदृष्टि में गौण है, व्यवहार है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है, उपचार है। द्रव्यदृष्टि शुद्ध है, अभेद है, निश्चय है, भूतार्थ है, सत्यार्थ है, परमार्थ है। इसलिए आत्मा ज्ञायक ही है; उसमें भेद नहीं हैं; इसलिए वह प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है। 'ज्ञायक' नाम भी उसे ज्ञेय को जानने से दिया जाता है; क्योंकि ज्ञेय का प्रतिविम्व जव झलकता है, तव ज्ञान में वैसा ही अनुभव होता है। तथापि उसे ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है; क्योंकि जैसा ज्ञेय ज्ञान में प्रतिभासित हुआ वैसा ज्ञायक का ही अनुभव करने पर ज्ञायक ही है। 'यह जो मैं जाननेवाला हूँ सो मैं ही हूँ, अन्य कोई नहीं' - ऐसा अपने को अपना अभेदरूप अनुभव हुआ, तव इस जाननेरूप क्रिया का कर्त्ता स्वयं ही है, और जिसे जाना वह कर्म भी स्वयं ही है। ऐसा एक ज्ञायकत्व मात्र स्वयं शुद्ध है। - यह शुद्धनय का विषय है। अन्य जो परसंयोगजनित भेद हैं, वे सव भेदरूप अशुद्धद्रव्यार्थिकनय के विषय हैं। अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है, इसलिए व्यवहारनय ही है ऐसा आशय समझना चाहिए।

यहाँ यह भी जानना चाहिए कि जिनमत का कथन स्याद्वादरूप है, इसलिए अशुद्धनय को सर्वथा असत्यार्थ न माना जाए; क्योंकि स्याद्वाद प्रमाण से शुद्धता और अशुद्धता - दोनों वस्तु के धर्म हैं और वस्तुधर्म वस्तु का सत्व है; अन्तर मात्र इतना ही है कि अशुद्धता परद्रव्य के संयोग से होती है।

अशुद्धनय को यहाँ हेय कहा है, क्योंकि अशुद्धनय का विषय संसार है और संसार में आत्मा क्लेश भोगता है; जब स्वयं परद्रव्य से भिन्न होता है, तब संसार छूटता है और क्लेश दूर होता है। इसप्रकार दुःख मिटाने के लिये शुद्धनय का उपदेश प्रधान है। अशुद्धनय को असत्यार्थ कहने से यह न समझना चाहिए कि आकाश के फूल की भाँति वह वस्तुधर्म सर्वथा ही नहीं है, ऐसा सर्वथा एकान्त समझने से मिथ्यात्व होता है; इसलिए स्याद्वाद की शरण लेकर शुद्धनय का आलम्बन लेना चाहिए। स्वरूप की प्राप्ति होने के बाद शुद्धनय का भी आलम्बन नहीं रहता। जो वस्तुस्वरूप है, वह है :- यह प्रमाणदृष्टि है। इसका फल वीतरागता है। इसप्रकार निश्चय करना योग्य है ।

यहाँ, (ज्ञायकभाव) प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है - ऐसा कहा है। वह गुणस्थानों की परिपाटी में छट्ठे गुणस्थान तक प्रमत्त और सातवें से लेकर अप्रमत्त कहलाता है। किन्तु यह सब गुणस्थान अशुद्धनय की कथनी में हैं; शुद्धनय से तो आत्मा ज्ञायक ही है ।"

इस गाथा में दृष्टि के विषय को स्पष्ट किया जा रहा है। तात्पर्य यह है कि जिस आत्मा में अपनापन स्थापित करने का नाम सम्यग्दर्शन है, जिस आत्मा का ध्यान करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, और जिस आत्मा के जानने का नाम परमशुद्धनिश्चयनय है तथा जो आत्मा परमपारिणामिकभावरूप है; उस भगवान आत्मा का स्वरूप ही यहाँ स्पष्ट किया जा रहा है। उसी भगवान आत्मा को इस गाथा में ज्ञायकभाव नाम से संबोधित किया गया है ।

परमपारिणामिकभावरूप होने पर भी यहाँ उसे पारिणामिकभाव न कहकर ज्ञायकभाव ही कहा है; क्योंकि पारिणामिकभाव तो सभी द्रव्यों में समानरूप से पाया जाता है, पर ज्ञायकभाव आत्मा का असाधारण भाव है।

यह ज्ञायकभाव वही है, जिसे पिछली गाथाओं में एकत्व-विभक्त भगवान आत्मा कहा गया है। अब यहाँ यह कहा जा रहा है कि वह एकत्व-

विभक्त ज्ञायकभाव प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; वह तो प्रमत्त और अप्रमत्त से परे गुणस्थानातीत है ।

यद्यपि सिद्ध भी गुणस्थानातीत हैं, तथापि यहाँ सिद्धपर्याय की बात नहीं हैं; यहाँ तो गुणस्थानों में रहते हुए भी जो ज्ञायकभाव गुणस्थानरूप नहीं होता, उसकी बात है। यह ज्ञायकभाव न सिद्ध है और न संसारी है, यह तो संसारी और सिद्ध – दोनों अवस्थाओं में समानरूप से गुणस्थानातीत है। इसमें न गुणस्थानरूप अवस्था है और न गुणस्थानों के अभावरूप अवस्था है; यह अवस्थारूप है ही नहीं, यह तो त्रिकाली ध्रुवस्वभावरूप भाव है। यह पर्यायस्वभाव की बात नहीं है, द्रव्यस्वभाव की बात है ।

यह उस ज्ञायकभावरूप द्रव्यस्वभाव की बात है जो अनादि-अनन्त, नित्य उद्योतरूप है। यह स्वयंसिद्ध है, किसी से उत्पन्न नहीं हुआ है, अतः अनादि सत्तास्वरूप है; इसका कभी नाश नहीं होगा, अतः अनन्त है; क्षण-क्षण में विनाश को प्राप्त नहीं होता, इसलिए नित्य उद्योतरूप है; और ज्ञानियों के नित्य अनुभव में आता है, गुप्त नहीं है, प्रगट है; अतः प्रकाशमानज्योति है ।

ऐसा यह भगवान आत्मा मैं स्वयं ही हूँ। यह किसी अन्य की बात नहीं है, अपने ही आत्मा की बात है, अपने ही आत्मस्वभाव की बात है। प्रमत्त और अप्रमत्त दशाओं से पार यह त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव मैं ही हूँ; इसमें ही अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है; अतः यही दृष्टि का विषय है। यही ध्यान का ध्येय है, इसमें ही लीन होने का नाम ध्यान है; इसमें ही लगातार अन्तर्मुहूर्त तक लीन रहने से केवलज्ञान और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति होती है। मुक्तिमार्ग का मूल आधार यही ज्ञायकभाव है; अतः यही एकमात्र परम-उपादेय है ।

अब यह स्पष्ट करते हैं कि यह ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त क्यों नहीं है ? तात्पर्य यह है कि 'ज्ञायकभाव प्रमत्त और अप्रमत्त नहीं है' – इस कथन की विवक्षा क्या है ?

यद्यपि अनादि बंधपर्याय की अपेक्षा यह ज्ञायकभाव संसार अवस्था में पुद्गलकर्मों के साथ दूध-पानी की तरह एकमेक हो रहा है; तथापि जब द्रव्यस्वभाव की अपेक्षा से देखते हैं तो शुभाशुभभावों के स्वभावरूप परिणमित नहीं होने से प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है ।

ज्ञानावरणादि पुद्गलकर्म और उनके उदय में होनेवाले शरीरादि संयोगों के साथ ज्ञायकभाव का संबंध दूध और पानी की तरह है। यह कहकर दोनों के संबंध का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। तात्पर्य यह है कि आत्मा और कर्मों का संबंध न तो ज्ञान और आत्मा के समान तादात्म्यसंबंधरूप ही है और न एक बर्तन में एकसाथ रखे हुए गेहुँओं और कंकणों के समान एकदम औपचारिक ही है; अपितु वे दोनों एक न होकर भी दूध और पानी के समान एकमेक अवश्य हो रहे हैं। कंकण और गेहूँ तो एकदम पृथक्-पृथक् ही हैं, उनका तो परस्पर मात्र इतना ही संबंध है कि वे एक बर्तन में एकसाथ रखे हुए हैं; पर दूध-पानी की स्थिति ऐसी नहीं है, वे पूर्णतः एकक्षेत्रावगाह हो गये हैं, फिर भी हैं तो पृथक्-पृथक् ही। गेहूँ और कंकणों का तो क्षेत्र भी अलग-अलग है, पर दूध और पानी आकाश के एकक्षेत्र में ही एकसाथ रह रहे हैं। यद्यपि आत्मा और कर्म दूध-पानी की तरह एकक्षेत्रावगाही होकर भी पृथक्-पृथक् ही हैं, तथापि बंधपर्याय की ओर से देखने पर उन्हें एकरूप ही कहते हैं ।

जिनका अन्त अत्यन्त कठिन है, ऐसी विभिन्न प्रकार की कषायों के उदय के वश होकर, पुण्य-पाप को उत्पन्न करनेवाले जो अनेकप्रकार के शुभाशुभभाव होते हैं, उनके स्वभावरूप यह भगवान आत्मा परिणमित नहीं होता; इसकारण वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है। यह द्रव्यस्वभाव की बात है।

शुभाशुभभाव के स्वभावरूप परिणमित होना एकप्रकार से जड़रूप परिणमित होना ही है; क्योंकि यह परिणमन जड़कर्म के उदय के वश होता है। जिसप्रकार मालिक की आज्ञा से भृत्य द्वारा किए गये कार्य को मालिक का ही कार्य कहा जाता है; उसीप्रकार जिसके वश जो परिणमन होता है,

उस परिणमन को उसी का कहा जाता है। अतः जड़कर्म के उदय के वश से हुए शुभाशुभभावों को जड़रूप ही कहा जाता है। समयसार गाथा ७२ की आत्मख्याति टीका में भी शुभाशुभरूप विभावभावों को जड़स्वभावी कहा गया है। यह ज्ञायकभाव उन शुभाशुभभावोंरूप परिणमित नहीं होता; इसीकारण वह प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है ।

जड़कर्म के वश का अर्थ यह नहीं समझना कि जड़कर्म उसे बलात् अपने वश में करता है, अपितु यह जीव स्वयं अपनी कमजोरी के कारण, पर्यायगत योग्यता के कारण उनके वश होता है। यह एक स्वतंत्र प्रकरण है और विशेष स्पष्टीकरण के लिए गहरे मंथन की अपेक्षा रखता है। यहाँ इसका विस्तार अभीष्ट नहीं है। आगे यथास्थान इस पर विशेष प्रकाश डाला जावेगा ।

ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ ऐसा नहीं कहा कि अशुभभावरूप परिणमित नहीं होने से प्रमत्त नहीं है और शुभभावरूप परिणमित नहीं होने से अप्रमत्त नहीं है; अपितु ऐसा कहा है कि शुभाशुभभावरूप परिणमित न होने से प्रमत्त भी नहीं है और अप्रमत्त भी नहीं है; क्योंकि शुभ और अशुभ दोनों ही भाव प्रमत्तभाव हैं और उनके अभाव में होनेवाले निर्मलभाव - शुद्धभाव अप्रमत्तभाव हैं। ज्ञायकभाव न तो मलिनभावोंरूप ही है और न पर्यायगत निर्मलभावोंरूप ही है; क्योंकि वह परिणमनरूप ही नहीं है, वह तो अपरिणामी तत्त्व हैं ।

वह अपरिणामी ज्ञायकभाव अन्य द्रव्यों और उनके भावों से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

परपदार्थों और उनके भावों से भिन्न होने के कारण यद्यपि यह ज्ञायकभाव सदा शुद्ध ही है, तथापि जबतक यह ज्ञायकभाव अपने श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र का विषय नहीं बनता, अनुभूति में नहीं आता; तबतक उसके शुद्ध होने का लाभ पर्याय में प्राप्त नहीं होता, आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका नहीं जगती, मिथ्यात्व ग्रन्थि का भेद नहीं होता। अतः यह कहा गया है कि वह परभावों से भिन्न उपासित होता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इस विषय को इसप्रकार स्पष्ट किया करते थे –

"परद्रव्यों और उनके भावों से भिन्न भगवान आत्मा शुद्ध तो है, पर किसको ? जिसने जाना, उसको। आत्मा का अनुभव किए बिना ही जो ऐसे ही शुद्ध-शुद्ध कहा करे, उसे ज्ञायकभाव के शुद्ध होने का लाभ प्राप्त नहीं होता। ज्ञायकभाव तो सदा शुद्ध ही है, परन्तु पर्याय में शुद्धता उसके अनुभव से ही आती है ।"

इसप्रकार गाथा के आरंभिक तीन पदों का भाव यह सुनिश्चित हुआ कि यह ज्ञायकभाव प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं है, गुणस्थानातीत है, परद्रव्य और उनके भावों से सर्वथा भिन्न है, पर के साथ इसका कोई भी संबंध नहीं है; इसीकारण वह पर से भिन्न अनुभव में आता हुआ शुद्ध कहलाता है ।

यहाँ पर से भिन्नता को शुद्धि कहा है; अतः पर के साथ किसी भी प्रकार के संबंध को अशुद्धि कहना अनुचित नहीं है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमित होता है तो ज्ञेयों के साथ ज्ञायक का ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी हो ही गया। परज्ञेयों के साथ संबंध सिद्ध हो जाने पर ज्ञायक को अशुद्धता का प्रसंग भी उपस्थित होगा ही। ऐसी स्थिति में उसे शुद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

इसी प्रश्न का उत्तर गाथा के चौथे पद में दिया गया है, जिसका अर्थ आत्मख्याति में यह किया गया है कि 'जिसप्रकार दाह्य (ईंधन) के आकार होने से अग्नि को दहन कहते हैं, तथापि उसके दाह्यकृत अशुद्धता नहीं होती; उसीप्रकार ज्ञेयाकार होने से उसके ज्ञायकता प्रसिद्ध है, तथापि उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं है ।'

जिस आकार का कोयला, लकड़ी, कंडा (उपला-छाणा) आदि ईंधन होता है, उसे जलानेवाली अग्नि भी उसी आकार को धारण कर लेती है; फिर भी ईंधन में रहनेवाली अशुद्धि अग्नि में नहीं आती ।

इसीप्रकार ज्ञेयों को जानने के कारण ही आत्मा को ज्ञायक नाम दिया गया है, तथापि परज्ञेयों से आत्मा का कोई संबंध नहीं है; अतः उसके ज्ञेयकृत अशुद्धता भी नहीं होती ।

ज्ञेय तो ज्ञान की पर्याय में सहजभाव से ही झलकते हैं। न तो ज्ञेयों को जानने के लिए ज्ञान ज्ञेयों के पास जाता है और न ज्ञेय ही ज्ञान के पास आते हैं; ज्ञान ज्ञान में रहता है और ज्ञेय ज्ञेयों में रहते हैं। दोनों पूर्णतः स्वाधीन हैं, कोई किसी के आधीन नहीं है, दोनों का सहज ही ऐसा स्वभाव है और दोनों अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप स्वयं ही सहजभाव से प्रवर्तते हैं; अतः दोनों में निश्चय से कोई संबंध नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार भासित होते हैं; वे सभी आकार मूलतः तो ज्ञान के ही हैं; क्योंकि ज्ञान ही स्वयं उन आकारोंरूप परिणमित हुआ है, ज्ञेयों के आकार तो ज्ञेयों में ही रहे हैं; वे ज्ञान में आये ही नहीं हैं; उनके निमित्त से ज्ञान में ही ये आकार निर्मित हुए हैं। अतः वे आकार ज्ञान के ही हैं, ज्ञेयों के नहीं; ज्ञेय तो उनमें मात्र निमित्त हैं। ज्ञान तो ज्ञानाकार ही रहा, ज्ञेयाकार हुआ ही नहीं; अतः उसे अशुद्ध कैसे कहा जा सकता है ?

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के स्पष्टीकरण का भाव इसप्रकार है -

"ज्ञेयों का ज्ञान ज्ञान की अवस्था है, ज्ञेयों की नहीं। साक्षात् तीर्थंकर परमात्मा हमारे ज्ञान के ज्ञेय बनें, उन्हें जाननेरूप हमारा ज्ञान परिणमित हो; तब भी जो ज्ञान होगा, वह स्वयं से ही होगा, पर के कारण नहीं, तीर्थंकरदेव के कारण नहीं ।

भगवान को जानते समय भी भगवान नहीं, तत्संबंधी ज्ञान ही जानने में आता है। पर को जानते समय भी, ज्ञान का परिणमन ज्ञान (स्व) के कारण होता है, ज्ञेय (पर) के कारण नहीं। 'ज्ञेय हैं' - इसकारण ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकार होता है। - यह बात भी नहीं है। ज्ञेय को जाननेरूप ज्ञान की

योग्यता के कारण ही ज्ञान का परिणमन ज्ञेयाकार होता है। इसकारण ज्ञान में ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं होती ।[१]"

स्वामीजी के स्पष्टीकरण में इस बात पर विशेष बल दिया गया है कि ज्ञान के ज्ञेयाकार परिणमन में ज्ञेय कारण बने तो ही ज्ञान में ज्ञेयकृत अशुद्धता आ सकती है; किन्तु ज्ञान का परिणमन तो स्वयं अपनी योग्यता से स्वतंत्र ही होता है; अतः ज्ञान में ज्ञेयकृत अशुद्धता नहीं हो सकती। वस्तुतः बात तो यह है कि ज्ञान में ज्ञेयों के जो आकार भासित होते हैं, वे आकार ज्ञान की ही पर्यायें हैं, ज्ञेयों की नहीं; अतः यह स्पष्ट है कि ज्ञान ज्ञानाकार ही रहा। – ऐसी स्थिति में उसमें ज्ञेयकृत अशुद्धता किसप्रकार हो सकती है ?

प्रश्न – यदि यह बात है तो फिर उसे ज्ञेयाकार क्यों कहा जाता है ?

उत्तर – यह बताने के लिए कि अमुक ज्ञानपर्याय के ज्ञेय अमुक पदार्थ ही बने हैं। पर्वत को जाननेवाले ज्ञान को पर्वताकार इसलिए कहा जाता है कि जिससे यह पता चल सके कि इस ज्ञान का ज्ञेय पर्वत ही बना है, अन्य पदार्थ नहीं। बस, इसीकारण ज्ञानाकारों को ज्ञेयाकार कहा जाता है और यह कथन मात्र उपचार ही है, जो प्रयोजन विशेष से किया गया है ।

प्रश्न – आप कुछ भी कहें, पर भगवान आत्मा का ज्ञायक नाम तो ज्ञेयों को जानने के कारण ही पड़ा है न ?

उत्तर – हाँ, यह बात तो सही है; पर ज्ञायकभाव स्वयं भी तो एक ज्ञेय है। अतः एकान्त से यह कैसे कहा जा सकता है कि परज्ञेयों के जानने के कारण ही आत्मा का नाम ज्ञायक पड़ा है; स्वज्ञेय को जानने के कारण भी तो उसे ज्ञायक ही कहा जायेगा। इस बात को आचार्यदेव ने दीपक का उदाहरण देकर स्पष्ट किया है ।

जिसप्रकार दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करता है, उसीप्रकार वह स्वयं को भी प्रकाशित करता है; क्योंकि दीपक को प्रकाशित करने के लिए अन्य दीपक की आवश्यकता नहीं होती। मात्र पर को प्रकाशित करने के

१. प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १, पृष्ठ ९८

कारण ही उसे दीपक नहीं कहा जाता, अपितु स्वयं को प्रकाशित करने के कारण भी वह दीपक ही है। ठीक इसीप्रकार यह ज्ञायकभाव मात्र दूसरों को जानने के कारण ही ज्ञायक नहीं है, अपितु स्वयं को जानने के कारण भी ज्ञायक ही है ।

निश्चय से कर्ता और कर्म भिन्न-भिन्न नहीं होते, अभिन्न ही होते हैं। यहाँ ज्ञाता भी ज्ञायक है और ज्ञेय भी ज्ञायक ही है। यदि ज्ञानक्रिया को कर्ता-कर्म के रूप में घटित करें तो यह कहा जायेगा कि ज्ञानक्रिया का ज्ञायक ही कर्ता है और जानने में भी ज्ञायक ही आया; अतः वही कर्म भी हुआ। इसप्रकार यहाँ कर्ता-कर्म की अनन्यता के कारण ज्ञेय और ज्ञाता दोनों एक ज्ञायकभाव ही रहा; क्योंकि आत्मा अनुभव में भी ज्ञायकरूप से ही ज्ञात होता है, जानने के स्वभाववाले के रूप में ही ज्ञात होता है ।

इसप्रकार जब ज्ञाता और ज्ञेय दोनों ही रूपों में एक ज्ञायकभाव ही सुनिश्चित हो गया तो फिर परज्ञेय की बात ही कहाँ रही, जिसके कारण ज्ञायकभाव को अशुद्धता का प्रसंग आवे। इसीलिए तो कहा है कि यह ज्ञायकभाव उपासित होता हुआ शुद्ध कहा जाता है, अनुभव में आता हुआ शुद्ध कहा जाता है। अनुभव के काल में जब ज्ञायकभाव परज्ञेय का ज्ञाता ही नहीं रहा तो परज्ञेय के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के कारण आनेवाली अशुद्धता का कोई प्रश्न ही नहीं रहता। यही कारण है कि उपासित होते हुए ज्ञायकभाव को शुद्ध कहा है ।

अतः यह ठीक ही कहा है कि जैसे दीपक घट-पटादि को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक है और अपने को – अपनी ज्योतिशिखा को प्रकाशित करने की अवस्था में भी दीपक ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार ज्ञेयाकार अवस्था में जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ, वह स्वरूपप्रकाशन की अवस्था में भी कर्ता-कर्म के अनन्यत्व होने के कारण ज्ञायक ही है ।

इसप्रकार गाथा की उत्थानिका में जो प्रश्न उपस्थित किया गया था कि वह शुद्धात्मा कौन है; उसका समाधान हो गया कि प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों

से रहित ज्ञायकभावरूप से ज्ञात होता हुआ, अनुभव में आता हुआ आत्मा ही शुद्धात्मा है ।

प्रश्न – आप इस बात पर विशेष बल दे रहे हैं कि ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ आत्मा ही शुद्धात्मा है। 'ज्ञायकरूप से ज्ञात हुआ' का क्या कोई विशेष अर्थ है ?

उत्तर – यह भगवान आत्मा स्वयं ज्ञेय भी है और ज्ञायक भी है। तात्पर्य यह है कि यह जानने में भी आता है और जानता भी है। जानने में आने के कारण इसे ज्ञेय कहते हैं और जाननेवाला होने से ज्ञायक कहते हैं। ज्ञेय तो सभी पदार्थ हैं। आत्मा भी ज्ञेय है और आत्मा से भिन्न अन्य पदार्थ भी ज्ञेय हैं; पर जीवद्रव्य को छोड़कर शेष सभी द्रव्य कुछ नहीं जानते हैं। इसतरह जानना यह आत्मा का विशेष गुण है, जो अन्य अजीवद्रव्यों में नहीं पाया जाता है; यही कारण है कि यह गुण आत्मा को पर से विभक्त करता है, विभक्त करने का हेतु बनता है ।

यह ज्ञायकभाव आत्मा का ऐसा विशेष गुण है कि जानने का काम तो करता ही है, आत्मा की पहिचान का चिन्ह भी बनता है। अनुभूति में भी जो भगवान आत्मा ज्ञान का ज्ञेय बनता है, उसमें भी आत्मा के ज्ञायकभाव की ही मुख्यता होती है, ज्ञेयभाव की नहीं। अतः यह कहना उचित ही नहीं, आवश्यक भी है कि अनुभूति में भगवान आत्मा ज्ञायकरूप से ज्ञात होता है।

यद्यपि 'ज्ञायकभाव' इस शब्द का वाच्य भगवान आत्मा अनन्तगुणों का अखण्ड पिण्ड है, ज्ञायकभाव में अनन्तगुण व्याप्त हैं, अनुभव में भी अखण्ड अभेद आत्मा ही आता है; तथापि ज्ञायकता उसकी विशेष पहिचान है; अतः यह कहा जाता है कि अनुभूति में भगवान आत्मा ज्ञायकभाव से ज्ञात होता है ।

गहराई से जानने की बात यह है कि इस गाथा में व्यवहारोत्पादक होने से भगवान आत्मा के पर के साथ होनेवाले सर्व संबंधों का निषेध किया गया है। यहाँ तक कि ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को भी अशुद्धि कहा गया है।

यही कारण है कि ज्ञायकभाव को उपासित होता हुआ, अनुभव में आता हुआ शुद्ध कहा गया है; क्योंकि अनुभव के काल में आत्मा का पर के साथ ज्ञेय-ज्ञायक संबंध भी छूट जाता है; वहाँ तो एक शुद्ध ज्ञायकभाव ही अनुभव में आता है। आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक – इसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक भी अभेद ही हो जाते हैं ।

अगली गाथा में आचार्यदेव ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुणों के भेद को भी व्यवहारोत्पादक होने से अशुद्धि बताकर निषेध करनेवाले हैं; क्योंकि अनुभव के काल में गुणभेद भी नजर नहीं आता। अनुभव के काल में ज्ञायकभाव जैसा नजर आता है, परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत वही ज्ञायकभाव शुद्ध कहलाता है – यह स्पष्ट करना भी उक्त कथन का मूल प्रयोजन है ।

इसप्रकार इन छठवीं-सातवीं गाथाओं में दृष्टि का विषय पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है। यही कारण है कि इन गाथाओं को समयसार का भी सार कहा जाता है; क्योंकि इनमें सम्पूर्ण समयसार का सार आ जाता है ।

देख ! देख !! देख !!!

अपनी ओर देख ! एक बार इसी जिज्ञासा से अपनी ओर देख !! जानने लायक, देखने लायक एकमात्र आत्मा ही है, अपना आत्मा ही है। यह आत्मा शब्दों में नहीं समझाया जा सकता, इसे वाणी से नहीं बताया जा सकता। यह शब्दजाल और वाक्विलास से परे है। यह मात्र जानने की वस्तु है, अनुभवगम्य है। यह अनुभवगम्य आत्मवस्तु ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का कन्द है। अतः समस्त परपदार्थों, उनके भावों एवं अपनी आत्मा में उठनेवाले विकारी-अविकारी भावों से भी दृष्टि हटाकर एक बार अन्तर में झाँक ! अन्तर में देख, अन्तर में ही देख ! देख !! देख !!!

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७६

समयसार गाथा ७

अव यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि पर के साथ का ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध भी जव व्यवहार होने से अशुद्धि का जनक है; तब तो विकल्पोत्पादक गुणभेद भी व्यवहार होने से अशुद्धि का ही जनक होगा। ऐसी स्थिति में आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है – ऐसा कहना भी असत्यार्थ होगा ?

इसी प्रश्न के उत्तर में सातवीं गाथा का उद्‌भव हुआ है, जो इसप्रकार है –

ववहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं ।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥७॥

(हरिगीत)

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं – यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥७॥

ज्ञानी (आत्मा) के ज्ञान, दर्शन और चारित्र – ये तीन भाव व्यवहार से कहे जाते हैं; निश्चय से ज्ञान भी नहीं है, दर्शन भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; ज्ञानी (आत्मा) तो एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।

'आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र गुण नहीं है' – यह बात नहीं है; क्योंकि आत्मा तो ज्ञानादि अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड ही है और ज्ञानादि गुणों के अखण्डपिण्डरूप आत्मा को ही ज्ञायकभाव कहते हैं ।

छठवीं गाथा में ज्ञायकभाव को उपासित होता हुआ शुद्ध कहा था, अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहा था और अनुभूति निर्विकल्पदशा में ही होती है। गुणों के विस्तार में जाने से, भेदों में जाने से विकल्पों की उत्पत्ति होती है, इसकारण अनुभूति के विषयभूत ज्ञायकभाव में गुणभेद का निषेध किया गया है ।

गुणभेद अनुपचरित-सद्‌भूतव्यवहारनय का विषय है और ज्ञायकभाव व्यवहारातीत है; इसकारण त्रिकारी ध्रुव ज्ञायकभाव में गुणभेद का निषेध किया

गया है। छठवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों का निषेध किया गया था। इसप्रकार अब उपचरित और अनुपचरित दोनों ही सद्भूतव्यवहारनयों का निषेध हो गया है। उपचरित और अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयों का निषेध तो तीसरी गाथा की टीका में ही कर आये हैं और 'परद्रव्यों से भिन्न उपासित होता हुआ' – कहकर छठवीं गाथा की टीका में भी कर दिया है ।

छठवीं व सातवीं गाथा में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय एवं अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का भी निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार चारों ही प्रकार के व्यवहारनयों का निषेध हो गया है ।

इसप्रकार पर से भिन्न, प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों से भिन्न एवं गुणभेद से भी भिन्न ज्ञायकभाव अनुभूति में आता हुआ शुद्ध कहलाता है। त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव की शुद्धता का वास्तविक स्वरूप यही है और यही शुद्धस्वभाव दृष्टि का विषय है, ध्यान का ध्येय है और परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत परमपदार्थ है तथा परमभावग्राही द्रव्यार्थिकनय का विषयभूत परमपारिणामिकभाव है; इसे ही यहाँ शुद्ध ज्ञायकभाव शब्द से अभिहित किया गया है ।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि गुणभेद भी तो वस्तु का स्वभाव है, पर्यायें भी वस्तु का अंश हैं; उनका मूलवस्तु में निषेध कैसे किया जा सकता है ?

इसीप्रकार का प्रश्न उठाते हुए पण्डित जयचन्दजी छावड़ा इसी गाथा के भावार्थ में लिखते हैं –

"इसप्रकार अभेद में भेद किया जाता है, इसलिए वह व्यवहार है। यदि परमार्थ से विचार किया जाय तो एक द्रव्य अनन्त पर्यायों को अभेदरूप से पीकर बैठा है, इसलिए उसमें भेद नहीं है ।

यहाँ कोई कह सकता है कि पर्यायें भी द्रव्य के ही भेद हैं, अवस्तु नहीं; तब फिर उन्हें व्यवहार कैसे कहा जा सकता है ?

उसका समाधान यह है – यह ठीक है, किन्तु यहाँ द्रव्यदृष्टि से अभेद को प्रधान करके उपदेश दिया है। अभेददृष्टि में भेद को गौण करने से ही

अभेद भली-भाँति मालूम हो सकता है। इसलिए भेद को गौण करके उसे व्यवहार कहा है । यहाँ यह अभिप्राय है कि भेददृष्टि में भी निर्विकल्प दशा नहीं होती और सरागी के विकल्प होते रहते हैं; इसलिए जहाँ तक रागादिक दूर नहीं हो जाते, वहाँतक भेद को गौण करके अभेदरूप निर्विकल्प अनुभव कराया गया है। वीतराग होने के बाद भेदाभेदरूप वस्तु का ज्ञाता हो जाता है, वहाँ नय का आलम्बन ही नहीं रहता ।"

पर्यायार्थिकनय का विषय होने से गुणभेद को भी पर्याय कहते हैं। गुणों को तो सहभावीपर्याय कहा ही जाता है। यहाँ जयचन्दजी के भावार्थ में जो पर्याय शब्द का प्रयोग हुआ है, वह गुण और गुणभेद के अर्थ में ही समझना चाहिए। भावार्थ को ध्यानपूर्वक पढ़ने से यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है ।

जयचन्दजी छावड़ा के भावार्थ में उठाये गये प्रश्न और दिये गये उत्तर का जो स्पष्टीकरण स्वामीजी ने किया है, उसका सार इसप्रकार है -

"शिष्य का प्रश्न ठीक से समझना चाहिए। गुणभेदरूप पर्याय द्रव्य का ही अंश है, अवस्तु नहीं। यहाँ अवस्तु का अर्थ परवस्तु समझना चाहिए। जिसप्रकार शरीर परवस्तु है, कर्म परवस्तु है; भेदरूप पर्याय उसप्रकार की परवस्तु नहीं है। पर्याय तो स्वद्रव्य का ही अंश है, अतः निश्चय है; उसे व्यवहारनय कैसे कहा जाता है ? - यह प्रश्न है शिष्य का ।

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए यहाँ कहा गया है कि यद्यपि पर्याय वस्तु का ही भेद है, अवस्तु नहीं, परवस्तु नहीं; तथापि यहाँ पर्यायदृष्टि छुड़ाकर द्रव्यदृष्टि कराने का प्रयोजन होने से अभेद को मुख्य करके उपदेश दिया गया है। भेद को गौण करने पर ही अभेद भलि-भाँति प्रतिभासित होता है; इसलिए यहाँ भेद को गौण किया गया है। ध्यान रहे, यहाँ भेद को (भेदरूप व्यवहार को) गौण किया गया है, उसका अभाव नहीं किया गया है ।

यहाँ अभिप्राय यह है कि भेददृष्टि में निर्विकल्पदशा नहीं होती, सम्यग्दर्शन नहीं होता; अपितु राग ही उत्पन्न होता है। अनन्तगुणात्मक,

अनन्तधर्मात्मक भगवान आत्मा के ज्ञान, दर्शन, चारित्र, प्रभुता, स्वच्छता आदि अनन्त गुणों को लक्ष्य में लेने पर राग ही उत्पन्न होता है। नवतत्त्वों के भेद की बात तो दूर ही रहो, यदि गुण-गुणी का भेद भी खड़ा होगा तो निर्विकल्पदशा नहीं होगी। वस्तु और उसकी शक्तियाँ – ऐसा भेद भी दृष्टि का विषय नहीं बनता। दृष्टि का विषय तो अभेद, अखण्ड, एक ज्ञायकभाव ही है। दृष्टि स्वयं पर्याय है, वह भी दृष्टि के विषय में नहीं आती, वह भी ध्यान का ध्येय नहीं बनती ।

प्रश्न – वर्तमान पर्याय को दृष्टि के विषय में मिलाना कि नहीं ?

उत्तर – वर्तमान पर्याय तो भिन्न रहकर द्रव्य की प्रतीति करती है, वह उसमें कैसे मिल सकती है? पर्याय अभेद अखण्ड द्रव्य की ओर ढलती है – इस अपेक्षा अभेद कही जाती है, पर वह दृष्टि के विषय में शामिल नहीं होती। वह तो भिन्न रहकर द्रव्य को विषय बनाती है ।

निर्मलपर्याय भी बहिर्तत्त्व है, अंतस्तत्त्व नहीं है। उसे भी गौण करके द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने पर निर्विकल्प अनुभव होता है और वही धर्म है ।

यदि कोई कहे कि अशुद्धता (अशुद्धपर्याय) से छूटने की बात तो करते हो, पर शुद्धता (शुद्धपर्याय) से छूटने की बात क्यों नहीं करते ? उससे कहते हैं कि वह शुद्धपर्याय द्रव्य पर लक्ष्य करती है, इसलिए उससे छूटने की बात नहीं करते ।

यदि कोई कहे कि जिसप्रकार गुणी में गुणों को – गुणभेद को गौण करते हो; उसीप्रकार पर्याय को भी गौण करो; पर उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि पर्याय तो द्रव्य से भिन्न रहकर उसे विषय बनाती है। वह त्रिकाली द्रव्य में है ही नहीं – इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

यद्यपि भेद भी वस्तु का अंश है और उसका जानना राग का कारण भी नहीं है; क्योंकि अरहंत परमात्मा द्रव्य-गुण-पर्याय, भेद-अभेद, लोक-अलोक सभी को जानते हैं; पर उनको राग उत्पन्न नहीं होता; तथापि रागी

को भेद के जानने पर राग उत्पन्न होता ही है, विकल्प उत्पन्न होते ही हैं; उनसे पुण्यबंध तो होता है, परन्तु सम्यग्दर्शन की अबंधपर्याय उत्पन्न नहीं होती। इसलिए जबतक रागादिक का अभाव नहीं होता, तबतक भेद को गौण करके – अभेद का अनुभव करना चाहिए। गुणी में गुण नहीं हैं – यह बात नहीं है, पर भेद को गौण करके अभेद का लक्ष्य कराना मूल प्रयोजन है ।[१]''

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि स्वामीजी के उक्त कथन में जहाँ एक ओर निर्मलपर्याय को भी गौण करके द्रव्यस्वभाव का आश्रय लेने की बात कही है, वहीं दूसरी ओर उसे गुणभेद के समान गौण करने को अनुचित भी बताया गया है । – इसका कारण क्या है ?

निर्मलपर्याय का सर्वथा निषेध न हो जाय – इस अर्थ में 'गौण करके' कहा गया है और वह गुणों के समान दृष्टि के विषय में शामिल न हो जाय – इसलिए निषेध किया गया है ।

जिसप्रकार दृष्टि के विषय में गुण अखण्ड अभेदपने शामिल हैं पर गुणभेद नहीं; इसीप्रकार यदि कोई यह कहे कि दृष्टि के विषय में पर्यायभेद को भले ही शामिल न करो, परन्तु अखण्ड अभेदपने पर्यायों को तो शामिल रखो; परन्तु उसका यह कहना उचित नहीं है; क्योंकि पर्यायें तो विषयी हैं, विषय बनानेवाली हैं; वे विषय में शामिल कैसे हो सकती हैं ?

प्रश्न – प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय से युक्त होती है। स्वचतुष्टय के बिना वस्तु की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जिसप्रकार प्रत्येक वस्तु स्वयं द्रव्य है, उसके प्रदेश उसका क्षेत्र है, उसके गुण उसका भाव है; उसीप्रकार उसकी पर्यायें उसका काल है। दृष्टि के विषय में गुणभेद का निषेध करके भी गुणों को अभेदरूप से रखकर 'भाव' को सुरक्षित कर लिया गया, प्रदेशभेद का निषेध करके भी प्रदेशों को अभेदरूप से रखकर 'क्षेत्र' को सुरक्षित कर लिया गया; उसीप्रकार पर्यायभेद का निषेध कर पर्यायों को

१. प्रवचनरत्नाकर (गुजराती), भाग १, पृष्ठ ११३ से ११६

अभेदरूप से रखकर 'काल' को भी सुरक्षित कर लेना चाहिए; पर आप तो पर्यायों का सर्वथा निषेध कर वस्तु को काल से अखण्डित नहीं रहने देना चाहते हैं। इसी समयसार में आगे भावना भाई गई है कि 'न द्रव्येण खण्डयामि, न क्षेत्रेण खण्डयामि, न कालेन खण्डयामि, न भावेन खण्डयामि; सुविशुद्ध एको ज्ञानमात्रभावोऽस्मि'[१] – न मैं द्रव्य से खण्डित हूँ, न क्षेत्र से खण्डित हूँ, न काल से खण्डित हूँ और न भाव से खण्डित हूँ; मैं तो सुविशुद्ध एक ज्ञानमात्र भाव हूँ।' उक्त भावना में आत्मा को द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से पूर्णतः अखण्डित रखा गया है ।

उत्तर – दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्य अनादि-अनन्त त्रिकालीध्रुव नित्य, असंख्यातप्रदेशी-अभेद, एवं अनन्तगुणात्मक-अखण्ड, एक कहा गया है। इसमें जिसप्रकार सामान्य कहकर द्रव्य को अखण्ड रखा गया है, असंख्यप्रदेशी-अभेद कहकर क्षेत्र को अखण्ड रखा गया है, अनन्तगुणात्मक-अखण्ड कहकर भाव को अखण्ड रखा गया है; उसीप्रकार अनादि-अनन्त त्रिकालीध्रुव नित्य कहकर काल को भी अखण्डित रखा गया है। अन्त में एक कहकर सभीप्रकार की अनेकता का निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार दृष्टि के विषयभूत त्रिकालीध्रुव द्रव्य में स्वकाल का निषेध नहीं किया गया है, अपितु विशिष्ट पर्यायों का ही निषेध किया गया है ।

भूतकाल की पर्यायें तो विनष्ट ही हो चुकी हैं, भविष्य की पर्यायें अभी अनुत्पन्न हैं और वर्तमान पर्याय स्वयं दृष्टि है, जो विषयी है; वह दृष्टि के विषय में कैसे शामिल हो सकती है? विषय बनाने के रूप में तो वह शामिल हो ही रही है; क्योंकि वर्तमान पर्याय जबतक द्रव्य की ओर न ढले, उसके सन्मुख न हो, उसे स्पर्श न करे, उससे तन्मय न हो, उसमें एकाकार न हो जाय; तबतक आत्मानुभूति की प्रक्रिया भी सम्पन्न नहीं हो सकती। इसप्रकार वर्तमान पर्याय अनुभूति के काल में द्रव्य के सन्मुख होकर तो द्रव्य

---

१. समयसार की आत्मख्याति टीका के परिशिष्ट में २७०वें कलश के बाद का गद्यांश

से अभेद होती ही है, पर यह अभेद अन्य प्रकार का है, गुणों और प्रदेशों के अभेद के समान नहीं ।

इसप्रकार दृष्टि का विषयभूत द्रव्य काल से खण्डित भी नहीं होता और उत्पन्नध्वंसी पर्याय दृष्टि के विषय में शामिल भी नहीं होती ।

प्रवचनसार की ९९वीं गाथा की आचार्य अमृतचन्द्रकृत तत्त्वप्रदीपिका नामक टीका में प्रदेशों की अखण्डता को वस्तु की समग्रता और परिणामों की अखण्डता को वृत्ति की समग्रता कहा है। तथा दोनों के व्यतिरेकों को क्रमशः प्रदेश और परिणाम कहकर प्रदेशों के क्रम का कारण प्रदेशों का परस्पर व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों (पर्यायों) का परस्पर व्यतिरेक है – ऐसा कहा है ।

उक्त तथ्य की गहराई में जाने से एक बात स्पष्ट होती है कि यदि विस्तारक्रम का कारण प्रदेशों का व्यतिरेक है और प्रवाहक्रम का कारण परिणामों का व्यतिरेक है तो प्रदेशों और परिणामों का अन्वय – अनुस्यूति से रचित विस्तार और प्रवाह; क्षेत्र और काल की समग्रता (अखण्डता) का कारण होना चाहिए। इसप्रकार यह सहज ही फलित होता है कि वस्तु की समग्रता क्षेत्र की अखण्डता है और वृत्ति की समग्रता काल की अखण्डता है। तात्पर्य यह है कि प्रदेशों में सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाह ही काल की अखण्डता है ।

इसप्रकार यह अत्यन्त स्पष्ट है कि प्रवाह की निरन्तरता को भी नित्यता कहते हैं, क्योंकि नित्यता और अनित्यता में काल की अपेक्षा ही मुख्य है। अतः नित्य का अर्थ; 'वस्तु की सदा उपस्थिति' मात्र इतना ही अभीष्ट नहीं है, अपितु उसमें प्रवाह की निरन्तरता भी सम्मिलित है। यह नित्यता ही काल की अखण्डता है, जो दृष्टि के विषयभूत द्रव्य का अभिन्न अंग है ।

प्रश्न – इसप्रकार काल की अखण्डता को सुरक्षित रखने से द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत द्रव्य में अर्थात् दृष्टि के विषय में पर्याय शामिल नहीं हो जावेगी क्या ? क्योंकि परिणामों के अन्वय को ही तो काल की अखण्डता कहा

जा रहा है। जब परिणामों का अन्वय दृष्टि के विषय में आ गया तो परिणाम ही आ गये समझिये ।

उत्तर – ऐसी बात नहीं है, क्योंकि आचार्य जयसेन अन्वय को गुण का और व्यतिरेक को पर्याय का लक्षण कहते हैं। उनके मूल शब्द इसप्रकार हैं –

"अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवा गुणा इति गुणलक्षणम् । व्यतिरेकिणः पर्याया अथवा क्रमभुवः पर्याया इति पर्याय लक्षणम् ।[1]"

उक्त कथन से यह स्पष्ट है कि अनुस्यूति से रचित प्रवाह गुण है, पर्याय नहीं। काल का अन्वय (अखण्ड प्रवाह) गुण है और काल का व्यतिरेक पर्यायें हैं। इसप्रकार काल की अखण्डता दृष्टि के विषय में आने पर भी पर्यायें उसमें नहीं आतीं ।

गुण, प्रदेश और पर्याय क्रमशः भाव, क्षेत्र और काल के वाचक हैं। सामान्य और विशेष द्रव्य के भेद हैं, एक और अनेक भाव के भेद हैं, अभेद और भेद क्षेत्र के भेद हैं और नित्य और अनित्य काल के भेद हैं। इनमें द्रव्यदृष्टि का विषय सामान्य, एक, अभेद एवं नित्य द्रव्य बनता है और पर्यायदृष्टि का विषय विशेष, अनेक, भेद एवं अनित्य पर्यायें बनती हैं ।

पर्यायदृष्टि का विषय बनने के कारण विशेष, अनेक, भेद एवं अनित्यता को पर्याय कहा जाता है और द्रव्यदृष्टि का विषय बनने के कारण सामान्य, एक, अभेद एवं नित्यता को द्रव्य कहा जाता है। यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है और इसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है। इस द्रव्य में सामान्य के रूप में द्रव्य, एक के रूप में अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड, अभेद के रूप में असंख्यप्रदेशों का अखण्डपिण्ड और नित्य के रूप में अनन्तानन्त पर्यायों का सामान्यांश या वृत्ति का अनुस्यूति से रचित प्रवाह शामिल होता है। इसप्रकार दृष्टि के विषय में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अखण्डता-एकता विद्यमान रहती है ।

---

१. प्रवचनसार ९३वीं गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका

प्रश्न – यहाँ तो आपने विशेष को पर्यायार्थिकनय का विषय बताकर दृष्टि के विषय में से निकाल दिया है, पर ७३वीं गाथा की टीका में तो सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य को ही दृष्टि का विषय बताया गया है।

उत्तर – वहाँ सामान्य का अर्थ दर्शनगुण एवं विशेष का अर्थ ज्ञानगुण लिया गया है। अतः वहाँ सामान्य-विशेषात्मक द्रव्य का अर्थ ज्ञान-दर्शन स्वभावी भगवान आत्मा ही है ।

प्रश्न – द्रव्य शब्द का प्रयोग तो अनेक अर्थों में होता है। उनमें दृष्टि का विषय कौन-सा द्रव्य है ?

उत्तर – प्रत्येक वस्तु द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावमय होती है। वस्तु के इन चार पक्षों में द्रव्य भी एक पक्ष है, जो सामान्य-विशेषात्मक होता है। इसप्रकार वस्तु के सामान्य-विशेषात्मक पक्ष को भी द्रव्य कहते हैं और मूलवस्तु को भी द्रव्य कहते हैं। ये दोनों ही द्रव्य द्रव्यदृष्टि के विषय नहीं बनते हैं ।

वस्तु के सामान्य और विशेष – ये दो रूप द्रव्य की अपेक्षा हैं, भेद और अभेद – ये दो रूप क्षेत्र की अपेक्षा हैं, नित्य और अनित्य – ये दो रूप काल की अपेक्षा हैं और एक और अनेक – ये दो रूप भाव की अपेक्षा हैं ।

जिसप्रकार गुणों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और गुणभेद पर्यायार्थिकनय का, प्रदेशों का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय है और प्रदेशभेद पर्यायार्थिकनय का, द्रव्य का अभेद (सामान्य) द्रव्यार्थिकनय का विषय है और द्रव्यभेद (विशेष) पर्यायार्थिकनय का; उसीप्रकार काल (पर्यायों) का अभेद द्रव्यार्थिकनय का विषय होता है और कालभेद (पर्यायें) पर्यायार्थिकनय का विषय बनता है ।

यहाँ जो-जो पर्यायार्थिकनय के विषय हैं, उन सभी की पर्यायसंज्ञा है और जो-जो द्रव्यार्थिकनय के विषय हैं, उन सभी की द्रव्यसंज्ञा है ।

इसप्रकार अध्यात्म में गुणभेद, प्रदेशभेद, द्रव्यभेद (विशेष) एवं कालभेद (पर्यायें) – इन सभी की पर्यायसंज्ञा ही है और ये सभी पर्यायें द्रव्यार्थिकनय का विषय नहीं बनती; अतः दृष्टि का विषय भी नहीं बनती।

अपनी आत्मवस्तु के इन चार युगलों में सामान्य, अभेद, नित्य और एक – इनकी अखण्डता द्रव्यार्थिकनय का विषय बनती है और इसीकारण इसका नाम द्रव्य है। बस यही द्रव्य द्रव्यदृष्टि का विषय बनता है, इसमें अपनापन स्थापित होना ही सम्यग्दर्शन है। इसके विरुद्ध अपनी आत्मवस्तु के विशेष, भेद तथा उसकी अनित्यता एवं अनेकता की पर्यायसंज्ञा है और इनमें अपनापन होना ही मिथ्यादर्शन है ।

द्रव्यार्थिकनय के विषयभूत इस द्रव्य को ही यहाँ शुद्धद्रव्य कहा है और इसे विषय बनानेवाले नय को शुद्धनय, निश्चयनय या शुद्धनिश्चयनय कहा गया है ।

इस गाथा में निश्चय-व्यवहार की 'अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार' इस परिभाषा को मुख्य किया गया है। यही कारण है कि यहाँ अभेद को निश्चय और गुणभेद को व्यवहार कहा गया है ।

अग्नि के दाहक, पाचक एवं प्रकाशक स्वभाव का उदाहरण देते हुए आचार्य जयसेन इस गाथा के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार अभेदरूप निश्चयनय से अग्नि एक ही है – ऐसा निश्चय करके बाद में भेदरूप व्यवहारनय से इसप्रकार प्रतिपादित करते हैं कि वह अग्नि जलाती है, इसलिए दाहक है; पकाती है, इसलिए पाचक हैं; और प्रकाश करती है, इसलिए प्रकाशक है। इसप्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय के भेद से वही अग्नि तीन प्रकार की कही जाती है ।

उसीप्रकार यह जीव अभेदरूप निश्चयनय से शुद्धचैतन्यमात्र होते हुए भी भेदरूप व्यवहारनय से इसप्रकार प्रतिपादित करते हैं कि यह जीव जानता है, इसलिए ज्ञान है; देखता है (श्रद्धान करता है), इसलिए दर्शन है; और आचरण करता है, इसलिए चारित्र है। इसप्रकार की व्युत्पत्ति के द्वारा विषय

के भेद से वही जीव तीन प्रकार का भी कहा जाता है, तीन भेदरूप भी हो जाता है ।"

जिसप्रकार दाहक, पाचक और प्रकाशक – इन गुणों के कारण अग्नि को भी दाहक, पाचक और प्रकाशक कहा जाता है; पर मूलतः अग्नि तीन प्रकार की नहीं, वह तो एक प्रकार की ही है, एक ही है। उसीप्रकार ज्ञान, दर्शन और चारित्र गुणों के कारण आत्मा को भी ज्ञान, दर्शन और चारित्र कहा जाय; पर इसकारण आत्मा तीन प्रकार का तो नहीं हो जाता; आत्मा तो एक प्रकार का ही रहता है, एक ही रहता है ।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"इस ज्ञायकभाव के बंधपर्याय के निमित्त से अशुद्धता होती है – यह बात तो दूर ही रहो, इसके तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी नहीं हैं; क्योंकि अनन्त धर्मोंवाले एक धर्मी में जो निष्णात नहीं हैं – ऐसे निकटवर्ती शिष्यों को, धर्मी को बतानेवाले कितने ही धर्मों के द्वारा उपदेश करते हुए आचार्यों का; यद्यपि धर्म और धर्मी का स्वभाव से अभेद है, तथापि नाम से भेद करके, – व्यवहारमात्र से ही ऐसा उपदेश है कि ज्ञानी के दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है; किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो अनन्त पर्यायों को एक द्रव्य पी गया होने से, जो एक है – ऐसे कुछ मिले हुए आस्वादवाले, अभेद, एकस्वभावी तत्त्व का अनुभव करनेवाले को दर्शन भी नहीं है, ज्ञान भी नहीं है और चारित्र भी नहीं है; एक शुद्ध ज्ञायक ही है ।"

लोक में कर्मोदय से होनेवाले रागादिभावों को आत्मा की अशुद्धि मानी जाती है; व्यवहारनय की प्ररूपणा से जिनवाणी में भी इसप्रकार का प्ररूपण प्राप्त होता है; पर यहाँ तो दर्शन, ज्ञान, चारित्र के भेद को भी अशुद्धि कहा जा रहा है; तब फिर रागादिरूप अशुद्धि की क्या बात करें? तात्पर्य यह है कि जब दृष्टि के विषय में विकल्पोत्पादक होने से गुणभेद को भी शामिल नहीं किया जाता है तो रागादिरूप प्रमत्त पर्यायों को शामिल करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता ।

यद्यपि आत्मा तो अनन्तगुणों का अधिष्ठाता एक धर्मी है, सहभावी पर्याय है नाम जिनका, ऐसे अनन्तगुणों का अखण्डपिण्ड है; क्योंकि धर्म और धर्मी में, गुण और गुणी में स्वभाव से भी अभेद होता है; तथापि जो लोग उस अभेद, अखण्ड धर्मी आत्मा को समझते नहीं हैं; उन्हें समझाने के लिए आचार्यदेव धर्मों और गुणों के भेद करके समझाते हैं; पर धर्मों के माध्यम से समझाते तो एक धर्मी को ही हैं, गुणों के माध्यम से भी समझाते तो एक गुणी को ही हैं। समझाने की इस प्रक्रिया का नाम ही व्यवहार है; पर जब अभेद-अखण्ड आत्मा का अनुभव करते हैं तो एकमात्र शुद्ध ज्ञायकभाव ही अनुभव में आता है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र का भेद दिखाई नहीं देता। तात्पर्य यह है कि अनुभव में ज्ञान-दर्शन-चारित्र भिन्न-भिन्न दिखाई नहीं देते, एक त्रिकालीध्रुव नित्य, अभेद, अखण्ड भगवान आत्मा ही दिखाई देता है ।

अनुभव में जो एक अभेद अखण्ड नित्य ज्ञायकभाव दिखाई देता है, वही दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन प्रगट होता है, उसी में अपनापन स्थापित होने का नाम सम्यग्दर्शन है, एकमात्र वही ध्यान का ध्येय है; अधिक क्या कहें - मुक्ति के मार्ग का मूल आधार वही ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा है ।

'वह भगवान आत्मा अन्य कोई नहीं, स्वयं मैं ही हूँ' - ऐसी दृढ़-आस्था, स्वानुभवपूर्वक दृढ़प्रतीति, तीव्ररुचि ही वास्तविक धर्म है, सच्चा मुक्ति का मार्ग है। इस ज्ञायकभाव में अपनापन स्थापित करना ही आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों का एकमात्र कर्त्तव्य है ।

परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत, व्यवहारातीत, परमशुद्ध, निजनिरंजन नाथ ज्ञायकभाव का स्वरूप स्पष्ट करना ही समयसार का मूल प्रतिपाद्य है और इसी शुद्ध ज्ञायकभाव का स्वरूप इन छठवीं-सातवीं गाथाओं में बताया गया है। अतः ये गाथाएं समयसार की आधारभूत गाथाएं हैं ।

समयसार गाथा ८

यदि चारों ही प्रकार के व्यवहारनय हेय हैं, निषेध करने योग्य हैं; तो फिर एक निश्चय का ही कथन करना चाहिए था, व्यवहार का कथन ही क्यों किया ? – इस प्रश्न के उत्तर में आठवीं गाथा का जन्म हुआ है; जो इसप्रकार है –

जह ण वि सक्कमणज्जो अणज्जभासं विना दु गाहेदुं ।
तह ववहारेण विणा परमत्थुवदेसणमसक्कं ॥८॥

(हरिगीत)

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥८॥

जिसप्रकार अनार्य (म्लेच्छ) भाषा के बिना अनार्य (म्लेच्छ) जन को कुछ भी समझाना संभव नहीं है; उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ (निश्चय) का कथन अशक्य है ।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है –

''स्वस्ति शब्द से अपरिचित किसी म्लेच्छ (अनपढ़) को यदि कोई ब्राह्मण (पढ़ा-लिखा व्यक्ति) 'स्वस्ति' ऐसा कहकर आशीर्वाद दे, तो वह म्लेच्छ उसकी ओर मेंढे की भांति आँखें फाड़-फाड़कर, टकटकी लगाकर देखता ही रहता है; क्योंकि वह 'स्वस्ति' शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होता है। पर जब दोनों की भाषा को जाननेवाला कोई अन्य व्यक्ति या वही ब्राह्मण म्लेच्छ भाषा में उसे समझाता है कि स्वस्ति शब्द का अर्थ यह है कि तुम्हारा अविनाशी कल्याण हो; तब उसका भाव समझ में आ जाने से उसका चित्त आनन्दित हो जाता है, उसकी आँखों में आनन्द के अश्रु आ जाते हैं ।

इसीप्रकार आत्मा शब्द से अपरिचित लौकिकजनों को जब कोई ज्ञानी धर्मात्मा आचार्यदेव 'आत्मा' शब्द से सम्बोधित करते हैं तो वे भी आँखें फाड़-फाड़कर – टकटकी लगाकर देखते ही रहते हैं; क्योंकि वे आत्मा शब्द के वाच्य-वाचक सम्बन्ध से पूर्णतः अपरिचित होते हैं; परन्तु जब सारथी की भाँति व्यवहार-परमार्थ मार्ग पर सम्यग्ज्ञानरूपी महारथ को चलानेवाले अन्य आचार्यदेव या वही आचार्य स्वयं ही व्यवहारमार्ग में रहते हुए आत्मा शब्द का अर्थ इसप्रकार बतलाते हैं कि जो दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है; तब वे लौकिकजन भी आत्मा शब्द के अर्थ को भली-भाँति समझ लेते हैं और तत्काल ही उत्पन्न होनेवाले अतीव आनन्द से उनके हृदय में बोधतरंगें उछलने लगती हैं ।

इसप्रकार जगत म्लेच्छ के तथा व्यवहारनय म्लेच्छ भाषा के स्थान पर होने से व्यवहारनय परमार्थ का प्रतिपादक है और इसीलिए व्यवहारनय स्थापित करने योग्य भी है; तथापि 'ब्राह्मण को म्लेच्छ तो नहीं बन जाना चाहिए' – इस वचन से व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।"

'यदि व्यवहारनय हेय है तो उसका प्रतिपादन ही क्यों किया ?' – शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर में म्लेच्छ और म्लेच्छ भाषा का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है कि जिसप्रकार म्लेच्छ भाषा के बिना म्लेच्छ को समझाना संभव नहीं है, उसीप्रकार व्यवहार के बिना परमार्थ को समझाना संभव नहीं है। अतः व्यवहार को परमार्थ का प्रतिपादक जानकर उसका उपदेश दिया गया है ।

गाथा में तो इतनी ही बात कही गई है, पर टीका में गाथा के भाव को खोलते हुए सावधान भी कर दिया गया है कि म्लेच्छ को समझाने के लिए म्लेच्छ भाषा के उपयोग को तो उचित माना जा सकता है, पर म्लेच्छ हो जाना कदापि ठीक नहीं है। म्लेच्छ से म्लेच्छ भाषा में बात कर लेना अलग बात है और स्वयं म्लेच्छ हो जाना एकदम अलग बात है। इन दोनों के अन्तर को गहराई से पहिचानना चाहिए ।

इसीप्रकार व्यवहारीजनों को व्यवहारनय से समझा देना अलग बात है और स्वयं व्यवहारी हो जाना एकदम अलग बात है। व्यवहारनय से परमार्थ को समझाने की बात को तो उचित माना जा सकता है, पर व्यवहार को उपादेय मानना कदापि ठीक नहीं है। व्यवहार को उपादेय मानना तो व्यवहारी हो जाना है, म्लेच्छ हो जाने जैसा है ।

ध्यान रहे – यहाँ व्यवहारनय की हेयोपादेयता पर विचार करते हुए उदाहरण के रूप में व्यवहारनय का वही भेद लिया गया है, जो ७वीं गाथा में कहा गया था। आत्मा शब्द से अपरिचित व्यक्ति से यदि आत्मा-आत्मा ही कहते रहें तो उसकी समझ में कुछ भी नही आवेगा; पर जब उसे इसप्रकार समझावें कि जाने सो आत्मा, देखे सो आत्मा, तो उसकी समझ में आसानी से आ जाता है; परन्तु इसप्रकार के विकल्पों में उलझे रहने से आत्मा की अनुभूति नहीं होती और आत्मा की अनुभूति होना ही वास्तविक आत्मज्ञान है। अतः आत्मा की प्रारंभिक जानकारी प्राप्त करने के लिए जो जाने सो आत्मा, जो देखे सो आत्मा – यह व्यवहार कथन तो उचित ही है, किन्तु आत्मानुभव के लिए नहीं; क्योंकि आत्मानुभवरूप असली आत्मज्ञान के लिए तो इन विकल्पों से भी पार होना होगा, विकल्पातीत होना होगा, व्यवहारातीत होना होगा। यही बात इस गाथा में कही गई है ।

इसी गाथा के भावार्थ में पण्डित जयचदंजी छाबड़ा लिखते हैं –

"इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि यहाँ व्यवहार का आलंबन कराते हैं, प्रत्युत व्यवहार का आलंबन छुड़ाकर परमार्थ में पहुँचाते हैं – यह समझना चाहिए ।"

इस गाथा की टीका का गहराई से अध्ययन करने पर एक बात ध्यान में आती है कि प्रकारान्तर से इसमें सम्यग्दर्शन के पूर्व होनेवाली पाँच लब्धियों का संकेत भी है ।

गुरु के मुख से 'आत्मा' शब्द सुनने वाले शिष्य को सैनीपंचेन्द्रिय होने से क्षयोपशमलब्धि तो है ही, परन्तु कुछ भी समझ में न आने पर भी क्रोधित

नहीं होना, अरुचि प्रदर्शित नहीं करना और टकटकी लगाकर देखते ही रहना विशुद्धिलब्धि को सूचित करता है; क्योंकि कषाय की मंदता के विना ऐसी प्रवृत्ति संभव नहीं है ।

आचार्यदेव द्वारा व्यवहारमार्ग से आत्मा का स्वरूप समझाना कि 'जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह आत्मा है' – यह देशनालब्धि है। प्रसन्नचित्त से इस देशना को सुनना, समझने में चित्त लगाना प्रायोग्यलब्धि को सूचित करता है और गुरुवचन का मर्म ख्याल में आते ही वोधतरंगों का उछलना और आनन्दाश्रुओं का आना करणलब्धि का सूचक है ।

तात्पर्य यह है कि भले ही कोई जीव आत्मा के वारे में कुछ भी न जानता हो; पर उसमें पात्रता हो, अपने आत्मा को समझने योग्य वुद्धि का विकास हो, कपायें मंद हों, आत्मा की तीव्र रुचि हो, आत्मज्ञानी गुरु के प्रति वहुमान का भाव हो, आस्था हो, यथायोग्य विनय हो, उनसे आत्मा का स्वरूप समझने की धगस हो, गहरी जिज्ञासा हो, पूरा-पूरा प्रयास हो तो योग्य गुरु के द्वारा करुणापूर्वक व्यवहारमार्ग से समझाये जाने पर आत्मा की वात उसकी समझ में अवश्य आती है और यदि पुरुषार्थ की उग्रता हो तो आत्मानुभव भी होता ही है ।

इसप्रकार इस गाथा में पाँचों लब्धियों को प्राप्त कर सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की विधि का भी परिज्ञान करा दिया गया है। पात्र शिष्य और निश्चय-व्यवहारज्ञ आत्मज्ञानी गुरु का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया गया है। व्यवहारनय की उपयोगिता वताकर जिनवाणी में उसके प्रयोग का औचित्य भी स्पष्ट कर दिया है और अन्त में व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है – यह भी वता दिया है। प्रकारान्तर से आत्मानुभव की प्रेरणा भी दी गई है ।

अतः हम सभी का परमकर्त्तव्य है कि निज भगवान आत्मा की वात रुचिपूर्वक सुनें, गहराई से समझें; उसपर गंभीरता से विचार करें और भगवान आत्मा की प्राप्ति के लिए उग्र पुरुषार्थ करें; क्योंकि मानव जीवन की सफलता आत्मानुभव करने में ही है । •

समयसार गाथा ९-१०

आठवीं गाथा में यह कहा गया है कि परमार्थ का प्रतिपादक होने से व्यवहारनय भी स्थापित करने योग्य है; परन्तु प्रश्न तो यह है कि व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक किसप्रकार है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ही ९वीं एवं १०वीं गाथाएं लिखीं गई हैं, जो इसप्रकार हैं -

जो हि सुदेणहिगच्छदि अप्पाणमिणं तु केवलं सुद्धं ।
तं सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोयप्पदीवयरा ॥९॥
जो सुदणाणं सव्वं जाणदि सुदकेवलिं तमाहु जिणा ।
णाणं अप्पा सव्वं जम्हा सुदकेवली तम्हा ॥१०॥

(हरिगीत)

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा ।
श्रुतकेवली उनको कहें ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥९॥
जो सर्वश्रुत को जानते उनको कहें श्रुतकेवली ।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली ॥१०॥

जो जीव श्रुतज्ञान के द्वारा केवल एक शुद्धात्मा को जानते हैं, उसे लोक के ज्ञाता ऋषिगण निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, उन्हें जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं; क्योंकि सब ज्ञान आत्मा ही तो है ।

उक्त गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

''जो श्रुतज्ञान के बल से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं - यह परमार्थ कथन है और जो सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं - यह व्यवहार कथन है ।

अब यहाँ विचार करते हैं कि उपर्युक्त सर्वज्ञान आत्मा है कि अनात्मा ?

अनात्मा कहना तो ठीक नहीं है; क्योंकि जड़ अनात्मा तो आकाशादि पाँच द्रव्य हैं, किन्तु उनका ज्ञान के साथ तादात्म्य नहीं है। अत: अन्य उपाय का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है – यही सिद्ध होता है; इसलिए यह सहज ही सिद्ध हो गया कि सर्वश्रुतज्ञान भी आत्मा ही है। ऐसा सिद्ध होने पर यह पारमार्थिक तथ्य सहज ही फलित हो गया कि जो आत्मा को जानता है, वही श्रुतकेवली है ।

इसप्रकार ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाला जो व्यवहार है, उससे भी मात्र परमार्थ ही कहा जाता है, अन्य कुछ नहीं ।

'जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्ध आत्मा को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' – इस परमार्थ का प्रतिपादन अशक्य होने से 'जो सर्वश्रुत को जानते हैं, वे श्रुतकेवली हैं' – ऐसा व्यवहारकथन परमार्थ का ही प्रतिपादक होने से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है ।'

सातवीं गाथा में जिस अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय की चर्चा की गई थी, यहाँ इन नौवीं-दशवीं गाथाओं में निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली का उदाहरण देकर उसी अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय को परमार्थ (निश्चय) का प्रतिपादक सिद्ध किया गया गया है ।

श्रुतज्ञान ज्ञानगुण का ही एक प्रकार है या ज्ञानगुण की ही एक पर्याय है। इसप्रकार श्रुतज्ञान (गुण) और आत्मा (गुणी) में गुण-गुणीरूप तादात्म्यसंवंध है। अथवा श्रुतज्ञान (पर्याय) और आत्मा (पर्यायवान) में पर्याय-पर्यायवानरूप तादात्म्यसंबंध है ।

गुण-गुणी सम्बन्ध और पर्याय-पर्यायवान सम्बन्ध – इन दोनों को ही जिनागम में गुणभेद नाम से ही जाना जाता है और इस गुणभेद को विषय वनानेवाले नय को अनुचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहते हैं ।

'ज्ञानी के ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है' – सातवीं गाथा में समागत उक्त कथन गुणभेदरूप होने से व्यवहारकथन माना गया है। दर्शन-ज्ञान-

चारित्र को गुणरूप में भी देखा जा सकता है और निर्मलपर्याय के रूप में भी देखा जा सकता है; क्योंकि उक्त तीन गुण तो आत्मा में हैं ही, पर इनके निर्मल परिणमन को भी दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही कहते हैं। मुक्ति के मार्ग के रूप में सर्वत्र इन गुणों के निर्मल परिणमन को ही लिया गया है ।

गुणों और उनके निर्मल परिणमन को आत्मा का कहना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का ही कथन है। अतः सातवीं गाथा के कथन में ज्ञान-दर्शन-चारित्र को गुणरूप में ग्रहण करें, चाहे उनके निर्मल परिणमनरूप में ग्रहण करें; दोनों गुणभेदरूप होने से अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय ही बनेंगे ।

'जो श्रुतज्ञान से केवल शुद्धात्मा को जानते हैं, वे निश्चयश्रुतकेवली हैं और जो उसी श्रुतज्ञान से द्वादशांगरूप सर्वश्रुतज्ञान को जानते हैं, वे व्यवहारश्रुतकेवली हैं' – नौवीं-दशवीं गाथा में कहे गये उक्त शब्दों से भी यही फलित होता है कि जिसने श्रुतज्ञान से आत्मा (गुणी-पर्यायवान) को जाना, वह निश्चयश्रुतकेवली और जिसने द्वादशांगरूप सर्वश्रुतज्ञान (गुण-पर्याय) को जाना, वह व्यवहारश्रुतकेवली है ।

आत्मा द्रव्य है और सर्वश्रुतज्ञान उसी आत्मद्रव्य की पर्याय है; अतः सर्वश्रुतज्ञान भी प्रकारान्तर से आत्मा ही है। अतः सर्वश्रुतज्ञान को जाननेवाले व्यवहारनय ने भी प्रकारान्तर से आत्मा को ही बताया है। अतः वह व्यवहार भी परमार्थ का ही प्रतिपादक रहा ।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने इन गाथाओं की आत्मख्याति टीका में निष्कर्ष के रूप में यह कहा है कि ज्ञान और ज्ञानी के भेद से कथन करनेवाले व्यवहारनय ने भी परमार्थ ही बताया है और परमार्थ-प्रतिपादक के रूप में उसने अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित कर लिया है ।

व्यवहारनय ज्ञान (सर्वश्रुतज्ञान) को जानता है और निश्चय ज्ञानी (आत्मा) को। ज्ञान को जाना, सो ज्ञानी को ही जाना; इस नीति के अनुसार व्यवहार परमार्थ का ही प्रतिपादक है ।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका में लिखते हैं –

"जो भावश्रुतरूप स्वसंवेदनज्ञान के बल से शुद्धात्मा को जानते हैं, वे निश्चयश्रुतकेवली हैं और जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते, शुद्धात्मा को नहीं भाते; केवल द्वादशांगरूप बाह्य विषय को ही जानते हैं, वे व्यवहारश्रुतकेवली हैं ।

प्रश्न – तब तो स्वसंवेदन के बल से इस काल में भी श्रुतकेवली होते होंगे ?

उत्तर – नहीं, ऐसी बात नहीं है; क्योंकि पूर्व पुरुषों को जिसप्रकार का शुक्लध्यानरूप स्वसंवेदनज्ञान होता था, उसप्रकार का स्वसंवेदनज्ञान अभी नहीं है, किन्तु यथायोग्य धर्मध्यान अभी भी है ।"

प्रश्न – आचार्य जयसेन के उक्त कथन में यह कहा गया है कि जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते, शुद्धात्मा को नहीं भाते, केवल द्वादशांगरूप बाह्य विषय को ही जानते हैं, वे व्यवहारश्रुतकेवली हैं; तो क्या द्वादशांग के पाठी श्रुतकेवली आत्मा को भी नहीं जानते, आत्मानुभवी नहीं होते ?

उत्तर – अरे भाई ! ऐसी बात नहीं है; क्योंकि आत्मा के अनुभव के बिना तो कोई द्वादशांग का पाठी हो ही नहीं सकता। जिनागम का यह कथन तो सर्व प्रसिद्ध ही है कि जिन्हें आत्मा का अनुभव नहीं है, स्वसंवेदन ज्ञान नहीं है, सम्यग्दर्शन नहीं है; उन्हें ग्यारह अंग और नौ पूर्व से अधिक का ज्ञान नहीं हो सकता। जब मिथ्यादृष्टि को ग्यारह अंग और नौ पूर्व से अधिक का ज्ञान नहीं होता तो फिर बारह अंग के पाठी द्रव्यश्रुतकेवली – व्यवहारश्रुतकेवली स्वसंवेदनज्ञान से रहित कैसे हो सकते हैं ? यह बात गंभीरता से विचारने की है ।

श्रुतकेवली कहलाने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वे आत्मज्ञानी होने के साथ-साथ द्वादशांगश्रुत के पाठी भी हों। यही कारण है कि

पंचमकाल में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद अनेक स्वसंवेदी भावलिंगी संत हो गये हैं, पर श्रुतकेवली कोई नहीं हुआ ।

प्रश्न – आचार्य जयसेन ने तो साफ-साफ लिखा है कि जो शुद्धात्मा का अनुभव नहीं करते, शुद्धात्मा को नहीं भाते, केवल द्वादशांगरूप बाह्य विषय को ही जानते हैं; वे व्यवहार श्रुतकेवली हैं। उक्त कथन से तो यही प्रतिफलित होता है कि व्यवहारश्रुतकेवली आत्मानुभवी नहीं होते । इसीप्रकार निश्चयश्रुतकेवली द्वादशांग के पाठी नहीं होते; क्योंकि वे तो स्वसंवेदन ज्ञान के बल से मात्र शुद्धात्मा को ही जानते हैं; परन्तु आप यहाँ यह कह रहे हैं कि प्रत्येक श्रुतकेवली आत्मज्ञानी भी होते हैं, स्वसंवेदन ज्ञानी भी होते हैं और द्वादशांग के पाठी भी होते हैं ?

उत्तर – अरे, भाई ! निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली कोई अलग-अलग व्यक्ति थोड़े ही होते हैं, श्रुतकेवली तो एक ही होते हैं और वे द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी ही होते हैं। आत्मानुभवी होने के कारण उन्हें ही निश्चयश्रुतकेवली कहते हैं और द्वादशांग के पाठी होने के कारण उन्हें ही व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं ।

इसी बात को इसप्रकार भी व्यक्त कर सकते हैं कि श्रुतकेवली निश्चय से निज शुद्धात्मा को ही जानते हैं, पर को नहीं, द्वादशांगरूप श्रुत को भी नहीं; तथा वे ही श्रुतकेवली व्यवहार से द्वादशांगरूप श्रुत को जानते हैं, आत्मा को नहीं ।

ध्यान रहे – ये दोनों ही नय एक साथ एक ही समय में एक ही व्यक्ति पर घटित होते हैं, अन्य-अन्य व्यक्तियों पर नहीं, अन्य-अन्य समय पर भी नहीं। जो व्यक्ति जिस समय आत्मा को जानने के कारण निश्चयश्रुतकेवली है; वही व्यक्ति उसीसमय द्वादशांगरूप श्रुत का विशेषज्ञ होने के कारण व्यवहारश्रुतकेवली भी है। इसीप्रकार जो व्यक्ति जिससमय द्वादशांग का पाठी होने से व्यवहारश्रुतकेवली है, वही व्यक्ति उसीसमय आत्मज्ञानी होने से निश्चयश्रुतकेवली भी है। उनमें न व्यक्तिभेद है और न समयभेद ही ।

इसीप्रकार के प्रयोग केवली भगवान के बारे में भी उपलब्ध होते हैं। नियमसार में लिखा है –

"जाणदि पस्सदि सव्वं ववहारणएण केवली भगवं ।
केवलणाणी जाणदि पस्सदि णियमेण अप्पाणं ॥ १५९॥
अप्पसरूवं पेच्छदि लोयालोयं ण केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ १६६॥
लोयालोयं जाणइ अप्पाणं णेव केवली भगवं ।
जइ कोइ भणइ एवं तस्स य किं दूसणं होइ ॥ १६९॥

व्यवहारनय से केवली भगवान सभी को जानते-देखते हैं और निश्चयनय से केवली भगवान मात्र आत्मा को ही जानते-देखते हैं ।

केवली भगवान निश्चय से आत्मस्वरूप को ही देखते-जानते हैं, लोकालोक को नहीं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहे तो उसमें क्या दोष है ? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं है ।

केवली भगवान व्यवहार से लोकालोक को देखते-जानते हैं, आत्मा को नहीं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा कहता है तो उसमें क्या दोष है? तात्पर्य यह है कि ऐसा कहने में भी कोई दोष नहीं है।"

इसीप्रकार का भाव कलश में भी आया है, जो इसप्रकार है –

(वसंततिलका)

"जानाति लोकमखिलं खलु तीर्थनाथः
स्वात्मानमेकमनघं निजसौख्यनिष्ठम् ।
नो वेत्ति सोऽयमिति तं व्यवहारमार्गाद्
वक्तीति कोऽपि मुनियो न च तस्स दोषः ॥[१]

तीर्थंकर भगवान वास्तव में समस्त लोक को जानते हैं और वे एक निर्दोष, निजसुख में लीन आत्मा को नहीं जानते – कोई मुनिवर व्यवहारमार्ग से ऐसा कहते हैं तो कोई दोष नहीं है ।"

---

१. नियमसार कलश, २८५

क्या उक्त कथनों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि निश्चयकेवली अलग होते हैं और व्यवहारकेवली अलग; तथा निश्चयकेवली मात्र आत्मा को जानते हैं और व्यवहारकेवली मात्र लोकालोक को ? इसीप्रकार क्या यह अर्थ भी निकाला जा सकता है कि जब केवली निश्चय में होते हैं, तब मात्र आत्मा को जानते हैं; और जब व्यवहार में होते हैं, तब मात्र लोकालोक को जानते हैं ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि केवली दो प्रकार के होते ही नहीं। एक ही केवली का दो प्रकार से निरूपण किया जाता है – एक निश्चयकेवली और दूसरे व्यवहारकेवली। जो केवली जिससमय आत्मा को जानने के कारण निश्चयकेवली कहे जाते हैं, वे ही केवली उसीसमय लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं; न तो उनमें व्यक्तिभेद होता है और न समयभेद ।

इसीप्रकार निश्चयश्रुतकेवली और व्यवहारश्रुतकेवली पर घटित कर लेना चाहिए ।

उक्त संदर्भ में मोक्षमार्गप्रकाशक का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है –

"अंतरंग में आपने तो निर्धार करके यथावत् निश्यचय-व्यवहार मोक्षमार्ग को पहिचाना नहीं और जिन-आज्ञा मानकर निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग दो प्रकार मानते हैं। सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है । ··· इसलिए निरूपण अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। एक निश्चयमोक्षमार्ग और एक व्यवहारमोक्षमार्ग – इसप्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है ।[१]"

उक्त कथन में जिसप्रकार मोक्षमार्ग पर निश्चय-व्यवहार घटित किए गये हैं, उसीप्रकार केवली और श्रुतकेवली पर भी निश्चय-व्यवहार घटित कर लेना चाहिए ।

---

१. पण्डित टोडरमल : मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २४८-२४९

जिसप्रकार मोक्षमार्ग दो नहीं, उसका निरूपण दो प्रकार से है – एक निश्चयमोक्षमार्ग और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग; उसीप्रकार केवली या श्रुतकेवली दो नहीं, उनका निरूपण दो प्रकार से है – एक निश्चयकेवली या निश्चयश्रुतकेवली और दूसरा व्यवहारकेवली या व्यवहारश्रुतकेवली ।

जिसप्रकार निश्चय और व्यवहार केवली तेरहवें गुणस्थान और उसके आगे ही होते हैं, उसके पहले नहीं; उसीप्रकार निश्चय और व्यवहार श्रुतकेवली भी चौथे से बारहवें गुणस्थान तक ही होते हैं, उसके पहले नहीं; क्योंकि मिथ्यादृष्टि जीव न तो द्वादशांग के पाठी ही होते हैं और न स्वसंवेदनज्ञानी ही ।

प्रश्न – शास्त्रों में जिन श्रुतकेवलियों की बात आती है, वे तो सभी मुनिराज ही थे; फिर चतुर्थ गुणस्थान से श्रुतकेवली होते हैं – यह आप कैसे कहते हैं ?

उत्तर – सौधर्मादि इन्द्र, लोकांतिकदेव एवं सर्वार्थसिद्धि आदि के अहमिन्द्र भी तो द्वादशांग के पाठी और आत्मानुभवी होते हैं। तथा यह तो आप जानते ही हैं कि देवगति में संयम नहीं होता; अतः उनका गुणस्थान भी चौथे से ऊपर नहीं होता ।

यद्यपि यह सत्य है कि चौथे से बारहवें गुणस्थान तक के जीव श्रुतकेवली हो सकते हैं; तथापि इसका आशय यह कदापि नहीं कि चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक का प्रत्येक व्यक्ति श्रुतकेवली होता है; क्योंकि श्रुतकेवली होने के लिए स्वसंवेदनज्ञानी और द्वादशांग का पाठी – दोनों शर्तें पूरी होना अनिवार्य है ।

प्रश्न – जब चौथे गुणस्थान में श्रुतकेवली हो सकते हैं तो फिर तो पंचमकाल में भी श्रुतकेवली हो सकते होंगे; क्योंकि पंचमकाल में भी छठवें-सातवें गुणस्थान में झूलनेवाले भावलिंगी संत हो सकते हैं, होते भी हैं ।

उत्तर – हाँ, हाँ, क्यों नहीं ? अवश्य हो सकते हैं; क्योंकि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु पंचमकाल में ही हुए हैं। उनके पहले भी अनेक

श्रुतकेवली पंचमकाल में हुए हैं, जिनकी चर्चा जिनागम में हैं। अतः 'अभी श्रुतकेवली नहीं होते' – आचार्य जयसेन के इस वाक्य में समागत 'अभी' शब्द का अर्थ अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद का काल ही लेना चाहिए।

'अभी श्रुतकेवली नहीं होते' – इस कथन से यह अर्थ निकालना कि अभी स्वसंवेदन के बल से आत्मानुभव भी नहीं होता – यह भी ठीक नहीं है और आत्मानुभव होता है, इसलिए अभी निश्चयश्रुतकेवली भी होते हैं – यह भी ठीक नहीं है। जब भद्रबाहु श्रुतकेवली के बाद कोई श्रुतकेवली हुआ ही नहीं तो फिर अभी भी भावश्रुतकेवली होने की बात कहाँ टिकती है ?

इसीप्रकार जब पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनिराज-आर्यिकाएं एवं सम्यग्दृष्टि-अणुव्रती श्रावक-श्राविकायें होना सुनिश्चित है तो फिर अभी स्वसंवेदनरूप आत्मज्ञान का अभाव कैसे हो सकता है ?

यद्यपि यह सत्य है कि पंचमकाल के अन्त तक भावलिंगी मुनिराज एवं ज्ञानी श्रावक होंगे; पर इतने मात्र से किसी व्यक्तिविशेष को ज्ञानी श्रावक या भावलिंगी संत तो नहीं माना जा सकता है; क्योंकि उसमें अपने पद के अनुरूप सभी पात्रताओं का होना भी तो आवश्यक है। पर जो यह मानते हैं कि इस समय आत्मानुभव – स्वसंवेदनज्ञान हो ही नहीं सकता, उन्हें तो आत्मानुभव होने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता और आत्मानुभव के बिना उनका सच्चा साधु होना या सच्चा ज्ञानी श्रावक होना भी संभव नहीं है ।

निष्कर्ष के रूप में हम यह कह सकते हैं कि श्रुतज्ञान का अधिकतम विकास द्वादशांग का पाठी होना ही है; इसकारण ही उसे यहाँ सर्वश्रुत कहा है ।'जो आत्मा सर्वश्रुत को जानता है, वह श्रुतकेवली है' – का अर्थ यह हुआ कि जिस आत्मा का श्रुतज्ञान पूर्णतः विकसित हो गया है, वह श्रुतकेवली है ।

पूर्ण विकसित श्रुतज्ञान में स्व-पर सभी द्रव्य श्रुतज्ञान के विषय बनते हैं। अतः यह सुनिश्चित हुआ कि सर्वश्रुत को जाननेवाले श्रुतकेवली ने सभी को जाना है। उसके इस सर्वज्ञान में स्व को जानने के कारण वह

निश्चयश्रुतकेवली कहा जाता है और द्वादशांगरूप पर को जानने के कारण वह व्यवहारश्रुतकेवली कहलाता है ।

ऐसी ही अपेक्षा केवली पर भी घटित होती है। स्व-पर सभी को जाननेवाले केवली भगवान स्व को जानने के कारण निश्चयकेवली और लोकालोक को जानने के कारण व्यवहारकेवली कहे जाते हैं। ऐसा भी कहा जाता है कि केवली भगवान निश्चय से आत्मज्ञ हैं और व्यवहार से सर्वज्ञ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

"जो जीव ज्ञान की पर्याय में छहों द्रव्य, उनके गुण-पर्याय - सभी ज्ञेयों को जानते हैं, उन्हें व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं। आत्मा को जाने - यह बात यहाँ नहीं ली है। यह तो पहले निश्चयश्रुतकेवली में आ गई। यहाँ तो एक समय की ज्ञान की पर्याय, जिसमें सर्वश्रुतज्ञान यानि बारह अंग और चौदह पूर्व का ज्ञान होता है, उसे जिनदेव व्यवहारश्रुतकेवली कहते हैं ?[१]

जिस ज्ञान की पर्याय में बारह अंग जाने जाते हैं, द्रव्य-गुण-पर्याय जाने जाते हैं, सभी पर जाना जाता है; वह ज्ञान ज्ञेयरूप नहीं है, किन्तु आत्मरूप (ज्ञानरूप) है। यह ज्ञान अनात्मरूप ज्ञेयों का नहीं, बल्कि आत्मा का ही है। इससे अन्य पक्ष का अभाव होने से ज्ञान आत्मा ही है - यह बात सिद्ध होती है । 'ज्ञान की पर्याय वह आत्मा' - यह व्यवहार है और यह व्यवहार परमार्थ आत्मा को बताता है ।[२]

इसप्रकार परमार्थ को समझानेवाला व्यवहार है तो अवश्य; परन्तु व्यवहार अनुरसरण करने योग्य नहीं है। एक त्रिकाली ज्ञायकभाव का अनुसरण करना ही परमार्थ है। - ऐसा जानकर व्यवहार का आश्रय छोड़कर एक परमार्थ का ही अनुभव करो ।[३]"

उक्त सम्पूर्ण अनुशीलन का निष्कर्ष यह है कि यद्यपि व्यवहार परमार्थ का प्रतिपादक होने से अपने को दृढ़तापूर्वक स्थापित करता है, तथापि वह अनुसरण करने योग्य नहीं है । •

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ १२८
२. वही, पृष्ठ १३१
३. वही, पृष्ठ १३२

समयसार गाथा ११

दसवीं और ग्यारहवीं गाथा के बीच में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका में दो गाथायें उपलब्ध होती हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति नामक संस्कृत टीका में नहीं हैं। उनमें पहली गाथा रत्नत्रय की भावना की गाथा है, जो १६वीं गाथा के समान ही है। जिसप्रकार का भाव इस गाथा में है, ठीक उसीप्रकार का भाव १६वीं गाथा में भी पाया जाता है। दूसरी गाथा में रत्नत्रय की भावना का फल बताया गया है ।

उक्त दोनों गाथाओं पर आचार्य अमृतचन्द्र की टीका तो है ही नहीं, आचार्य जयसेन की टीका में भी विशेष कुछ नहीं है, मात्र गाथा का सामान्य अर्थ कर दिया गया है। वे दोनों गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

णाणम्हि भावणा खलु कादव्वा दंसणे चरित्ते य ।
ते पुण तिण्णिवि आदा तह्मा कुण भावणं आदे ॥
जो आदभावणमिणं णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण ॥

ज्ञान में, दर्शन में एवं चारित्र में भावना करना चाहिए; किन्तु ये तीनों आत्मा ही हैं। अतः आत्मा की ही भावना करना चाहिए ।

जो मुनि तत्परता के साथ इस आत्मभावना को करता है, वह सम्पूर्ण दुःखों से थोड़े ही काल में मुक्त हो जाता है ।

उक्त दोनों गाथाओं में कोई नई विषयवस्तु तो है ही नहीं, इनके नहीं होने पर भी विषयवस्तु के क्रम में कोई व्यवधान नहीं आता; अपितु इनके बिना ही क्रमिक विकास सही बैठता है, जैसा कि आगामी गाथा की उत्थानिका से स्पष्ट है ।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जब व्यवहारनय ने परमार्थ प्रतिपादकत्व के कारण अपने को भली-भाँति स्थापित कर लिया है, तो फिर उसका अनुसरण क्यों नहीं करना चाहिए ?

इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप ही ११वीं गाथा का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार है -

ववहारो भूदत्थो भूदत्थो देसिदो दु सुद्धणओ ।
भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो ॥ ११॥

(हरिगीत)

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आत्मा सम्यक् लहे ॥ ११॥

'व्यवहारनय अभूतार्थ है शुद्धनय भूतार्थ है' - ऐसा कहा गया है। जो जीव भूतार्थ का आश्रय लेता है, वह जीव निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है ।

उक्त गाथा का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं -

"सब ही व्यवहारनय अभूतार्थ होने से अभूत (अविद्यमान-असत्य) अर्थ को प्रगट करते हैं। एक शुद्धनय ही भूतार्थ होने से भूत (विद्यमान-सत्य) अर्थ को प्रगट करता है ।

अब इसी बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। यद्यपि प्रबल कीचड़ के मिलने से आच्छादित है निर्मलस्वभाव जिसका, ऐसे समल जल का अनुभव करनेवाले एवं जल और कीचड़ के विवेक से रहित अधिकांश लोग तो उस जल को मलिन ही अनुभव करते हैं। वे यह नहीं समझ पाते कि स्वभाव से तो जल निर्मल ही है, मलिनता तो मात्र संयोग में है। इसकारण वे जल को ही मलिन मान लेते हैं। तथापि कुछ लोग अपने हाथ से डाले हुए कतकफल के पड़ने मात्र से उत्पन्न जल-कीचड़ के विवेक से, अपने पुरुषार्थ से प्रगट किये गये निर्मलस्वभाव से उस जल को निर्मल ही अनुभव करते हैं ।

तात्पर्य यह है कि अधिकांश लोग तो पंकमिश्रित जल को स्वभाव से मैला मानकर वैसा ही पी लेते हैं और अनेक रोगों से आक्रान्त हो दुःखी होते हैं; किन्तु कुछ समझदार लोग अपने विवेक से इस बात को समझ लेते हैं कि जल मैला नहीं है, इस मैले जल में जल जुदा है और मैल जुदा है तथा कतकफल के जरिये जल और मैल को जुदा-जुदा किया जा सकता है। अतः वे स्वयं के हाथ से कतकफल डालकर मैले जल को इतना निर्मल बना लेते हैं कि उसमें अपना पुरुषाकार भी स्पष्ट दिखाई देने लगता है और उस जल को पीकर निरोग रहते हैं, आरोग्यता का आनन्द लेते हैं ।

इसीप्रकार प्रबल कर्मोदय के संयोग से सहज एक ज्ञायकभाव तिरोभूत (आच्छादित) हो गया है जिसका, ऐसे आत्मा का अनुभव करनेवाले एवं आत्मा और कर्म के विवेक से रहित, व्यवहार-विमोहित चित्तवाले अधिकांश लोग तो आत्मा को अनेकभावरूप अशुद्ध ही अनुभव करते हैं; तथापि भूतार्थदर्शी लोग अपनी बुद्धि से प्रयुक्त शुद्धनय के प्रयोग से उत्पन्न आत्मा और कर्म के विवेक से अपने पुरुषार्थ द्वारा प्रगट किये गये सहज एक ज्ञायकभाव को शुद्ध ही अनुभव करते हैं, एक ज्ञायकभावरूप ही अनुभव करते हैं; अनेकभावरूप नहीं करते ।

यहाँ शुद्धनय कतकफल के स्थान पर है; इसलिए जो शुद्धनय का आश्रय लेते हैं वे ही सम्यक् अवलोकन करते हुए सम्यग्दृष्टि होते हैं; अन्य नहीं। इसलिए कर्मों से भिन्न आत्मा को देखनेवालों को व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है ।''

यह गाथा अत्यन्त गंभीर है, इसमें जिनागम का सार तो भरा ही है, जिनागम को समझने की विधि भी बता दी गई है। इस गाथा के मर्म को समझने के लिए अत्यधिक सावधानी अपेक्षित है; क्योंकि जरासी चूक हो जाने पर बहुत बड़ी हानि हो सकती है ।

इस गाथा व इस पर लिखी आत्मख्याति टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त भावार्थ लिखते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा हमें सचेत करते हैं

तथा अनेक तथ्यों से परिचित भी कराते हैं। अतः उनके भावार्थ को अविकलरूप से देखना आवश्यक है, जो इसप्रकार है –

"यहाँ व्यवहारनय को अभूतार्थ और शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। जिसका विषय विद्यमान न हो, असत्यार्थ हो; उसे अभूतार्थ कहते हैं। शुद्धनय का विषय अभेद एकाकाररूप नित्य द्रव्य है; उसकी दृष्टि में भेद दिखाई नहीं देता; इसलिए उसकी दृष्टि में भेद अविद्यमान, असत्यार्थ ही कहा जाता है। ऐसा तो है नहीं कि भेदरूप कोई वस्तु ही न हो। यदि ऐसा मानेंगे तो जिसप्रकार वेदान्तमतवाले भेदरूप अनित्य को मायास्वरूप कहते हैं, अवस्तु कहते हैं और अभेद-नित्य-शुद्धब्रह्म को वस्तु कहते हैं, वैसा हमें भी मानना होगा। ऐसा मानने पर सर्वथा एकान्त शुद्धनय के पक्षरूप मिथ्यादृष्टित्व का प्रसंग आवेगा। इसलिए ऐसा स्वीकार करना ही ठीक है कि जिनवाणी स्याद्वादरूप है और प्रयोजन के अनुसार नयों को यथायोग्य मुख्य व गौण करके कथन करती है ।

गहराई से समझने की बात यह है कि प्राणियों को भेदरूप व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है और इसका उपदेश भी बहुधा सर्व प्राणी परस्पर करते हैं। जिनवाणी में भी व्यवहार का उपदेश हस्तावलम्बन जानकर बहुत किया है, किन्तु उसका फल तो संसार ही है। शुद्धनय का पक्ष तो कभी आया नहीं और उसका उपदेश भी विरल है। इसलिए उपकारी श्रीगुरु ने शुद्धनय के ग्रहण का फल मोक्ष जानकर उसका ही उपदेश प्रधानता से दिया है और कहा है कि शुद्धनय भूतार्थ है, सत्यार्थ है; इसके आश्रय करने से सम्यग्दृष्टि होता है। इसको जाने बिना जबतक जीव व्यवहार में मग्न है, तबतक आत्मा के ज्ञान-श्रद्धानरूप निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। – ऐसा जानना ।"

यह गाथा और इसकी टीका के पढ़ने से एक बात एकदम स्पष्ट होती है कि सभीप्रकार के व्यवहारनय अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं और एकमात्र शुद्धनय ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है ।

अब यहाँ एक जिज्ञासा सहज ही उत्पन्न होती है कि जिन्हें यहाँ अभूतार्थ कहा जा रहा है, वे व्यवहारनय कितने प्रकार के हैं, कौन-कौन हैं; शुद्धनय क्या है ?

इन सबका स्वरूप जाने बिना समयसार को समझ पाना संभव नहीं लगता, क्योंकि समयसार में इन नयों का प्रयोग बार-बार आता है ।

वस्तुतः बात तो यह है कि नयों को समझे बिना जिनागम के किसी भी शास्त्र का मर्म समझ पाना संभव नहीं है; क्योंकि समस्त जिनागम नयों की भाषा में ही निबद्ध है; तथापि समयसार को समझने के लिए कम से कम अध्यात्मनयों का स्वरूप समझना तो अत्यन्त आवश्यक है ।

नयों के स्वरूप को विस्तार से जानने के लिए 'परमभावप्रकाशक नयचक्र'* का स्वाध्याय किया जाना चाहिए; क्योंकि उसमें सभी प्रकार के नयों का आगम के आलोक में विस्तार से निरूपण है। अध्यात्मनयों के संदर्भ में भी उसमें सर्वांग निरूपण है ।

प्रश्न – उसका स्वाध्याय तो जिज्ञासु पाठक करेंगे ही, पर अध्यात्मनयों की सामान्य जानकारी तो यहाँ भी दी जानी चाहिए ?

उत्तर – जो नय आत्मा के स्वरूप को समझने-समझाने में ही काम आते हैं, उन्हें अध्यात्मनय कहते हैं ।

अध्यात्मनय दो प्रकार के होते हैं – (१) व्यवहारनय और (२) निश्चयनय ।

व्यवहारनय भी दो प्रकार का होता है – (१) असद्भूतव्यवहारनय और (२) सद्भूतव्यवहारनय ।

ये असद्भूत और सद्भूत व्यवहारनय भी उपचरित और अनुपचरित के भेद से दो-दो प्रकार के होते हैं। इसप्रकार कुल मिलाकर व्यवहारनय चार प्रकार का हो गया –

---

* परमभावप्रकाशक नयचक्र : डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल; पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, ए-४, बापूनगर, जयपुर-३०२०१५

(१) उपचरित-असद्भूतव्यवहारनय (२) अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय

(३) उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय (४) अनुपचरित -सद्भूतव्यवहारनय

निश्चयनय भी दो प्रकार का होता है - (१) अशुद्धनिश्चयनय और (२) शुद्धनिश्चयनय ।

शुद्धनिश्चयनय तीनप्रकार का होता है - (१) एकदेशशुद्धनिश्चयनय (२) शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय और (३) परमशुद्धनिश्चयनय।

इसप्रकार कुल मिलाकर निश्चयनय भी चार प्रकार का हो गया ।

ये चार प्रकार के व्यवहार और चार प्रकार के निश्चय - कुल मिलाकर आठ नय अध्यात्मनय कहे जाते हैं ।

जो नय संयोग का ज्ञान कराये, उसे असद्भूतव्यवहारनय कहते हैं । शरीर, स्त्री-पुत्रादि, मकानादि को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना इसी नय का काम है ।

स्त्री-पुत्रादि, मकानादि तथा ग्राम-नगरादि दूरस्थ परपदार्थों को अपना कहना, आत्मा को उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना उपचरित असद्व्यवहारनय है और आत्मा के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप से रहनेवाले शरीर को अथवा आत्मा और शरीर के मिले हुए रूप को आत्मा कहना, आत्मा का कहना, आत्मा को उसका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता कहना अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय है ।

अभेद-अखण्ड आत्मा को गुणों और पर्यायों के भेद करके समझना, समझाना, कहना, सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है ।

अल्पविकसित एवं विकारी पर्यायों को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना उपचरित -सद्भूतव्यवहारनय का कथन है और अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शन-चारित्र के भेद करना तथा पूर्ण विकसित निर्मलपर्यायों को आत्मा का कहना, उनका कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता आत्मा को कहना अनुपचरित-सद्भूतव्यवहारनय का कार्य है ।

रागादि विकारी भावों से आत्मा को अभेद बताना अशुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को मिथ्यादृष्टि कहना इसी नय का काम है। एकदेशशुद्धपर्याय से आत्मा को अभेद बताना एकदेशशुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को सम्यग्दृष्टि, देशसंयमी कहना इसी नय का कथन है। पूर्णशुद्धपर्याय से आत्मा को अभेद बताना शुद्धनिश्चयनय या साक्षात्शुद्धनिश्चयनय है। आत्मा को केवलज्ञानी कहना, सिद्ध कहना इसी नय का कथन है ।

आत्मा को सम्पूर्ण शुद्धाशुद्धपर्यायों से रहित, गुणभेद से भिन्न, अभेद-अखण्ड-नित्य जानना-कहना परमशुद्धनिश्चयनय है। त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव इसी परमशुद्धनिश्चयनय का विषय है ।

परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत यह ज्ञायकभाव ही दृष्टि का विषय है और इसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

इस गाथा में जो शुद्धनय शब्द का प्रयोग है, वह परमशुद्धनिश्चयनय के अर्थ में ही है । यहाँ एकमात्र उसे ही भूतार्थ कहा गया है, शेष निश्चयनय भी परमशुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही हो जाते हैं; अतः किसी अपेक्षा वे भी अभूतार्थ हो जाते हैं; परन्तु परमशुद्धनिश्चयनय सदा ही भूतार्थ रहता है। जैसा कि छठवीं गाथा के भावार्थ में छाबड़ाजी ने लिखा है कि 'अशुद्धद्रव्यार्थिकनय भी शुद्धद्रव्य की दृष्टि में पर्यायार्थिक ही है; इसलिए व्यवहार ही है - ऐसा आशय समझना चाहिए ।'

गाथा में स्पष्टरूप से कहा गया है कि जो जीव भूतार्थ का आश्रय करता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि होता है। अतः यह सुनिश्चित ही है कि जिस नय की विषयभूत वस्तु में अपनापन स्थापित करने से सम्यग्दर्शन होता है, वही नय भूतार्थ है, सत्यार्थ है। उक्त आठ नयों में एक परमशुद्धनिश्चयनय ही ऐसा है, जिसके विषयभूत आत्मद्रव्य में अपनापन स्थापित होने से सम्यग्दर्शन होता है, अतः वह ही वास्तविक शुद्धनय है और वही भूतार्थ है; शेष सभी नय अभूतार्थ हैं ।

प्रश्न – उक्त व्याख्या के अनुसार तो निश्चयनय के आरंभिक तीन भेद भी अभूतार्थ हो गये । तो क्या अशुद्धनिश्चयनय, एकदेशशुद्धनिश्चयनय एवं साक्षात्शुद्धनिश्चयनय भी अभूतार्थ हैं ?

उत्तर – 'शुद्धनय' शब्द के प्रयोग से यह तो सुनिश्चित ही है कि उसमें अशुद्धनिश्चयनय को शामिल करना अभीष्ट नहीं है। शुद्धनिश्चयनय के संदर्भ में आचार्य जयसेन का वह कथन द्रष्टव्य है, जिसमें वे आचार्य अमृतचन्द्रकृत अर्थ को स्वीकार करते हुए इस गाथा का एक और भी अर्थ करते हैं, जो इसप्रकार है –

"द्वितीय व्याख्यान से व्यवहारनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ इन दो भेदोंरूप कहा गया है। न केवल व्यवहारनय ही भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है, अपितु शुद्धनिश्चयनय भी भूतार्थ और अभूतार्थ के भेद से दो प्रकार का है ।"

उक्त कथन से यह अत्यन्त स्पष्ट है कि शुद्धनिश्चयनय के भी अनेक भेद होते हैं तथा उनमें कुछ भूतार्थ और कुछ अभूतार्थ होते हैं। शुद्धनिश्चयनय के जिस भेद का विषय पर और पर्याय से रहित, गुणभेद से भिन्न, अभेद, नित्य, एक भगवान आत्मा बनता है; वह ही भूतार्थ है, सत्यार्थ है; शेष सभी अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

वैसे तो प्रत्येक नय अपने प्रयोजन की दृष्टि से भूतार्थ होता है अर्थात् अपने प्रयोजन को सिद्ध करने की अपेक्षा भूतार्थ है, पर सम्यग्दर्शन की प्राप्ति एकमात्र शुद्धनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के आश्रय से ही होती है; अतः इस दृष्टि से एकमात्र वही भूतार्थ है ।

प्रश्न – आचार्य जयसेन के उक्त कथन से तो व्यवहार भी भूतार्थ हो गया ?

उत्तर – व्यवहार भी कथंचित् भूतार्थ है। यह बात चौदहवीं गाथा में पाँच उदाहरणों के माध्यम से पाँच बोलों में की गई है; जिसकी विस्तृत चर्चा यथास्थान होगी ही। इस गाथा के भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छावड़ा ने भी यह बात स्पष्ट कर दी है; साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया

है कि प्राणियों को व्यवहार का पक्ष तो अनादि से ही है और इसका उपदेश भी बहुत दिया जाता है, जहाँ देखो इसी की चर्चा होती है। जिनवाणी में भी यथास्थान इसकी पर्याप्त चर्चा प्राप्त होती है। इतना सब होने पर भी अन्ततः उसका फल तो संसार ही है, उसके आश्रय से मुक्ति प्राप्त होना संभव नहीं है ।

शुद्धनय का पक्ष अनादि से अभीतक आया नहीं है और उसका उपदेश भी विरल है। अतः उसी की मुख्यता से निरूपण है और यहाँ उसी का आश्रय लेने की प्रेरणा दी गई है, उसी को भूतार्थ कहा है ।

प्रश्न –

''निश्चयमिह भूतार्थं व्यवहारं वर्णयन्त्यभूतार्थम् ।
भूतार्थबोधविमुखः प्रायः सर्वोऽपि संसारः ॥५॥

निश्चयनय को भूतार्थ और व्यवहारनय को अभूतार्थ कहा गया है और प्रायः सम्पूर्ण संसार भूतार्थ के ज्ञान से विमुख ही है ।''

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के उक्त कथन में आचार्य अमृतचन्द्र ने निश्चयनय को भूतार्थ कहा है और समयसार की ग्यारहवीं गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द ने शुद्धनय को भूतार्थ कहा है। निश्चयनय में तो निश्चयनय के चारों ही भेद गर्भित होते हैं, पर शुद्धनय में अशुद्धनिश्चयनय नहीं आता। इसप्रकार इन दोनों कथनों में अन्तर दिखाई देता है। अतः प्रश्न यह है कि यहाँ किस नय को ग्रहण किया जाय ?

उत्तर – दोनों कथनों मे कोई अन्तर नहीं है। दोनों ही स्थानों पर परमशुद्धनिश्चयनय ही ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि सम्पूर्ण संसार परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव ज्ञायकभाव से ही विमुख है और उसी के आश्रय से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार भी द्रष्टव्य हैं –

''पंचाध्यायी में तो ऐसा कहा है कि जो निश्चयनय के दो भेद करते हैं, वे सर्वज्ञ की आज्ञा के बाहर हैं। वही बात यहाँ कहते हैं कि त्रिकाली

ध्रुव भगवान आत्मा ध्रुव-अखण्ड-एकरूप भूतार्थ सत्वस्तु या उसको जाननेवाला ज्ञानांश ही शुद्धनय है और वह एक ही है, उसके दो भेद नहीं हैं। पर्यायसहित या रागसहित आत्मा को जानना सो निश्चय - ऐसी बात यहाँ नहीं है। यहाँ त्रिकाली ध्रुव एकरूप शुद्ध ज्ञायकरूप ही सत्यार्थ है और उसे जाननेवाला शुद्धनय भी एक ही है, उसके दो भेद नही है।[१]"

प्रश्न - मूल गाथा में व्यवहारनय को अभूतार्थ एवं शुद्धनय को भूतार्थ कहा गया है; परन्तु अशुद्धनिश्चयनय को न भूतार्थ कहा है और न ही अभूतार्थ ही कहा है; उसके बारे में तो आचार्यदेव मौन हैं। फिर भी पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में निश्चयनय को भूतार्थ कहा है। चूँकि अशुद्धनिश्चयनय निश्चयनय का ही एक भेद है; अतः उसे भूतार्थ कहना ही ठीक लगता है।

उत्तर - नहीं, यह ठीक नहीं है; क्योंकि मूल गाथा में जब शुद्धनय शब्द है तो उसमें अशुद्धनय को कैसे शामिल किया जा सकता है। दूसरे बृहद्द्रव्यसंग्रह की गाथा ४८ की टीका में आता है कि '**स चाशुद्धनिश्चयः शुद्धनिश्चयापेक्षया व्यवहार एव** - और वह अशुद्धनिश्चयनय शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा व्यवहार ही है।'

उक्त कथन के आधार पर अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार होने से अभूतार्थ ही है, भूतार्थ नहीं।

परमशुद्धनिश्चयनय को छोड़कर निश्चयनय के शेष भेद किसप्रकार व्यवहारपने को प्राप्त होकर अभूतार्थ हो जाते हैं - इस पर विस्तार से विचार करते हुए परमभावप्रकाशक नयचक्र में जो लिखा गया है, वह इसप्रकार है -

"बात यहाँ तक ही समाप्त नहीं होती; क्योंकि जब शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से अशुद्धनिश्चयनय व्यवहार हो जाता है, तो शुद्धनिश्चय के प्रभेदों में भी ऐसा क्यों नहीं हो ? अर्थात् होता ही है। परमशुद्धनिश्चयनय

१. प्रवचनरत्नाकार (गुजराती), भाग १, पृष्ठ १३९

की अपेक्षा साक्षात्शुद्धनिश्चयनय एवं एकदेशसुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही कहे जाते हैं ।[१]

'न तथा' शब्द से सबका निषेध करनेवाला परमशुद्धनिश्चयनय कभी भी किसी भी नय द्वारा निषिद्ध नहीं होता, अतः वह कभी भी व्यवहारपने को प्राप्त नहीं होता; किन्तु वह सबका निषेध करके स्वयं निवृत्त हो जाता है और निर्विकल्प आत्मानुभूति का उदय होता है। वास्तव में यह आत्मानुभूति की प्राप्ति ही इस सम्पूर्ण प्रक्रिया का फल है ।[२]"

उक्त मंथन से यह स्पष्ट है कि दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा का प्रतिपादक शुद्धनय (परमशुद्धनिश्चयनय) ही एक भूतार्थ है, सत्यार्थ है; शेष सभी नय व्यवहार होने से अभूतार्थ हैं, असत्यांर्थ हैं। शुद्धनय अथवा शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है; अतः एकमात्र वही उपादेय है । •

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है ।

अतः सुखाभिलाषी को, आत्मार्थी को, मुमुक्षु को अपने को पहिचानना चाहिए, अपने में जम जाना चाहिए, रम जाना चाहिए। सुख पाने के लिए अन्यत्र भटकना आवश्यक नहीं। अपना सुख अपने में है, पर में नहीं, परमेश्वर में भी नहीं; अतः सुखार्थी का परमेश्वर की ओर भी किसी आशा-आकांक्षा से झाँकना निरर्थक है। तेरा प्रभु तू स्वयं है। तू स्वयं ही अनन्त सुख का भण्डार है, सुखस्वरूप है, सुख ही है। सुख को क्या चाहना ? चाह ही दुःख है। पंचेन्द्रिय के विषयों में सुख है ही नहीं। चक्रवर्ती की सम्पदा पाकर भी यह जीव सुखी नहीं हो पाया। ज्ञानी जीवों की दृष्टि में चक्रवर्ती की सम्पत्ति की कोई कीमत नहीं है, वे उसे जीर्ण तृण के समान त्याग देते हैं और अन्तर में समा जाते हैं। अन्तर में जो अनन्त आनन्दमय महिमावन्त पदार्थ विद्यमान है, उसके सामने बाह्य विभूति की कोई महिमा नहीं ।

धर्म परिभाषा नहीं, प्रयोग है। अतः आत्मार्थी को धर्म को शब्दों में रटने के बजाय जीवन में उतारना चाहिए, धर्ममय हो जाना चाहिए ।

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ५२

---

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ८२
२. वही, पृष्ठ ९७

समयसार गाथा १२

अब यह प्रश्न फिर उपस्थित होता है कि जब शुद्धनय के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन होता है, व्यवहार के आश्रय से नहीं; इसलिए प्रत्यगात्मदर्शियों के लिए व्यवहारनय अनुसरण करने योग्य नहीं है तो फिर इस व्यवहारनय का उपदेश ही क्यों दिया जाता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में बारहवीं गाथा में कहा गया है कि व्यवहारनय भी किन्हीं-किन्हीं को कभी-कभी प्रयोजनवान होता है; इसलिए यह सर्वथा निषेध करने योग्य नहीं है और इसलिए जिनवाणी में इसका उपदेश दिया गया है ।

यह व्यवहारनय किनको और कब प्रयोजनवान है ? - यह बताना ही बारहवीं गाथा का मूल प्रतिपाद्य है। मूल गाथा इसप्रकार है -

सुद्धो सुद्धादेसो णादव्वो परमभावदरसीहिं ।
ववहारदेसिदा पुण जे दु अपरमेट्ठिदा भावे ॥१२॥

(हरिगीत)

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं ॥१२॥

जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए तथा पूर्ण ज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें शुद्धात्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य है और जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं, श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक-अवस्था में ही स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं ।

इस गाथा के भाव को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान वस्तु के उत्कृष्टभाव का अनुभव करते हैं; उन्हें प्रथम, द्वितीय आदि पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यम भावों का अनुभव नहीं होता। इसलिए उन्हें तो शुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एवं अचलित-अखण्ड एकस्वभावरूप भाव का प्रकाशक शुद्धनय ही सबसे ऊपर की एक प्रतिवर्णिका समान होने से जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है; परन्तु जो पुरुष प्रथम, द्वितीय आदि अनेक पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण के समान अनुत्कृष्ट-मध्यमभाव का अनुभव करते हैं; उन्हें अन्तिम ताव से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान उत्कृष्टभाव का अनुभव नहीं होता है। इसलिए उन्हें अशुद्धद्रव्य का प्रतिपादक एवं भिन्न-भिन्न एक-एक भावस्वरूप अनेक भावों का प्रकाशक व्यवहारनय विचित्र अनेक वर्णमालाओं के समान होने से जानने में आता हुआ उस काल प्रयोजनवान है; क्योंकि तीर्थ और तीर्थफल की ऐसी ही व्यवस्था है ।

कहा भी है -

जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहारणिच्छए मुयह ।
एक्केण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्चं ॥

यदि तुम जिनमत का प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों में से एक को भी मत छोड़ो; क्योंकि व्यवहारनय के बिना तीर्थ का एवं निश्चयनय के बिना तत्त्व का नाश हो जावेगा ।"

उक्त सन्दर्भ में परमभावप्रकाशक नयचक्र का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"इसमें कहा गया है कि व्यवहार के बिना तीर्थ का लोप हो जावेगा और निश्चय के बिना तत्व का लोप हो जावेगा अर्थात् तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी। यहाँ 'तीर्थ' का अर्थ उपदेश और 'तत्त्व' का अर्थ शुद्धात्मा का अनुभव है। उपदेश की प्रक्रिया प्रतिपादन द्वारा सम्पन्न होती है, तथा प्रतिपादन करना व्यवहार का काम है; अतः व्यवहार को सर्वथा असत्यार्थ मानने से तीर्थ का लोप हो जावेगा - ऐसा कहा है। शुद्धात्मा का अनुभव निश्चयनय

के विषयभूत अर्थ में एकाग्र होने पर होता है; अतः निश्चयनय को छोड़ने पर तत्त्व की प्राप्ति नहीं होगी अर्थात् आत्मा का अनुभव नहीं होगा - ऐसा कहा है। द्वादशांग जिनवाणी में व्यवहार द्वारा जो भी उपदेश दिया गया है, उसका सार एकमात्र आत्मा का अनुभव ही है। आत्मानुभूति ही समस्त जिनशासन का सार है ।

इसप्रकार इस गाथा में यही कहा गया है कि उपदेश की प्रक्रिया में व्यवहारनय प्रधान है और अनुभव की प्रक्रिया में निश्चयनय प्रधान है ।

आत्मा के अनुभव में व्यवहारनय स्वतः गौण हो गया है। इसलिए आत्मानुभव के अभिलाषी आत्मार्थी निश्चयनय के समान ही व्यवहार को उपादेय कैसे मान सकते हैं ? व्यवहार की जो उपादेयता है, वे उसे भी अच्छी तरह जानते हैं। ज्ञानीजन जब व्यवहारनय को हेय या असत्यार्थ कहते हैं तो उसे गौण करके ही असत्यार्थ कहते हैं, अभाव करके नहीं - यह बात ध्यान में रखने योग्य है ।

गाथा की प्रथम पंक्ति में कहा गया है कि यदि तुम जिनमत को प्रवर्ताना चाहते हो तो व्यवहार-निश्चय को मत छोड़ो। 'प्रवर्ताना' शब्द के दो भाव होते हैं। एक तो तीर्थ-प्रवर्तन और दूसरा आत्मानुभव। 'तीर्थप्रवर्तन' का अर्थ जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है। अतः यदि जिनधर्म की उपदेश-प्रक्रिया को निरन्तरता प्रदान करना है तो वह व्यवहार द्वारा ही संभव होगा, अनिर्वचनीय या 'न तथा' शब्द द्वारा वक्तव्य निश्चयनय से नहीं; किन्तु जिनमत का वास्तविक प्रवर्तन तो आत्मानुभवन ही है; अतः आत्मानुभूतिरूप जिनमत का प्रवर्तन तो निश्चयनय के विषयभूत अर्थ में मग्न होने पर ही संभव है। यहाँ उपदेश के विकल्परूप व्यवहारनय को कहाँ स्थान प्राप्त हो सकता है ?

तीर्थंकर भगवान महावीर का तीर्थ आज भी प्रवर्तित है; क्योंकि उनकी वाणी में निरूपित शुद्धात्मवस्तु का अनुभव ज्ञानीजन आज भी करते हैं - यह व्यवहार और निश्चय की अद्भुत संधि है। अनुभव की प्रेरणा की

देशनारूप व्यवहार और अनुभवरूप निश्चय की विद्यमानता व्यवहार-निश्चय को नहीं छोड़ने की प्रक्रिया है, जिसका आदेश उक्त गाथा में दिया गया है ।

दूसरे प्रकार से विचार करें तो मोक्षमार्ग की पर्याय को तीर्थ कहा जाता है तथा जिस त्रिकाली ध्रुव निज शुद्धात्मवस्तु के आश्रय से मोक्षमार्ग की पर्याय प्रगट होती है, उसे तत्त्व कहते हैं; अतः व्यवहार को नहीं मानने से मोक्षमार्गरूप तीर्थ और निश्चयनय को नहीं मानने से निज शुद्धात्मतत्त्व के लोप का प्रसंग उपस्थित होगा ।[१]''

इस संदर्भ में आध्यात्मिकसत्पुरुष श्री कानजीस्वामी के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

''जिनमत अर्थात् वीतराग अभिप्राय का प्रवर्तन कराना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को मत छोड़ो। 'व्यवहार नहीं है' - ऐसा मत कहो। व्यवहार है, किन्तु गाथा ११ में जो असत्य कहा है, वह त्रिकालध्रुव निश्चय की विवक्षा में गौण करके असत्य कहा है; बाकी व्यवहार है, मोक्ष का मार्ग है। व्यवहारनय न मानो तो तीर्थ का नाश हो जायगा। चौथा, पाँचवाँ, छठवाँ आदि चौदह गुणस्थान जो व्यवहार के विषय हैं, वे हैं - मोक्ष का उपाय जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र हैं, वे व्यवहार हैं। चौदह गुणस्थान द्रव्य में नहीं हैं - यह तो ठीक, किन्तु पर्याय में भी नहीं है - ऐसा कहोगे तो तीर्थ का ही नाश हो जायेगा तथा तीर्थ का फल जो मोक्ष और सिद्धपद है, उसका भी अभाव हो जायेगा। ऐसा होने पर जीव के संसारी और सिद्ध - ऐसे जो दो विभाग पड़ते हैं, वह व्यवहार भी नहीं रहेगा ।

भाई ! बहुत गंभीर अर्थ है। भाषा तो देखो। यहाँ मोक्षमार्ग की पर्याय को 'तीर्थ' कहा और वस्तु को 'तत्त्व' कहा है। त्रिकाली ध्रुव चैतन्यघन वस्तु निश्चय है। यदि उस वस्तु को नहीं मानेंगे तो तत्त्व का नाश हो जाएगा

१. परमभावप्रकाशक नयचक्र, पृष्ठ ८१

और तत्त्व के अभाव में, तत्त्व के आश्रय से उत्पन्न हुआ जो मोक्षमार्गरूप तीर्थ, वह भी नहीं रहेगा। इस निश्चयरूप वस्तु को नहीं मानने से तत्त्व का और तीर्थ का दोनों का नाश हो जायेगा; इसलिए वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा यथार्थ मानना। जबतक पूर्णता नहीं हुई, तबतक निश्चय और व्यवहार दोनों होते हैं। पूर्णता हो गई अर्थात् स्वयं में पूर्ण स्थिर हो गया, वहाँ सभी प्रयोजन सिद्ध हो गये। उसमें तीर्थ व तीर्थफल सभी कुछ आ गया ।[१]"

प्रश्न – 'परमभाव में स्थित पुरुषों को शुद्धनय जानने योग्य है और जो अपरमभाव में स्थित हैं, वे व्यवहारनय द्वारा उपदेश करने योग्य हैं।' – गाथा में समागत उक्त कथन में मूल समस्या यह है कि गुणस्थान परिपाटी के अनुसार किन्हें परमभाव में स्थित माना जाय और किन्हें अपरमभाव में स्थित माना जाय ?

उत्तर – यद्यपि आचार्य अमृचन्द्र ने अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण एवं प्रथम-द्वितीय पाकों की परम्परा से पच्यमान अशुद्धस्वर्ण का उदाहरण देकर बहुत कुछ स्पष्ट कर दिया है; तथापि गुणस्थानों का स्पष्ट उल्लेख न होने से चित्त में थोड़ी-बहुत अस्पष्टता बनी ही रहती है ।

तात्पर्यवृत्ति में आचार्य जयसेन भी 'परमभाव' शब्द की व्याख्या में तो गुणस्थानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं करते, परन्तु 'अपरमभाव' की व्याख्या में जो कुछ लिखते हैं, वह मूलतः इसप्रकार है :-

"केषां जे ये पुरुषाः दु पुनः अपरमे अशुद्धे असंयतसम्यग्दृष्ट्यपेक्षया श्रावकापेक्षया वा सरागसम्यग्दृष्टिलक्षणे शुभोपयोगे प्रमत्ताप्रमत्तसंयतापेक्षया च भेदरत्नत्रयलक्षणे वा ठिदा स्थिताः । कस्मिन् स्थिताः ? भावे जीवपदार्थे तेषामिति भावार्थ : ।"

तात्पर्यवृत्ति के उक्तांश का अर्थ वीरसागरजी महाराज इसप्रकार करते हैं –

---

१. प्रवचनरत्नाकर भाग १, पृष्ठ १६२-६३

"जो पुरुष अपरमभाव में स्थित हैं, अर्थात् चतुर्थगुणस्थानवर्ती असंयतसम्यग्दृष्टि की अपेक्षा से अथवा पंचमगुणस्थानवर्ती श्रावक की अपेक्षा से जो सरागसम्यग्दर्शन-लक्षण शुभोपयोग में स्थित हैं अथवा षष्ठ-सप्तम गुणस्थानवर्ती प्रमत्त-अप्रमत्त संयत (सकलसंयम) की अपेक्षा भेदरत्नत्रयलक्षण शुभोपयोग में - जीवपदार्थ में स्थित हैं, उनके लिये व्यवहारनय प्रयोजनवान है ।[१]"

उक्त कथन से स्पष्ट है कि शुभाशुभभावरूप अशुद्धभाव अपरमभाव है और शुद्धोपयोगरूप शुद्धभाव परमभाव है। यह भी स्पष्ट है कि चतुर्थ गुणस्थान से सिद्ध अवस्था तक परमभाव और अपरमभाव को यथास्थान यथायोग्य घटित किया जा सकता है ।

उक्त कथन से तो यही प्रतीत होता है कि चतुर्थ गुणस्थान के पहले निश्चय और व्यवहारनय नहीं होते। निश्चय और व्यवहारनय सम्यग्ज्ञान के अंश हैं; अतः उनका यथार्थरूप में होना सम्यग्दृष्टि के ही संभव है। तथापि इस संदर्भ में इसी गाथा के भावार्थ में व्यक्त जयचन्दजी छाबड़ा के विचार भी द्रष्टव्य हैं -

"जहाँतक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान की प्राप्तिरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई हो, वहाँतक तो जिनसे यथार्थ उपदेश मिलता है - ऐसे जिनवचनों को सुनना, धारण करना तथा जिनवचनों को कहनेवाले श्रीजिनगुरु की भक्ति, जिनबिम्ब के दर्शन इत्यादि व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है; और जिन्हें श्रद्धान-ज्ञान तो हुआ है किन्तु साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई - उन्हें पूर्वकथित कार्य, परद्रव्य का आलम्बन छोड़नेरूप अणुव्रत-महाव्रत का ग्रहण, समिति, गुप्ति और पंचपरमेष्ठी के ध्यानरूप प्रवर्तन तथा उसीप्रकार प्रवर्तन करनेवालों की संगति एवम् विशेष जानने के लिए शास्त्रों का अभ्यास करना इत्यादि व्यवहारमार्ग में स्वयं प्रवर्तन करना और दूसरों को प्रवर्तन कराना - ऐसे व्यवहारनय का उपदेश अंगीकार करना प्रयोजनवान है ।

१. समयसार : श्रीसमयसार प्रकाशन समिति, शुक्रवार पेठ, सोलपुर-२, पृष्ठ १७

व्यवहारनय को कथंचित् असत्यार्थ कहा गया है, किन्तु यदि कोई उसे सर्वथा असत्यार्थ जानकर छोड़ दे तो वह शुभोपयोगरूप व्यवहार को ही छोड़ देगा और उसे शुद्धोपयोग की साक्षात् प्राप्ति तो हुई नहीं है, इससे उल्टा अशुभोपयोग में आकर, भ्रष्ट होकर, चाहे जैसी स्वेच्छारूप प्रवृत्ति करेगा तो वह नरकादि गति तथा परम्परा से निगोद को प्राप्त होकर संसार में ही भ्रमण करेगा ।

इसलिए शुद्धनय का विषय जो साक्षात् शुद्ध आत्मा है, उसकी प्राप्ति जबतक न हो तबतक व्यवहार भी प्रयोजनवान है – ऐसा स्याद्वादमत में श्रीगुरुओं का उपदेश है ।"

उक्त सन्दर्भ में पण्डितप्रवर टोडरमलजी के विचार द्रष्टव्य हैं –

"निश्चयनय से जीव का स्वरूप गुणस्थानादि विशेषों से रहित अभेद वस्तु मात्र ही है और व्यवहारनय से गुणस्थानादि विशेषों से रहित अनेक प्रकार है। वहाँ जो जीव सर्वोत्कृष्ट, अभेद, एक स्वभाव को अनुभव करते हैं, उनको तो शुद्ध उपदेशरूप जो शुद्ध निश्चयनय है, वही कार्यकारी है किन्तु जो स्वानुभव दशा को प्राप्त नहीं हुए हैं अथवा स्वानुभव दशा से छूटकर सविकल्प दशा में आ गये हैं – इसप्रकार अनुत्कृष्टदशा को प्राप्त हैं, अशुद्धस्वभाव में स्थित हैं; उनके लिए व्यवहारनय प्रयोजनवान है ।[१]"

उक्त कथनों में अत्यन्त स्पष्टरूप से उल्लेख है कि जबतक सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं हुई है, तबतक व्यवहारमार्ग में प्रवृत्त होना प्रयोजनवान है। तथा जिन्हें दर्शन-ज्ञान की प्राप्ति तो हो गई हैं; पर साक्षात् प्राप्ति नहीं हुई है, उन्हें भी व्यवहारमार्ग में प्रवर्तन करना-कराना प्रयोजनवान है। इससे सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन के पूर्व में भी व्यवहारनय प्रयोजनवान है ।

उक्त सम्पूर्ण कथन का गहराई से अध्ययन करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि परमभाव एवं अपरमभाव को निम्नांकित तीन प्रकार से घटित कर सकते हैं –

---

१. सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका, पीठिका, पृष्ठ ९-१०

१. आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष श्रद्धा की अपेक्षा परमभाव में स्थित हैं। अतः उन्हें देशनालब्धिरूप व्यवहार का कोई विशेष प्रयोजन नहीं रहा; क्योंकि समझने योग्य त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को वे समझ चुके हैं, अनुभव भी कर चुके हैं ।

अज्ञानी मिथ्यादृष्टि अपरमभाव में स्थित हैं। वे आत्मा को नहीं समझते हैं। अतः उन्हें आत्मा का स्वरूप समझानेवाला व्यवहारनय प्रयोजनवान है। आठवीं गाथा में म्लेच्छ के उदाहरण से इस बात को भली-भाँति स्पष्ट किया गया है। वहाँ जिसने 'आत्मा' शब्द भी नहीं सुना है - ऐसा अज्ञानी मिथ्यादृष्टि शिष्य लिया है। उसे समझाने के लिए ही व्यवहार के उपदेश की उपयोगिता बताई है। निश्चय-व्यवहार संबंधी यह प्रकरण भी वहीं से आरंभ हुआ है, जो यहाँ बारहवीं गाथा में आकर समाप्त हो रहा है ।

अतः यहाँ मिथ्यादृष्टि अज्ञानी को अपरमभाव में लेना अनुचित प्रतीत नहीं होता ।

मुख्यरूप से समझाना तो अज्ञानी को ही है और व्यवहार की उपयोगिता भी समझने-समझाने में ही अधिक है। आखिर व्यवहार निश्चय का प्रतिपादक ही तो है; अतः निश्चय को नहीं जाननेवाले को ही व्यवहारमार्ग से समझना-समझाना प्रयोजनवान है ।

२. शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की अपेक्षा चतुर्थ गुणस्थानवर्ती अविरत-सम्यग्दृष्टि, पंचमगुणस्थानवर्ती अणुव्रती एवं षष्ठगुणस्थानवर्ती महाव्रती मुनिराज शुभोपयोग के काल में अपरमभाव में स्थित हैं और अनुभव के काल में तथा सप्तमादि-गुणस्थानों में स्थित शुद्धोपयोगी परमभाव में स्थित हैं ।

३. छद्मस्थ और वीतरागी-सर्वज्ञ की अपेक्षा बारहवें गुणस्थान तक के सभी ज्ञानी अवस्था सभी ज्ञानी-अज्ञानी छद्मस्थ अपरमभाव में स्थित हैं और तेरहवें गुणस्थान से लेकर आगे के सभी वीतरागी-सर्वज्ञ परमभाव में स्थित हैं; क्योंकि अन्तिमपाक से उतरे हुए शुद्धस्वर्ण के समान शुद्धता तो उन्हीं पर घटित होती है ।

प्रश्न – शुद्धोपयोगियों को शुद्धनय का उपदेश देने की क्या आवश्यकता है, अनुभव के काल में वे उपदेश को ग्रहण भी कैसे करेंगे ? तथा सम्यग्दृष्टियों को व्यवहार से समझाने की क्या आवश्यकता है, क्योंकि वे वस्तुतत्त्व को समझकर ही सम्यग्दृष्टि हुए हैं । अतः प्रश्न यह है कि शुद्धोपयोगियों को शुद्धनय और सम्यग्दृष्टियों को व्यवहारनय किसप्रकार प्रयोजनवान होंगे ?

उत्तर – यहाँ निश्चय-व्यवहार के उपदेश देने की विवक्षा नहीं है। यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि शुद्धि और अशुद्धि की कहाँ-कहाँ क्या-क्या स्थिति रहती है। किस भूमिका में कितनी शुद्धता रहती है और कितना राग रहता है - यहाँ तो बस यही बताना अभीष्ट है। जिस भूमिका में जितना राग-व्यवहार रहता है, उस भूमिका में वह राग-व्यवहार उस काल जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है। इसीप्रकार जिस भूमिका में जितनी शुद्धि विद्यमान रहती है, वह भी मात्र जानने में आती हुई प्रयोजनवान है ।

उक्त संदर्भ में आत्मख्याति में समागत निम्नांकित कथन विशेष ध्यान देने योग्य है –

"**शुद्धनयः ..... परिज्ञायमानः प्रयोजनवान् । ..... व्यवहारनयो ..... परिज्ञायमानः तदात्वे प्रयोजनवान् ।**

शुद्धनय जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है और व्यवहारनय उसकाल जानने में आता हुआ प्रयोजनवान है ।"

उक्त कथन में शुद्धनय को जानने में आता हुआ प्रयोजनवान कहा है और व्यवहारनय को उसकाल जानने में आता हुआ प्रयोजनवान कहा है। इसमें उपदेश देने और ग्रहण करने की बात ही कहाँ आती है ? उक्त दोनों नयों के विषय तो यथास्थान जाने हुए ही प्रयोजनवान हैं ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी ने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह इसप्रकार है –

"जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए हैं तथा पूर्णज्ञान-चारित्रवान हो गये हैं, उन्हें तो शुद्ध आत्मा का उपदेश करनेवाला शुद्धनय जानने योग्य

है। देखो, शुद्धनय का आश्रय (शुद्धनय के विषय का आश्रय) तो समकिती को होता है। यहाँ तो शुद्धनय (केवलज्ञान होने पर) पूर्ण हो गया है, उसका आश्रय करने को अब रहा नहीं, इस अपेक्षा से यहाँ बात की है। जो शुद्धनय तक पहुँचकर श्रद्धावान हुए, अर्थात् जो केवलज्ञान को प्राप्त हुए तथा जिन्होंने चारित्र की सम्पूर्ण स्थिरता को प्राप्त कर लिया, उन्हें तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय करने का प्रयोजन रहा नहीं, उन्हें तो शुद्धनय मात्र जानने योग्य है। अर्थात् इसका फल जो कृतकृत्यपना आया, उसका केवलज्ञान में ज्ञान हुआ। पूर्ण निर्विकल्पदशा जिसे हो गई, वह उसे मात्र जानता है। अधूरी दशा में होनेवाला राग उसे नहीं है। इसलिए व्यवहार भी उसके नहीं रहता ।[१]

जो जीव अपरमभाव में स्थित हैं अर्थात् श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के पूर्णभाव को नहीं पहुँच सके हैं, साधक-अवस्था में ही स्थित हैं; उन्हें व्यवहार द्वारा भी उपदेश करने योग्य है। सम्यग्दर्शन हुआ है, किन्तु सम्यग्ज्ञान-चारित्र पूर्ण नहीं हुए। सर्वज्ञता की प्रतीति हुई है, किन्तु सर्वज्ञपद प्रकट नहीं हुआ है। - ऐसी साधक दशा में जो स्थित हैं, वे 'व्यवहारदेशिताः' अर्थात् व्यवहार द्वारा उपदेश करने योग्य हैं। शब्द तो 'व्यवहारदेशिताः' है; किन्तु इसका वाच्यार्थ तो यह है कि उस काल में जो कुछ व्यवहार है, वह जानने योग्य है। प्रतिसमय साधक को शुद्धता बढ़ती है, अशुद्धता घटती है। जिस समय जितनी शुद्धता-अशुद्धता है, वह मात्र जानने के लिए प्रयोजनवान है ।[२]"

शुद्धनय जाना हुआ प्रयोजनवान है और व्यवहारनय उसकाल जाना हुआ प्रयोजनवान है। शुद्धनय का विषयभूत आत्मा तो सदा ही जानने योग्य है, पर वह परमभाव को प्राप्त पुरुषों को ही जानने में आता है। व्यवहारनय के विषयभूत अणुव्रत-महाव्रतादि एवं भक्ति-स्वाध्याय आदि के शुभभाव भूमिकानुसार जिस-जिस समय जो-जो आते हैं; वे सब उस-उस समय

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ १५८
२. वही, पृष्ठ १५८-५९

जाने हुए प्रयोजनवान हैं। तात्पर्य यह है कि 'वे करने योग्य हैं; उपादेय हैं' - ऐसी बात नहीं है; अपितु वे निचली भूमिका में आये बिना नहीं रहते; अतः उन्हें वीतरागभाव से अपने ज्ञान के ज्ञेय बना लेना चाहिए । न तो उनमें उपादेयबुद्धि रखनी चाहिए और न उनके आजाने से आकुल-व्याकुल ही होना चाहिए; बल्कि ऐसा जानना चाहिए की चौथे-पाँचवें एवं छठे गुणस्थान की भूमिका में ऐसे भावों का होना सहजवृत्ति ही है। आगे भी जहाँतक छद्मस्थ अवस्था है, वहाँतक अबुद्धिपूर्वक यथायोग्य रागभाव विद्यमान रहते हैं, पर वे भी मात्र उसकाल जाने हुए प्रयोजनवान हैं। वे करने योग्य नहीं हैं, पर होते अवश्य हैं। अतः उन्हें निर्विकारभाव से जानकर सहजभाव धारण करना ही श्रेष्ठ है ।

इसप्रकार इस बारहवीं गाथा में यह कहा गया है कि व्यवहारनय अभूतार्थ है, असत्यार्थ है; तथापि वह भी कभी-कभी किसी-किसी को प्रयोजनवान है ।

'निश्चय-व्यवहारनयों की उपयोगिता पर समुचित प्रकाश डालने के उपरान्त अब स्याद्वादांकित जिनवचनों में रमण करनेवाले सत्पुरुष ही समयसार को प्राप्त करते हैं'- इसप्रकार के भावों से भरा हुआ मंगल कलश स्थापित करते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की विषयवस्तु को लेकर अध्यात्मरस से सरावोर २७८ छन्द लिखे हैं, जो 'आत्मख्याति' नामक संस्कृत टीका के ही अभिन्न अंग हैं। आत्मख्याति टीकारूपी स्वर्णहार में वे मुक्तामणियों की भाँति यथास्थान जड़े हुए हैं। इसप्रकार इस आत्मख्याति टीका में विविधवर्णी छन्दों और प्राञ्जल गद्य का मणि-कांचन संयोग हो रहा है ।

विषयवस्तु के अनुसार विविधवर्णी छन्दों में रचित और विभिन्न अलंकारों से अलंकृत ये छन्द 'कलश' नाम से जाने जाते हैं। आत्मख्याति से सुसज्जित समयसाररूपी मन्दिर के गगनचुम्बी शिखर पर आरोहित ये कलश अपने आप में अद्भुत हैं, अजोड़ हैं ।

आत्मख्याति में तो वे तिल में तेल की भाँति समाहित हैं ही, वे पृथक्रूप से स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में भी प्रतिष्ठित हो चुके हैं। आत्मख्याति संस्कृत टीका की भाषाटीका लिखनेवालों ने तो उनका अनुवाद किया ही है, किन्तु उनपर स्वतंत्ररूप से भी टीकाएँ लिखी गई हैं; जिनमें आचार्य शुभचन्द्रकृत 'परमाध्यात्मतरंगिणी' नामक संस्कृत टीका, कलशटीका नाम से प्रसिद्ध पाण्डे राजमलजी बालबोध नाम की हिन्दी टीका एवं 'अध्यात्म-अमृतकलश' नाम से प्रसिद्ध पण्डित जगन्मोहनलालजी की 'स्वात्मप्रबोधनी' नाम की हिन्दी टीका उल्लेखनीय हैं ।

इनके अतिरिक्त पाण्डे राजमलजी की बालबोध टीका को आधार बना कर पण्डित बनारसीदासजी ने इन कलशों की विषयवस्तु को हिन्दी के विविध छन्दों में सुसज्जित कर 'नाटक समयसार' के रूप में प्रस्तुत किया है, जो अपने-आप में बेजोड़ कृति है और विगत चार शताब्दियों से अध्यात्मप्रेमी समाज का कण्ठहार बनी हुई है ।

आरंभ के तीन कलश तो आत्मख्याति के मंगलाचरण एवं ग्रन्थ करने की प्रतिज्ञा आदि के रूप में ही हैं; जिनका अनुशीलन हम आरंभ में ही कर चुके हैं। अब आरंभ की बारह गाथाओं के बाद चार कलश आये हैं। इनमें से एक तो इन बारह गाथाओं के उपसंहाररूप है और तीन कलश आगामी गाथा की उत्थानिका के रूप में हैं ।

(मालिनी)

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः ।
सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षंत एव ॥४॥

(रोला)

उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ॥

मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥४॥

जो पुरुष निश्चय और व्यवहार - इन दो नयों के प्रतिपादन में दिखाई देने वाले विरोध को ध्वसं करनेवाले, स्याद्वाद से चिन्हित जिनवचनों में रमण करते हैं; स्वयं पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का वमन करनेवाले वे पुरुष कुनय से खण्डित नहीं होनेवाले, परमज्योतिस्वरूप अत्यन्त प्राचीन अनादिकालीन समयसाररूप भगवान आत्मा को तत्काल ही देखते हैं, अर्थात् उसका अनुभव करते हैं ।

उक्त कलश में यह कहा गया है कि जो पुरुष जिनवचनों में रमण करते हैं, वे तत्काल ही आत्मा का अनुभव करते हैं। यहाँ जिनवचनों में रमण करने का अर्थ मात्र जिनवाणी का पठन-पाठन करना ही नहीं है; अपितु जिनवाणी में प्रतिपादित शुद्धनय के विषयभूत त्रिकालीध्रुव, नित्य, अखण्ड, अभेद, एक निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसे ही निज जानना और उसमें जमना-रमना है; क्योंकि आत्मानुभव करने की यही प्रक्रिया है ।

'जिनवचसि रमन्ते' का अर्थ पाण्डे राजमलजी कलशटीका में इसप्रकार करते हैं -

"दिव्यध्वनि द्वारा कही है उपादेयरूप शुद्ध जीववस्तु, उसमें सावधानपने रुचि-श्रद्धा-प्रतीति करते हैं। विवरण - शुद्ध जीववस्तु का प्रत्यक्षपने अनुभव करते हैं, उसका नाम रुचि - श्रद्धा - प्रतीति है। भावार्थ इसप्रकार है - वचन पुद्गल है, उसकी रुचि करने पर स्वरूप की प्राप्ति नहीं। इसलिए वचन के द्वारा कही जाती है जो कोई उपादेय वस्तु, उसका अनुभव करने पर फल प्राप्ति है ।"

आत्मकल्याण की भावना से जिनवाणी का अत्यन्त रुचिपूर्वक स्वाध्याय करना, पढ़ना-पढ़ाना, लिखना-लिखाना; उसके अर्थ का विचार करना, मंथन करना; परस्पर चर्चा करना, प्रश्नोत्तर करना आदि व्यवहार से जिनवचनों में रमण करना है और जिनवाणी में प्रतिपादित शुद्धनय की

विषयभूत आत्मवस्तु का अनुभव करना निश्चय से जिनवचनों में रमण करना है ।

व्यवहारजिनवचनों में रमण करना देशनालब्धि का प्रतीक है और निश्चयजिनवचनों में रमण करना करणलब्धि का प्रतीक है ।

यहाँ जिनवचनों में रमने का फल तत्काल ही आत्मानुभव बताया है; अतः यहाँ निश्चयनय वाला अर्थ लेना ही उपयुक्त है ।

'स्वयं वान्तमोहा' - का अर्थ भी कलश टीकाकार ने विशेष किया है, जो विचार करने योग्य है। उनका कथन मूलतः इसप्रकार है –

"सहजपने बमा है मिथ्यात्व - विपरीतपना, ऐसे हैं। भावार्थ इसप्रकार है - अनन्त संसार जीव के भ्रमते हुए जाता है। वे संसारी जीव एक भव्यराशि है, एक अभव्यराशि है। उसमें अभव्यराशि जीव त्रिकाल ही मोक्ष जाने के अधिकारी नहीं। भव्यजीवों में कितने ही जीव मोक्ष जाने योग्य हैं। उनके मोक्ष पहुँचने का कालपरिमाण है। विवरण - **यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष जायगा - ऐसी नोंध केवलज्ञान में है।** वह जीव संसार में भ्रमते-भ्रमते जभी अर्द्धपुद्गलपरावर्तन मात्र रहता है, तभी सम्यक्त्व उपजने योग्य है। इसका नाम काललब्धि कहलाता है। **यद्यपि सम्यक्त्वरूप जीवद्रव्य परिणमता है, तथापि काललब्धि के बिना करोड़ उपाय जो किये जाएं तो भी जीव सम्यक्त्वरूप परिणमन योग्य नहीं – ऐसा नियम है। इससे जानना कि सम्यक्त्ववस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है ।**"

प्रश्न – एक ओर तो कहते हैं कि जो पुरुष जिनवचनों में रमते हैं, वे तत्काल ही आत्मा को प्राप्त करते हैं और दूसरी ओर कहते हैं कि सम्यक्त्ववस्तु यत्नसाध्य नहीं, सहजरूप है। दोनों में सत्य क्या है ?

उत्तर – दोनों ही सत्य हैं, मुक्ति के मार्ग में दोनों का ही अद्भुत सुमेल है; क्योंकि जिनवचनों में रमणता भी सहज ही होती है । 'जिनवचसि रमन्ते' और 'स्वयं वान्तमोहा' दोनों ही पद मूल छन्द में एक साथ ही विद्यमान हैं ।

कलशटीका के उक्त कथन में समागत विशेष ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि **यह जीव इतना काल बीतने पर मोक्ष में जाएगा - ऐसी नोंध केवलज्ञान में है और काललब्धि के बिना करोड़ उपाय करो तो भी सम्यक्त्व नहीं होगा।** उक्त दोनों ही कथन क्रमबद्धपर्याय को सिद्ध करते हैं। क्रमबद्धपर्याय के संबंध में विस्तार से जानने की भावना हो तो लेखक की अन्य कृति 'क्रमबद्धपर्याय' का अध्ययन किया जाना चाहिए ।

जिनवचनों की विशेषता बताते हुए उक्त छन्द में कहा गया है कि वे जिनवचन निश्चय-व्यवहार या द्रव्यार्थिक-पर्यायार्थिक नयों के बीच दिखाई देनेवाले विरोध को मिटाने में समर्थ 'स्याद्' पद से अंकित हैं ।

निश्चयनय अथवा द्रव्यार्थिकनय से आत्मवस्तु सामान्य, अभेद-अखण्ड, नित्य एवं एक है और व्यवहारनय अथवा पर्यायार्थिकनय से विशेष, भेद, अनित्य एवं अनेक है। - इसप्रकार उक्त दोनों नयों में परस्पर विरोध भासित होता है; पर ऐसा विरोध तो एकान्तवादियों के ही हो सकता है, 'स्याद्' पद को स्वीकार करनेवाले अनेकान्तवादियों के नहीं ।

चौथे कलश को समाप्त करते हुए एवं पाँचवें कलश की भूमिका स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

"इसप्रकार यह बारह गाथाओं की पीठिका है। अब आचार्यदेव शुद्धनय को प्रधान करके निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं। अशुद्धनय (व्यवहारनय) की प्रधानता में जीवादि तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहा है, जबकि यहाँ उन जीवादितत्त्वों को शुद्धनय के द्वारा जानने से सम्यक्त्व होता है - यह कहते हैं ।

टीकाकार इसकी सूचनारूप तीन श्लोक कहते हैं। उनमें से प्रथम श्लोक में यह कहते हैं कि व्यवहारनय को कथंचित् प्रयोजनवान कहा, तथापि वह कुछ वस्तुभूत नहीं है ।"

(मालिनी)

व्यवहरणनयः स्याद्यद्यपि प्राक्पदव्या
मिह-निहितपदानां हंत हस्तावलंबः ।
तदपि परममर्थं चिच्चमत्कारमात्रं
परविरहितमंतः पश्यतां नैष किंचित् ॥ ५ ॥

(रोला)

ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥ ५ ॥

यद्यपि खेद है कि जिन्होंने पहली पदवी में पैर रखा है, उनके लिए व्यवहारनय हस्तावलम्ब है, हाथ का सहारा है; तथापि जो परद्रव्यों और उनके भावों से रहित, चैतन्यचमत्कारमात्र परम-अर्थ को अन्तर में अवलोकन करते हैं, उसकी श्रद्धा करते हैं, उसमें लीन होकर चारित्रभाव को प्राप्त होते हैं; उन्हें यह व्यवहारनय कुछ भी प्रयोजनवान नहीं है ।

बारहवीं गाथा में परमभाव और अपरमभाव की चर्चा में इस विषय को विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है, अतः यहाँ कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। बस इतना कहना पर्याप्त है कि इस छन्द में 'हस्तावलम्ब' कहकर व्यवहारनय की यथास्थान उपयोगिता भी बता दी है और 'हंत' कहकर इस पराधीनता पर खेद भी व्यक्त कर दिया है ।

हाथ की लाठी शक्ति की नहीं, अशक्ति (कमजोरी) की सूचक है। प्राथमिक भूमिका में अपनी कमजोरी के कारण व्यवहारनय का सहारा लेना पड़ता है, पर वह हमारे लिए सौभाग्य की बात नहीं है ।

जिसप्रकार बीमारी से उठे अशक्त व्यक्ति को कमजोरी के कारण चलने-फिरने में लाठी का सहारा लेना पड़ता है, पर उसकी भावना तो यही रहती है कि कब इस लाठी का आश्रय छूटे ? वह यह नहीं चाहता कि मुझे सदा ही यह सहारा लेना पड़े। उसीप्रकार व्यवहार का सहारा लेते हुए भी

कोई आत्मार्थी यह नहीं चाहता कि उसे सदा ही यह सहारा लेना पड़े। वह तो यही चाहता है कि कब इसका आश्रय छूटे और कब मैं अपने में समा जाऊँ ।

बस यही भाव उक्त छन्द में व्यक्त किया गया है ।

अब आगामी कलश में निश्चयसम्यक्त्व का स्वरूप कहते हैं –

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्तुर्यदस्यात्मनः ।
पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक् ॥
सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयं ।
तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसंततिमिमामात्मायमेकोस्तु नः ॥ ६ ॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥
नव तत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिये ॥ ६ ॥

शुद्धनय से ज्ञान के घनपिण्ड, स्वयं में परिपूर्ण, अपने गुण-पर्यायों में व्याप्त, एकत्व में नियत, शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा को परद्रव्यों और उनके भावों से पृथक् देखना निश्चय सम्यग्दर्शन है। बस यही आत्मा मैं हूँ अथवा ऐसा ही आत्मा मैं हूँ और इसके दर्शन का नाम ही सम्यग्दर्शन है। – ऐसा ज्ञानी जानते हैं। इसलिए ज्ञानीजन भावना भाते हैं कि इस नवतत्त्व की परिपाटी को छोड़कर हमें तो एक आत्मा ही प्राप्त हो। तात्पर्य यह है कि हमें तो एक आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चय सम्यग्दर्शन ही इष्ट है; नवतत्त्व की विकल्पात्मक श्रद्धावाले व्यवहार सम्यग्दर्शन से कोई प्रयोजन नहीं ।

इस कलश में अन्य परद्रव्य और उनके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले शुभभावों की बात तो बहुत दूर ही रही; नवतत्त्व संबंधी विकल्पों एवं उनके ज्ञान-श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यग्दर्शन के प्रति भी अरुचि प्रदर्शित की गई है

और दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा या उसके आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के प्रति रुचि, श्रद्धा, आस्था व्यक्त की गई है; क्योंकि सच्चा मुक्ति का मार्ग वही है ।

उक्त कलश के भावार्थ में पण्डित श्री जयचंदजी छाबड़ा ने बहुत अच्छा स्पष्टीकरण किया है, जो मूलतः इसप्रकार है -

"सर्व स्वाभाविक तथा नैमित्तिक अपनी अवस्थारूप गुणपर्यायभेदों में व्यापनेवाला यह आत्मा शुद्धनय से एकत्व में निश्चित किया गया है - शुद्धनय से ज्ञायकमात्र एक-आकार दिखलाया गया है, उसे सर्व अन्यद्रव्यों और अन्यद्रव्यों के भावों से अलग देखना, श्रद्धान करना सो नियम से सम्यग्दर्शन है। व्यवहारनय आत्मा को अनेक भेदरूप कहकर सम्यग्दर्शन को अनेक भेदरूप कहता है, वहाँ व्यभिचार (दोष) आता है, नियम नहीं रहता। शुद्धनय की सीमा तक पहुँचने पर व्यभिचार नहीं रहता, इसलिए नियमरूप है। शुद्धनय का विषयभूत आत्मा पूर्ण ज्ञानघन है - सर्व लोकालोक को जाननेवाला ज्ञानस्वरूप है। ऐसे आत्मा का श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन है। यह कहीं पृथक् पदार्थ नहीं है; आत्मा का ही परिणाम है, इसलिए आत्मा ही है। अतः जो सम्यग्दर्शन है सो आत्मा है, अन्य नहीं।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिए कि जो नय हैं सो श्रुतप्रमाण का अंश है, इसलिये शुद्धनय भी श्रुतप्रमाण का ही अंश हुआ। श्रुतप्रमाण परोक्ष प्रमाण है; क्योंकि वस्तु को सर्वज्ञ के आगम के वचन से जाना है; इसलिए यह शुद्धनय सर्व द्रव्यों से भिन्न, आत्मा की सर्व पर्यायों में व्याप्त पूर्ण चैतन्य केवलज्ञानरूप - सर्व लोकालोक को जाननेवाले, असाधारण चैतन्यधर्म को परोक्ष दिखाता है। यह व्यवहारी छद्मस्थ जीव आगम को प्रमाण करके शुद्धनय से दिखाये गये पूर्ण आत्मा का श्रद्धान करे तो वह श्रद्धान निश्चयसम्यग्दर्शन है। जबतक केवल व्यवहारनय के विषयभूत जीवादिक तत्त्वों का ही श्रद्धान रहता है तबतक निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं होता ।

इसलिए आचार्य कहते हैं कि इन नवतत्त्वों की संतति (परिपाटी) को छोड़कर शुद्धनय का विषयभूत एक आत्मा ही हमें प्राप्त हो; हम दूसरा कुछ

नहीं चाहते। यह वीतराग अवस्था की प्रार्थना है, कोई नयपक्ष नहीं है। यदि सर्वथा नयों का पक्षपात ही हुआ करे तो मिथ्यात्व ही है ।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि आत्मा चैतन्य है, मात्र इतना ही अनुभव में आये तो इतनी श्रद्धा सम्यग्दर्शन है या नहीं ?

उसका समाधान यह है - नास्तिकों को छोड़कर सभी मतवाले आत्मा को चैतन्यमात्र मानते हैं; यदि इतनी ही श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा जाये तो सबको सम्यक्त्व सिद्ध हो जायेगा, इसलिए सर्वज्ञ की वाणी में जैसा सम्पूर्ण आत्मा का स्वरूप कहा है, वैसा श्रद्धान होने से ही निश्चयसम्यक्त्व होता है, ऐसा समझना चाहिए ।"

उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि आत्मानुभव के लिए परमागम में दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का जो स्वरूप बताया गया है, उसे आगम के अभ्यास से एवं गुरुमुख से सुनकर अच्छी तरह समझना चाहिए। राजमार्ग यही है। कभी किसी को इसके बिना सम्यग्दर्शनादि की प्राप्ति होती देखी गई हो, सुनी गई हो, तो उसे अपवाद ही समझना चाहिए, राजमार्ग नहीं; क्योंकि उसे पूर्वभव में या इसी भव में पहले कभी देशना उपलब्ध हो गई होगी या आगमाभ्यास से उसे यह बात ख्याल में आ गई होगी। इसप्रकार के उदाहरणों का बहाना बनाकर आगमाभ्यास और देशनालब्धि की उपेक्षा करना ठीक नहीं है। भगवान आत्मा का सच्चा स्वरूप समझे बिना 'आत्मा चैतन्य है' मात्र इतना विचारते रहने से कुछ भी उपलब्ध होनेवाला नहीं है - यह बात अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।

अब आगामी कलश में यह कहते हैं कि शुद्धनय के आश्रय से परद्रव्यों से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती है, वह आत्मज्योति नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को नहीं छोड़ती है ।

(अनुष्टुभ्)

अतः शुद्धनयायत्तं प्रत्यग्ज्योतिश्चकास्ति तत् ।
नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुंचति ॥७॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर तजे न एकस्वरूप ॥७॥

अतः शुद्धनय के आश्रय से पर से भिन्न जो आत्मज्योति प्रगट होती वह नवतत्त्वों को प्राप्त होकर भी एकत्व को कभी नहीं छोड़ती ।

उक्त छन्द का अर्थ करते हुए कलशटीका में कहा गया है –

"जैसे अग्नि दाहक लक्षणवाली है, वह काष्ठ, तृण, कण्डा आदि समस्त दाह्य को दहती है, दहती हुई अग्नि दाह्याकार होती है, पर उसका विचार है कि जो उसे काष्ठ, तृण और कण्डे की आकृति में देखा जाय तो काष्ठ की अग्नि, तृण की अग्नि और कण्डे की अग्नि ऐसा कहना साँचा ही है और जो अग्नि की उष्णतामात्र विचारा जाय तो उष्णमात्र है। काष्ठ की अग्नि, तृण की अग्नि और कण्डे की अग्नि ऐसे समस्त विकल्प झूठे हैं। उसीप्रकार नौ तत्त्वरूप जीव के परिणाम हैं। वे परिणाम कितने ही शुद्धरूप हैं, कितने ही अशुद्धरूप हैं। जो नौ परिणाम में ही देखा जाय तो नौ ही तत्त्व साँचे हैं और जो चेतनामात्र अनुभव किया जाय तो नौ ही विकल्प झूठे हैं ।"

कलशटीका के उक्त भाव को कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने इकतीसा सवैया छन्द में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

"जैसैं तृण काठ बांस आरने इत्यादि और,
ईंधन अनेक विधि पावक मैं दहिये ।
आकृति विलोकित कहावै आग नानारूप,
दीसे एक दाहक सुभाव जब गहिये ॥
तैसैं नव तत्त्व मैं भयौ है बहु भेषी जीव,
सुद्धरूप मिश्रित असुद्धरूप कहिये ।
जाही छिन चेतना सकति कौ विचार कीजै,
ताही छिन अलख अभेदरूप लहिये ॥[१]"

---

१. समयसार नाटक, जीवद्वार, छंद ८

उक्त सम्पूर्ण कथन का तात्पर्य यह है कि जिसप्रकार अनेक प्रकार के ईंधन को जलानेवाली अग्नि ईंधन के आकाररूप से परिणमित होने के कारण अनेक नाम पाती है; काठ की अग्नि, तृण की अग्नि, कंडे की अग्नि आदि अनेक नामों से अभिहित की जाती है; तो भी स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वह एक दाहकस्वभाव के रूप में ही दिखाई देती है ।

उसीप्रकार यह भगवान आत्मा नवतत्त्वों में जाकर शुद्ध, अशुद्ध, मिश्र भावों से युक्त होकर अनेक प्रकार का हो गया है, नवतत्त्वरूप हो गया है, जीव-अजीव, पुण्य-पाप आस्रव-बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष रूप हो गया लगता है; तो भी चेतनास्वभाव की दृष्टि से देखने पर अत्यन्त स्पष्टरूप से एक, अभेद, अखण्ड, नित्य ही प्रतीति में आता है ।

नौ तत्त्वों में एक आत्मा ही प्रकाशमान है; क्योंकि नौ तत्त्वरूप होकर भी उसने अपने शुद्धनय के विषयभूत सामान्य, नित्य, अभेद एवं एक स्वभाव को नहीं छोड़ा है ।

छठवें कलश में कहा गया था कि हमें नौ तत्त्व की संततिवाला व्यवहारसम्यग्दर्शन नहीं चाहिए, हमें तो शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाला निश्चयसम्यग्दर्शन ही अभीष्ट है। अतः यहाँ यह कहा जा रहा है कि नौ तत्त्वों में भी एक आत्मज्योति ही प्रकाशमान है और वह नौ तत्त्वों में जाकर भी एकत्व को नहीं छोड़ती है ।

तात्पर्य यह है कि निश्चय और व्यवहार सम्यग्दर्शन अलग-अलग नहीं होते। सम्यग्दर्शन तो एक ही है और वह शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से ही उत्पन्न होता है। उक्त निश्चयसम्यग्दर्शन के धारक को नवतत्त्वों की भी सच्ची श्रद्धा होती है अर्थात् वे जैसे हैं, उनकी वैसी ही श्रद्धा होती है। निश्चयसम्यग्दृष्टि की नवतत्त्वों संबंधी उक्त श्रद्धा को ही व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं ।

सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के आत्मश्रद्धान को निश्चयसम्यग्दर्शन और नवतत्त्व के श्रद्धान को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है। अगली ही गाथा में यह कहने जा रहे हैं कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं ।

पाँचवाँ, छठवाँ एवं सातवाँ - ये तीनों कलश अगली गाथा की उत्थानिकारूप कलश हैं। अतः इन कलशों की संगति आगामी गाथा से बैठती है ।

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार

सत्य की प्राप्ति और सत्य का प्रचार दो अलग-अलग चीजें हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए समस्त जगत से कटकर रहना आवश्यक है। इसके विपरीत सत्य के प्रचार के लिए जन-सम्पर्क जरूरी है। सत्य की प्राप्ति व्यक्तिगत क्रिया है और सत्य का प्रचार सामाजिक प्रक्रिया। सत्य की प्राप्ति के लिए अपने में सिमटना जरूरी है और सत्य के प्रचार के लिए जन-जन तक पहुँचना ।

साधक की भूमिका और व्यक्तित्व द्वैध होते हैं। जहाँ एक ओर वे आत्म-तत्त्व की प्राप्ति और तल्लीनता के लिए अन्तरोन्मुखी वृत्ति वाले होते हैं, वहीं प्राप्त सत्य को जन-जन तक पहुँचाने के विकल्प से भी वे अलिप्त नहीं रह पाते हैं ।

उनके व्यक्तित्व की यह द्विविधता जन सामान्य की समझ में सहज नहीं आ पाती। यही कारण है कि कभी-कभी वे उनके प्रति शंकाशील हो उठते हैं ।

यद्यपि उनकी इस शंका का सही समाधान तो तभी होगा, जबकि वे स्वयं उक्त स्थिति को प्राप्त होंगे; तथापि साधक का जीवन इतना सात्विक होता है कि जगत-जन की वह शंका अविश्वास का स्थान नहीं ले पाती ।

- सत्य की खोज, पृष्ठ १३५

समयसार गाथा १३

आचार्य जयसेन के अनुसार संक्षिप्त रुचिवाले आसन्नभव्य जीवों के लिए तो समयसार की पीठिकारूप आरंभ की १२ गाथाएं ही पर्याप्त हैं; क्योंकि वे तो इतने से ही हेयोपादेय तत्त्वों को जानकर अपने विशुद्ध ज्ञान-दर्शनस्वभाव की भावना भाने में समर्थ होते हैं। अतः संक्षिप्त रुचिवालों के लिए तो समयसार यहीं समाप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि आचार्य कुन्दकुन्द समयसार में जो कुछ कहना चाहते हैं, उसे संक्षेप में तो वे कह ही चुके हैं। समयसार का मूल प्रतिपाद्य जो दृष्टि का विषय है, उसका स्पष्टीकरण तो छठवीं-सातवीं गाथा में आ ही गया है। आठवीं से बारहवीं गाथा तक निश्चय-व्यवहार का स्वरूप, उनकी उपयोगिता तथा उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता भी बता दी गई है ।

छठवीं-सातवीं गाथा में प्रतिपादित आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है। अतः सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप मोक्षमार्ग का मूल आधार तो स्पष्ट हो ही गया है। उसे जानकर, उसमें अपनापन स्थापित करके; उसमें ही जमकर रमकर, मोक्षमार्ग में आरूढ़ होकर मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ।

अतः तीक्ष्ण प्रज्ञा के धनी, संक्षिप्त रुचिवाले आसन्नभव्य जीवों का काम तो हो ही गया है। अब तो विस्तार रुचिवाले सर्व सामान्यजनों को समझाने के लिए नवतत्त्वों का आध्यात्मिक स्वरूप समझाने की पावन भावना से विस्तारपूर्वक कथन आरंभ किया जाता है ।

उसमें सर्वप्रथम इस तेरहवीं गाथा में यह बताते हैं कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं। मूल गाथा इसप्रकार है -

भूदत्थेणाभिगदा जीवाजीवा य पुण्णपावं च ।
आसवसंवरणिज्जरबंधो मोक्खो य सम्मत्तं ॥१३॥

(हरिगीत)

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा ।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥१३॥

भूतार्थ से जाने हुए जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष – ये नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं ।

इस गाथा में सम्यग्दर्शन का स्वरूप तो बताया ही गया है, प्रकारान्तर से समयसार में आगे आनेवाली विषयवस्तु का संकेत भी कर दिया है, आगे के अधिकारों के नामोल्लेख भी कर दिये हैं। कर्ता-कर्म अधिकार एवं सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार को छोड़कर अन्य सभी अधिकारों के नाम भी आ ही गये हैं, अधिकारों का क्रम भी आ गया है। इस गाथा में तत्त्वों के नाम जिस क्रम से आये हैं, वही क्रम अधिकारों का है। इससे स्पष्ट है कि इस गाथा में तत्त्वों के नामों का जो क्रम है, वह छन्दानुरोध से नहीं, अपितु बुद्धिपूर्वक रखा गया है ।

यह क्रम तत्त्वार्थसूत्र के क्रम से कुछ हटकर है। तत्त्वार्थसूत्र के सूत्र में भी जो क्रम है, वही क्रम उसके प्रतिपादन में भी है, अधिकारों में भी है। अतः वहाँ भी वह क्रम बुद्धिपूर्वक ही रखा गया है। उसके औचित्य पर भी उसके टीकाकारों ने प्रकाश डाला है। तत्त्वार्थसूत्र गद्य में होने से छन्दानुरोधवाला तर्क भी नहीं दिया जा सकता ।

अतः यहाँ समयसार में समागत क्रम के औचित्य की समीक्षा भी आवश्यक है। उक्त सन्दर्भ में हमें आत्मख्याति से मार्गदर्शन प्राप्त होता है। आत्मख्याति टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। नाटक के मंच पर जोड़ों (युग्मों) की प्रधानता रहती है। इसके अधिकारों के चयन में भी जोड़ों को ध्यान में रखा गया है। जैसे – जीव-अजीव, कर्ता-कर्म, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर, बंध-मोक्ष। चूँकि तत्त्व नौ हैं,

अतः एक तो बिना जोड़े का रहना ही था। इस कारण निर्जरा तत्त्व बिना जोड़े के रह गया है और सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो स्वतंत्र है ही ।

यद्यपि कर्ता-कर्म और सर्वविशुद्धज्ञान – ये दो नवतत्त्वों में नहीं आते हैं, तथापि इनके सन्दर्भ में जनसामान्य में बहुत अज्ञान रहता है। इस अज्ञान का निवारण किए बिना आत्मतत्त्व को सही रूप में समझ पाना संभव नहीं है। अतः इन्हें भी समयसार में स्थान प्राप्त हुआ है ।

कर्ता-कर्म अधिकार को जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद क्यों रखा गया है? यहाँ यह प्रश्न उठना भी स्वाभाविक है ।

कर्ता-कर्म संबंधी भूल प्रकारान्तर से जीव-अजीव संबंधी भूल ही है; क्योंकि जीव को अजीव का और अजीव को जीव का कर्ता-भोक्ता मानना भी जीव-अजीव संबंधी भूल ही है। इसकारण इसे जीवाजीवाधिकार के तत्काल बाद रखा गया है ।

प्रश्न – यदि कर्ता-कर्म संबंधी भूल जीव-अजीव संबंधी भूल ही है तो फिर इस अधिकार की विषय-वस्तु को जीवाजीवाधिकार में ही शामिल कर लेना चाहिए; पृथक् अधिकार बनाने की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – कर्ता-कर्म संबंधी भूल की ओर विशेष ध्यान आकर्षित करने के लिए यह आवश्यक था कि तत्संबंधी अधिकार स्वतंत्र रखा जाय। न केवल कर्ता-कर्म अधिकार स्वतंत्र है, अपितु यह सभी अधिकारों में सबसे बड़ा अधिकार भी है। ४१५ गाथाओं के समयसार में यह अकेला ही ७६ गाथाओं को अपने में समेटे हुए है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार में भी कर्ता-कर्म संबंधी भूल पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि मुक्ति के मार्ग में कर्ता-कर्म संबंधी भूल का निवारण करना कितना आवश्यक है ?

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार तो सम्पूर्ण समयसार का निचोड़ है, सारांश है; अतः उसे अन्त में रखना तो एकदम स्वाभाविक ही है ।

प्रश्न – जीवाजीवाधिकार और कर्ता-कर्म अधिकार के प्रतिपादन में मूलभूत अन्तर क्या है ?

उत्तर – जीव-अजीव के सम्बन्ध में जो भूल होती है, वह मुख्यतः चार रूपों में पाई जाती है – पर में एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि। इन भूलों को निकालकर उक्त सन्दर्भ में सही वस्तुस्थिति से परिचित होना प्रत्येक आत्मार्थी का प्राथमिक कर्तव्य है ।

इनमें से परद्रव्य में एकत्व और ममत्व का निषेध जीवाजीवाधिकार में किया गया है तथा परद्रव्य के कर्त्तव्य एवं भोक्तृत्व का निषेध कर्ता-कर्म अधिकार में किया गया है ।

इनमें से एकत्व को अपनत्व और ममत्व को स्वामित्व भी कहते हैं। इसप्रकार पर में अपनत्व और स्वामित्व संबंधी भूल को निकालना जीवाजीवाधिकार का प्रतिपाद्य है और कर्तृत्व और भोक्तृत्व संबंधी भूल को निकालना कर्ता-कर्म अधिकार का प्रतिपाद्य है। – इन दोनों अधिकारों के प्रतिपादन में यही मूलभूत अन्तर है ।

प्रश्न – जब कर्ता-कर्म अधिकार में कर्ता-कर्म के साथ-साथ भोक्ता-भोग्य संबंधी भूल पर भी प्रकाश डाला गया है, तब इस अधिकार का नाम अकेले कर्ता-कर्म के नाम पर कैसे रखा जा सकता है? इसका नाम तो कर्ता-कर्म, भोक्ता-भोग्य अधिकार होना चाहिए ।

उत्तर – बात तो ऐसी ही है, पर क्या इतना लम्बा नाम अच्छा लगता? उक्त अधिकार के सम्पूर्ण प्रतिपादन पर जब एक विहंगम दृष्टि डालते हैं तो एक बात स्पष्ट होती है कि इसमें सर्वत्र कर्ता-कर्म सम्बन्ध की चर्चा ही मुख्यरूप से की गई है। हाँ, यह अवश्य है कि एक प्रकरण समाप्त होने पर सर्वत्र यह कह दिया गया है कि इसीप्रकार भोक्ता-भोग्य के संबंध में भी समझना चाहिए। इसप्रकार इस अधिकार में मुख्यरूप से कर्ता-कर्म और गौणरूप से भोक्ता-भोग्य की बात की है। अतः उक्त नाम उचित ही है ।

प्रश्न – तत्त्वार्थसूत्र में जीवादितत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है[१] और तत्त्वार्थ सात बताये गये हैं[२] तथा उनके अधिगम के उपाय के रूप में प्रमाण और नयों को प्रस्तुत किया गया है[३]। इससे यह स्पष्ट है कि तत्त्वार्थसूत्र में प्रमाण और नयों से जाने हुए जीवादि सप्त तत्त्वार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहा है और यहाँ इस तेरहवीं गाथा में भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्वों को ही सम्यग्दर्शन कहा है। उक्त दोनों कथनों में यह मतभेद क्यों है ?

उत्तर – यह मतभेद नहीं, विवक्षाभेद है। यदि दोनों कथनों की विवक्षायें समझ ली जावें तो कोई आशंका नहीं रहेगी। तत्त्वार्थसूत्र का कथन सैद्धांतिक कथन है और समयसार का कथन आध्यात्मिक कथन है। तत्त्वार्थसूत्रकर्ता को सप्त तत्त्वार्थों का प्रमाण और नयों से गुण-पर्याय सहित, सर्वांग विवेचन अभीष्ट था, जैसा कि उन्होंने आगे किया भी है। जीवों के संसारी-सिद्ध सभी भेद बताये, उनके रहने के स्थानों की चर्चा की। अजीवादि तत्त्वों का भी इसीप्रकार विस्तृत विवेचन किया। आस्रव में सत्तावन प्रकार के आस्रव बताये, उनके शुभाशुभभेद करके व्रतों का वर्णन भी किया। बंधतत्त्व में कर्मों की प्रकृतियाँ गिनाईं, निर्जरा में भी उसके उपायों की विस्तृत समीक्षा की। पर समयसार में यह सब नहीं है, समयसार की प्रतिपादनशैली ही अलग है। समयसार में तो सभी तत्त्वों में प्रकाशमान आत्मज्योति को ही खोजा गया है ।

सर्वत्र आत्मज्योति को खोजना भूतार्थनय का ही कार्य है। भूतार्थनय ही यह महान कार्य कर सकता है। अतः समयसार के आरंभ में ही, इस तेरहवीं गाथा में ही यह घोषित कर दिया कि भूतार्थनय से जाने हुए जीवादि नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं और आगे सभी तत्त्वों की मीमांसा भी इसी नय से प्रस्तुत की है, सर्वत्र आत्मज्योति को ही खोजा गया है।

१. तत्त्वार्थसूत्र : अध्याय १, सूत्र २
२. वही, सूत्र ४
३. वही, सूत्र ६

रही बात तत्त्वों की संख्या में सात और नौ के अन्तर की, सो यह कोई बात नहीं है; क्योंकि तत्त्वार्थसूत्र में पुण्य और पाप को आस्रव-बंध में शामिल कर लिया गया है और समयसार में उन्हें अलग कह दिया गया है। – बस इतनी ही बात है ।

पुण्यतत्त्व में उपादेयबुद्धि भी एक ऐसा अज्ञान है कि जिसके कारण भगवान आत्मा के दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए इस अज्ञान का निवारण भी अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि समयसार में पुण्य-पाप को आस्रव-बंध में शामिल न कर तत्त्वव्यवस्था में स्वतंत्र स्थान दिया गया है और तत्संबंधी अज्ञान के निवारण के लिए स्वतंत्र अधिकार भी रखा गया है ।

यह तेरहवीं गाथा एक ऐसी गाथा है कि जिसमें आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति टीका के बीच में भी एक कलश दिया है। सामान्यरूप से आचार्य अमृतचन्द्र यह पद्धति अपनाते हैं कि पहले गद्य में टीका लिखते हैं और यदि आवश्यकता समझें तो अन्त में कलश लिखते हैं; पर इस गाथा की टीका में मध्य में भी कलश दिया है और अन्त में भी ।

टीका का गहराई से अध्ययन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने गाथा में समागत विषय-वस्तु के स्पष्टीकरण के उपरान्त उपसंहार के रूप में आठवाँ कलश दिया है। उसके उपरान्त जो विषय-वस्तु गाथा में तो नहीं आई है, तथापि उन्हें उसपर भी प्रकाश डालना प्रसंगोपात्त लगा; अतः उसपर भी प्रकाश डाला है और अन्त में उसके उपसंहार रूप कलश दिया है ।

नवतत्त्वों की चर्चा तो मूल गाथा में है, पर प्रमाण-नय-निक्षेप की चर्चा मूल गाथा में नहीं है। अतः नवतत्त्व संबंधी स्पष्टीकरण करने के बाद उपसंहार का कलश लिख दिया। उसके बाद प्रमाण-नय-निक्षेप की चर्चा करके तत्संबंधी कलश लिखा ।

प्रश्न – यह बात तो ठीक नहीं लगती कि जो चर्चा गाथा में न हो, उसकी भी चर्चा टीका में की जावे ?

उत्तर – इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है; क्योंकि सम्बन्धित विषयों का स्पष्टीकरण करना टीकाकार का कर्तव्य है। फिर इस गाथा में तो यह कहा गया है कि भूतार्थनय से जाने हुए नौ तत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं। यह सुनकर जिज्ञासु पाठकों को यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है कि क्या भूतार्थनय के अतिरिक्त भी कोई जानने के साधन हैं? यदि हैं तो उनसे जाने हुए नवतत्त्व सम्यग्दर्शन क्यों नहीं हैं ?

इस जिज्ञासा के शमन के लिए ही आठवें कलश के बाद की टीका लिखी गई है, जिसमें प्रमाण, नय और निक्षेप के बारे में न केवल प्रकाश डाला गया है, अपितु उनकी भूतार्थता-अभूतार्थता भी स्पष्ट कर दी है ।

यहाँ हम भी आत्मख्याति को इसीप्रकार विभाजित करके प्रस्तुत कर रहे हैं ।

इस गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"भूतार्थनय से जाने हुए ये जीवादि नवतत्त्व सम्यग्दर्शन ही हैं; क्योंकि तीर्थ (व्यवहारधर्म) की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से प्रतिपादित जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष नामक नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय के द्वारा एकत्व प्राप्त करके शुद्धनयात्मक आत्मख्याति प्रगट होती है अर्थात् आत्मानुभूति प्राप्त होती है ।

इनमें विकारी होने योग्य विकार्य भाव और विकार करनेवाला विकारक कर्म – दोनों ही पुण्य हैं और दोनों ही पाप हैं, आस्रवरूप होने योग्य आस्राव्य भाव और आस्रव करनेवाला आस्रावक कर्म – दोनों ही आस्रव हैं, संवररूप होने योग्य संवार्य भाव और संवर करनेवाला संवारक कर्म – दोनों ही संवर हैं, निर्जरारूप होने योग्य निर्जर्य भाव और निर्जरा करनेवाला निर्जरक कर्म – दोनों ही निर्जरा हैं, बंधनरूप होने योग्य बंध्य भाव और बंधन करनेवाला बंधक कर्म – दोनों ही बंध हैं तथा मोक्षरूप होने योग्य मोच्य भाव और मोक्ष करनेवाला मोचक कर्म – दोनों ही मोक्ष हैं; क्योंकि दोनों में से किसी एक का अपने-आप अकेले पुण्य, पाप, आस्रव, संवर,

निर्जरा, बंध और मोक्षरूप होना संभव नहीं है। वे दोनों जीव और अजीव हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक युगल में से पहला जीव है और दूसरा अजीव है ।

बाह्यदृष्टि से देखा जाय तो जीव-पुद्गल की अनादिबंधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं; अतः इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसीप्रकार अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो एक ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है। इनमें से पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप भाव केवल जीव के विकार हैं, जीव के विशेषभाव हैं, जीवरूप भाव हैं और जीव के विकार के हेतुभूत जो पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्षरूप तत्त्व हैं, वे सभी केवल अजीव हैं ।

ऐसे ये नवतत्त्व, जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर स्वयं और पर जिनके कारण हैं – ऐसे एकद्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और सर्वकाल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। इसलिए इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसप्रकार एकत्वरूप से प्रकाशित यह भगवान आत्मा शुद्धनय के रूप में अनुभव किया जाता है और यह अनुभूति आत्मख्याति ही है तथा यह आत्मख्याति सम्यग्दर्शन ही है। अतः भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन है – यह कथन पूर्णतः निर्दोष है ।"

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार की संस्कृत भाषा में जो टीका लिखी है, उसका नाम उन्होंने 'आत्मख्याति' रखा है और सर्वप्रथम इस गाथा की टीका में 'आत्मख्याति' शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ स्वयं उन्होंने आत्मानुभूति और सम्यग्दर्शन किया है ।

आत्मख्याति का अर्थ होता है आत्मा की प्रसिद्धि। हमारा आत्मा दूसरों को जाने या दूसरे आत्मा हमें जानें - इसका नाम आत्मख्याति या आत्मप्रसिद्धि नहीं है; अपितु अपना आत्मा स्वयं को ही जाने, अनुभव करे; अपने में ही अपनापन स्थापित करे, अपने में ही रम जाय, जम जाय, समा जाय - यही सच्ची आत्मख्याति है। आत्मख्याति अर्थात् मोक्षमार्ग - अपनी समझ, अपनी पहिचान, अपने में ही सर्वस्व समर्पण ।

यह आत्मख्याति, यह आत्मानुभूति भूतार्थनय के विषयभूत निज भगवान आत्मा के आश्रय से ही प्रगट होती है और यही निश्चयसम्यग्दर्शन है ।

कौन नय भूतार्थ हैं और कौन नहीं - यह वात ग्यारहवीं गाथा में विस्तार से स्पष्ट की जा चुकी है। अतः भूतार्थनय की व्याख्या करना यहाँ आवश्यक नहीं है ।

प्रश्न - ग्यारहवीं गाथा के निष्कर्ष में तो एक परमशुद्धनिश्चयनय को ही भूतार्थ कहा है और उसका विषय तो परमपारिणामिकभावरूप शुद्ध जीवतत्त्व ही है। ऐसी स्थिति में भूतार्थनय से नवतत्त्वों को कैसे जाना जा सकता है ?

उत्तर - टीका के प्रथम पैरा में यह कहा गया है कि तीर्थ की प्रवृत्ति के लिए अभूतार्थनय से प्रतिपादित जीवादि नवतत्त्वों में एकत्व प्रगट करनेवाले भूतार्थनय के द्वारा एकत्व प्राप्त करके शुद्धनयात्मक आत्मख्याति प्रगट होती है अर्थात् आत्मानुभूति प्रगट होती है। इससे यही प्रतिफलित होता है कि नवतत्त्वों में प्रकाशमान एक आत्मज्योति को देखना ही भूतार्थनय से नवतत्त्वों को जानना है ।

इसी वात को विस्तार से समझाते हुए टीका में आगे नवतत्त्वों को भाव और द्रव्य इन दो भागों में वाँटा है और यह स्पष्ट किया गया है कि द्रव्यपुण्य, द्रव्यपाप, द्रव्यास्रव, द्रव्यसंवर, द्रव्यनिर्जरा, द्रव्यवंध और द्रव्यमोक्ष अजीव हैं, अजीव के ही विस्तार हैं; तथा भावपुण्य, भावपाप, भावास्रव, भावसंवर, भावनिर्जरा, भाववंध और भावमोक्ष जीव हैं, जीव के ही विस्तार हैं ।

इसप्रकार ये नवतत्त्व जीव और अजीव के ही विस्तार हैं। तात्पर्य यह है कि इन नवतत्त्वों में प्रकारान्तर से जीवतत्त्व समाहित है। नवतत्त्वों में समाहित इस जीवतत्त्व को दिखाना ही भूतार्थनय का कार्य है और इसे ही भूतार्थनय से नवतत्त्वों का जानना कहते हैं ।

जीवाजीवात्मक इन नवतत्त्वों की भूतार्थता-अभूतार्थता पर विचार करते हुए टीका में कहा गया है कि बाह्यदृष्टि से देखा जाय तो जीव-पुद्गल की अनादिबंधपर्याय के समीप जाकर एकरूप से अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। अतः इन नवतत्त्वों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

आगे कहा है कि अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञायकभाव जीव है और जीव के विकार का हेतु अजीव है। पुण्यपापादि तत्त्वों में भावपुण्यादि जीव के विकार हैं और जीव के विकार के निमित्त द्रव्यपुण्य-पापादि अजीव हैं। जीवद्रव्य के स्वभाव को छोड़कर एक द्रव्य की पर्यायों के रूप में अनुभव करने पर ये नवतत्त्व भूतार्थ हैं; सत्यार्थ हैं और सर्वकाल में अस्खलित एक जीवद्रव्य के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर वे नवतत्त्व अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं। **इसलिए इन नवरत्नों में भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।**

इसप्रकार भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्वों में भी एकप्रकार से एकमात्र परमपारिणामिकभावरूप शुद्ध जीवतत्त्व ही जाना गया है और यह जाना जाना ही आत्मख्याति है, आत्मानुभूति है, निश्चयसम्यग्दर्शन है। अतः इस कथन में कोई दोष नहीं है कि भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व ही सम्यग्दर्शन हैं ।

उक्त कथन का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचंदजी छाबड़ा लिखते हैं –

"इन नवतत्त्वों में, शुद्धनय से देखा जाये तो जीव ही एक चैतन्य-चमत्कारमात्र प्रकाशरूप प्रगट हो रहा है, इसके अतिरिक्त भिन्न-भिन्न

नवतत्त्व कुछ भी दिखाई नहीं देते। जबतक इसप्रकार जीवतत्त्व की जानकारी जीव को नहीं है तबतक वह व्यवहारदृष्टि है, भिन्न-भिन्न नवतत्त्वों को मानता है। जीव-पुद्गल की बन्धपर्यायरूप दृष्टि से यह पदार्थ भिन्न-भिन्न दिखाई देते हैं; किन्तु जब शुद्धनय से जीव-पुद्गल का निजस्वरूप भिन्न-भिन्न देखा जाये तब वे पुण्य-पापादि सात तत्त्व कुछ भी वस्तु नहीं हैं; वे निमित्त-नैमित्तिक भाव से हुए थे; इसलिए जब वह निमित्त-नैमित्तिक भाव मिट गया, तब जीव, पुद्गल भिन्न-भिन्न होने से अन्य कोई वस्तु (पदार्थ) सिद्ध नहीं हो सकती। वस्तु तो द्रव्य है और द्रव्य का निजभाव द्रव्य के साथ ही रहता है तथा निमित्त-नैमित्तिक भाव का अभाव ही होता है, इसलिए शुद्धनय से जीव को जानने से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो सकती है। जबतक भिन्न-भिन्न नवपदार्थों को जाने और शुद्धनय से आत्मा को न जाने तबतक पर्यायबुद्धि है ।"

उक्त सम्पूर्ण कथन से यह निष्कर्ष निकलता है कि नवतत्त्वों में भी सर्वत्र एक जीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और शुद्धनय से उसे जानना ही भूतार्थनय से जाने हुए नवतत्त्व हैं, जिन्हें सम्यग्दर्शन कहा गया है ।

अब इसी अर्थ को पुष्ट करनेवाला कलश लिखते हैं और उसमें प्रेरणा देते हैं कि हे भव्यजनो! तुम तो नवतत्त्वों में प्रकाशमान एक आत्मज्योति को ही देखो ।

(मालिनी)

चिरमिति नवतत्त्वच्छन्नमुन्नीयमानं,
कनकमिव निमग्नं वर्णमालाकलापे ।
अथ सततविविक्तं दृश्यतामेकरूपं,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥ ८॥

(रोला)

शुद्धकनक ज्यों छिपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छिपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥
एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह ।
अरे भव्यजन ! पद-पद पर तुम उसको जानो ॥ ८॥

जिसप्रकार वर्णों के समूह में छिपे हुए एकाकार स्वर्ण को बाहर निकालते हैं; उसीप्रकार नवतत्त्वों में बहुत समय से छिपी हुई यह आत्मज्योति शुद्धनय के द्वारा बाहर निकालकर प्रगट की गई है और यह आत्मज्योति पद-पद पर अर्थात् प्रत्येक पर्याय में चित्-चमत्कारमात्र एकरूप में उद्योतमान है। इसलिए हे भव्यजीवो ! तुम इसे सदा ही अन्यद्रव्यों एवं उनके आश्रय से होनेवाले नैमित्तिकभावों से भिन्न एकरूप देखो ।

खान में पड़ा हुआ स्वर्ण अपनी आरम्भिक अवस्था से ही अनेक अन्य पदार्थों से मिला हुआ रहता है। जब उसे बाहर निकालकर अग्नि में तपाकर शुद्ध करते हैं तो अशुद्धता के जलने से अग्नि की लौ में स्वर्ण के हरे-पीले अनेक रंग दिखाई देते हैं; तथापि वह कहलाता तो स्वर्ण ही है ।

भले ही वह स्वर्ण कहलाये, तथापि स्वर्ण का पारखी सर्राफ उसका मूल्य उतना ही देता है कि जितना उसमें शुद्ध स्वर्ण है। उस अशुद्ध स्वर्ण को कसौटी पर कसकर सर्राफ यह जान लेता है कि इसमें अशुद्धता कितनी है और क्या है तथा शुद्धता कितनी है और क्या है? अशुद्धता की उपेक्षा कर शुद्धता की कीमत देकर उसे प्राप्त कर लेता है। इसीप्रकार अनादि से ही यह आत्मा नवतत्त्वों में छिपा हुआ है। शुद्धनय के प्रयोग से आत्मार्थी यह जान लेता है कि असली आत्मा क्या है और उसमें ही अपनापन स्थापित कर, उसमें ही जमकर, रमकर, मुक्तिमार्ग पर आरूढ़ हो जाता है ।

इस बात को कविवर बनारसीदास ने नाटक समयसार में इसप्रकार छन्दोबद्ध किया है -

(इकतीसा सवैया)

जैसैं बनवारी मैं कुधात के मिलाप हेम,
नाना भाँति भयौ पै तथापि एक नाम है ।
कसिकैं कसोटी लीकु निरखै सराफ ताहि,
बान के प्रवान करि लेतु देतु दाम है ॥

तैसैं ही अनादि पुद्गलसौं संजोगी जीव,
नव तत्त्वरूप मैं अरूपी महाधाम है ।
दीसै उनमान सौं उदोतवान ठौर ठौर,
दूसरौ न और एक आतमा ही राम है ॥९॥

उक्त संदर्भ में कलश-टीकाकार ने कुछ गहराई से चर्चा की है, जो इसप्रकार है -

"जीववस्तु अनादिकाल से धातु और पाषाण के संयोग के समान कर्मपर्याय से मिली ही चली आ रही है। सो मिली हुई होकर वह रागादि विभाव परिणामों के साथ व्याप्य-व्यापक रूप से स्वयं परिणमन कर रही है। वह परिणमन देखा जाय, जीव का स्वरूप न देखा जाय तो जीववस्तु नौ तत्त्वरूप है - ऐसा दृष्टि में आता है। ऐसा भी है, सर्वथा झूठ नहीं है; क्योंकि विभावरूप रागादि परिणाम शक्ति जीव में ही है । .....

वस्तु का विचार करने पर भेदरूप भी वस्तु ही है, वस्तु से भिन्न भेद कुछ वस्तु नहीं है। भावार्थ इसप्रकार है कि सुवर्णमात्र न देखा जाए, वानभेद मात्र देखा जाय तो वानभेद है; सुवर्ण की शक्ति ऐसी भी है। जो वानभेद न देखा जाय, केवल सुवर्णमात्र देखा जाय तो वानभेद झूठा है ।

इसीप्रकार जो शुद्ध जीववस्तु मात्र न देखी जाय, गुण-पर्याय मात्र या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य मात्र देखा जाय तो गुण-पर्याय हैं तथा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य हैं; जीववस्तु ऐसी भी है। जो गुण-पर्यायभेद या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यभेद न देखा जाय, वस्तुमात्र देखी जाय तो समस्त भेद झूठा है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है ।

जो भेदबुद्धि करते हुए जीववस्तु चेतना लक्षण से जीव को जानती है, वस्तु विचारने पर इतना विकल्प भी झूठा है, शुद्धवस्तु मात्र है। ऐसा अनुभव सम्यक्त्व है ।"

उक्त कथन में संयोग, संयोगीभाव, द्रव्य-गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के भेद तथा लक्ष्य-लक्षण भेद सभी को व्यवहारनय से सत्यार्थ बताकर भी यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धनय से, भूतार्थनय से ये सभी

असत्यार्थ हैं; इन सबसे भिन्न शुद्ध जीववस्तु मात्र ही सत्यार्थ है और उसके आश्रय से ही अनुभव होता है, सम्यक्त्व होता है ।

कलशटीका में 'उन्नीयमान' का अर्थ अनुमानगोचर और 'उद्योतमान' का अर्थ प्रत्यक्षज्ञानगोचर तथा 'विविक्त' का अर्थ नौ तत्त्वों के विकल्प से रहित किया है; जो विशेष ध्यान देने योग्य है। तात्पर्य यह है कि जीववस्तु चेतनालक्षण से जानी जाती है – इसकारण अनुमानगोचर है और अनुभवज्ञान का विषय बनती है – इसलिए प्रत्यक्षज्ञानगोचर है ।

तेरहवीं गाथा की आत्मख्याति टीका में समागत आठवें कलश के उपरान्त जो टीका लिखी गई है, उसमें मूलरूप से तो यही बताना अभीष्ट है कि भूतार्थनय के अतिरिक्त जो नय और प्रमाण व निक्षेप हैं; वे भी उसीप्रकार अभूतार्थ हैं, जिसप्रकार उनके द्वारा जाने गये नवपदार्थ; फिर भी यहाँ संक्षेप में प्रमाण, नय और निक्षेप का स्वरूप भी स्पष्ट कर दिया है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि यहाँ नयों के भेद द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों के रूप में लिए गए हैं ।

इन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयों का स्वरूप यदि विस्तार से जानने की जिज्ञासा हो तो लेखक की अन्य कृति "परमभावप्रकाशक नयचक्र" के तृतीय अध्याय का अध्ययन करना चाहिए। वहाँ इन नयों पर ४८ पृष्ठों में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यह नहीं भूलना चाहिए कि जिनागम का मर्म समझने के लिए इनका समझना अत्यन्त आवश्यक है ।

आठवें कलश के उपरान्त समागत आत्मख्याति का भाव इसप्रकार है –

"अब जैसे नवतत्त्वों में एक जीव को ही जानना भूतार्थ कहा है, उसीप्रकार एकरूप से प्रकाशमान आत्मा के अधिगम के उपायभूत जो प्रमाण, नय, निक्षेप हैं; वे भी निश्चय से अभूतार्थ हैं, उनमें भी यह आत्मा ही भूतार्थ है। तात्पर्य यह है कि उनमें भी एक आत्मा को बतानेवाला नय ही भूतार्थ है ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जो इन्द्रिय, मन आदि उपात्त परपदार्थों एवं प्रकाश, उपदेश आदि अनुपात्त परपदार्थों द्वारा

प्रवर्ते, वह परोक्षप्रमाण है और जो केवल आत्मा से ही प्रतिनिश्चितरूप से प्रवृत्ति करे, वह प्रत्यक्षप्रमाण है। पाँच प्रकार के ज्ञानों में मतिज्ञान व श्रुतज्ञान परोक्षप्रमाण हैं, अवधिज्ञान व मनःपर्ययज्ञान एकदेशप्रत्यक्षप्रमाण हैं और केवलज्ञान सकलप्रत्यक्षप्रमाण है ।

प्रत्यक्ष और परोक्ष – ये दोनों ही प्रमाण; प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय के भेद का अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; किन्तु जिसमें सर्वभेद गौण हो गये हैं, ऐसे एक जीव के स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

नय दो प्रकार के हैं – द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में जो नय मुख्यरूप से द्रव्य का अनुभव कराये, वह द्रव्यार्थिक नय है और जो नय उसी द्रव्य-पर्यायात्मक वस्तु में मुख्यरूप से पर्याय का अनुभव कराये, वह पर्यायार्थिक नय है ।

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक – ये दोनों नय द्रव्य और पर्याय का पर्याय से, भेद से, क्रम से अनुभव करने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और द्रव्य तथा पर्याय दोनों से अनालिंगित शुद्धवस्तुमात्र जीव के चैतन्यमात्र स्वभाव का अनुभव करने पर वे अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

निक्षेप चार प्रकार के हैं – नामनिक्षेप, स्थापनानिक्षेप, द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप। गुण की अपेक्षा विना वस्तु का नामकरण करना नामनिक्षेप है; 'यह वह है' – इसप्रकार अन्य वस्तु में किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधित्व स्थापित करना स्थापनानिक्षेप है; अतीत और भावी पर्यायों का वर्तमान में आरोप करना द्रव्यनिक्षेप है और वर्तमान पर्यायरूप वस्तु को वर्तमान में कहना भावनिक्षेप है ।

ये चारों ही निक्षेप अपने-अपने लक्षणभेद से विलक्षण (भिन्न-भिन्न) अनुभव किए जाने पर भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं और भिन्न-भिन्न लक्षण से रहित एक अपने चैतन्यलक्षणरूप जीवस्वभाव का अनुभव करने पर ये चारों ही अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

इसप्रकार इन प्रमाण, नय, निक्षेपों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है ।''

पहले कहा था कि नवतत्त्वों में भूतार्थरूप से एक जीव ही प्रकाशमान है और यहाँ कहा जा रहा है कि इन प्रमाण, नय, निक्षेपों में भी भूतार्थनय से एक जीव ही प्रकाशमान है ।

इसप्रकार एकमात्र यही कहा जा रहा है कि नवतत्त्वों में भी एकमात्र शुद्धजीवतत्त्व ही प्रकाशमान है और प्रमाण, नय, निक्षेपों में भी एकमात्र वही शुद्धजीवतत्त्व प्रकाशमान है। यह प्रकाशमान जीवतत्त्व ही दृष्टि का विषय है, श्रद्धा का श्रद्धेय है, ध्यान का ध्येय है, परमज्ञान का ज्ञेय है, मुक्तिमार्ग का मूल आधार है, इसके आश्रय से ही मुक्ति का मार्ग प्रगट होता है। जब वह शुद्धजीवास्तिकाय ज्ञान का ज्ञेय, श्रद्धान का श्रद्धेय और ध्यान का ध्येय बनता है अर्थात् आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभूति होती है, तब प्रमाण-नय-निक्षेप की तो बात ही क्या; परन्तु किसी भी प्रकार का द्वैत ही भासित नहीं होता है, एक आत्मा ही प्रकाशमान होता है ।

यही भाव आगामी कलश में भी व्यक्त किया गया है, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम् ।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मिन्
ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव ॥ ९ ॥

(रोला)

निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते ।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो ।
शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई ॥ ९ ॥

सर्वप्रकार के भेदों से पार सामान्य, अभेद-अखण्ड, नित्य, एक चिन्मात्र भगवान आत्मा को विषय बनानेवाले परमशुद्धनिश्चयनय के विषयभूत

शुद्धात्मा का अनुभव होने पर नयों की लक्ष्मी उदय को प्राप्त नहीं होती, प्रमाण अस्त हो जाता है और निक्षेपों का समूह कहाँ चला जाता है? – यह हम नहीं जानते। जब द्वैत ही प्रतिभासित नहीं होता, तब प्रमाणादि के विकल्पों की तो बात ही क्या करें? तात्पर्य यह है कि अनुभव में सर्वप्रकार के भेद अत्यन्त गौण हो जाते हैं, प्रमाण-नयादि के भेदों की बात तो बहुत दूर, द्वैत का भी अनुभव नहीं होता, मात्र एकाकार चिन्मात्र ही दिखाई देता है ।

प्रश्न – कलशटीका में तो लिखा है कि प्रमाण-नय-निक्षेपरूप बुद्धि के द्वारा एक ही जीवद्रव्य के द्रव्य-गुण-पर्यायरूप अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यरूप जो भेद किए जाते हैं, वे समस्त झूठे हैं। इन सबके झूठे होने पर जो कुछ वस्तु का स्वाद आता है, वह अनुभव है ।

अब प्रश्न यह है कि यहाँ झूठे का क्या अर्थ है, क्या द्रव्य-गुण-पर्याय व उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य वस्तु में नहीं हैं? प्रमाण-नय-निक्षेप और उनका कथन क्या सर्वथा असत्यार्थ है ?

उत्तर – नहीं, ऐसी बात नहीं है। वस्तु द्रव्य-गुण-पर्यायरूप है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यस्वरूप भी है। इस विषय की सम्यक् जानकारी के लिए प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन के द्रव्यसामान्याधिकार का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए ।

कलशटीका में उन्हें जो झूठा कहा है, उसका प्रयोजन भी उनकी सत्ता से इन्कार करना नहीं है, अपितु अनुभव के काल में तत्संबंधी विकल्प उत्पन्न नहीं होते – मात्र इतना बताना ही अभीष्ट है ।

इसी बात को स्पष्ट करते हुए कलशटीका में लिखा है –

"भावार्थ इसप्रकार है कि अनादिकाल से जीव अज्ञानी है, जीवस्वरूप को नहीं जानता है। वह जब जीवसत्त्व की प्रतीति आनी चाहे, तब जैसे ही प्रतीति आवे, तैसे ही वस्तुस्वरूप साधा जाता है। सो यह साधना गुण-गुणी ज्ञान द्वारा होती है। दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसलिए वस्तुस्वरूप का

गुण-गुणी के भेदरूप में विचार करने पर प्रमाण-नय-निक्षेपरूप विकल्प उत्पन्न होते हैं। वे विकल्प प्रथम अवस्था में भले ही हैं, तथापि स्वरूपमात्र अनुभवने पर झूठे हैं ।''

उक्त कथन में पाण्डे राजमलजी यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि वस्तुस्वरूप समझने के लिए अध्ययन-मनन-चिन्तन करते समय प्रमाण-नय-निक्षेप संबंधी विकल्प उत्पन्न होते हैं और उनकी उस समय उपयोगिता भी है; तथापि अनुभव के काल में तत्संबंधी विकल्प उत्पन्न ही नहीं होते। यहाँ झूठे का अर्थ उत्पन्न ही नहीं होना है। यहाँ उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य, द्रव्य-गुण-पर्याय एवं प्रमाण-नय-निक्षेप के निषेध की बात नहीं है, अपितु अनुभव के काल में तत्संबंधी विकल्पों के उत्पन्न न होने की बात है ।

इसीप्रकार आत्मवस्तु तो द्वैताद्वैतस्वरूप है, भेदाभेदस्वरूप है; परन्तु अनुभव के काल में द्वैत भी भासित नहीं होता। इसलिए कहा है कि जब अनुभव के काल में द्वैत भी भासित नहीं होता, तब अन्य विकल्पों की क्या बात करें ।

प्रश्न – अनुभव के काल में द्वैत भासित नहीं होता कि वस्तु में द्वैतभाव है ही नहीं ?

उत्तर – इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसी कलश के भावार्थ में लिखते हैं –

''यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी तथा वेदान्ती कहते हैं कि अन्त में परमार्थरूप तो अद्वैत का ही अनुभव हुआ। यही हमारा मत है, इसमें आपने विशेष क्या कहा ?

इसका उत्तर – तुम्हारे मत में सर्वथा अद्वैत माना जाता है। यदि सर्वथा अद्वैत माना जाये तो बाह्यवस्तु का अभाव ही हो जाये और ऐसा अभाव तो प्रत्यक्ष विरुद्ध है। हमारे मत में नयविवक्षा है, जो बाह्यवस्तु का लोप नहीं करती। जब शुद्ध अनुभव से विकल्प मिट जाता है, तब आत्मा परमानन्द को प्राप्त होता है। इसलिए अनुभव कराने के लिए यह कहा है कि शुद्ध

अनुभव में द्वैत भासित नहीं होता। यदि बाह्यवस्तु का लोप किया जावे तो आत्मा का लोप हो जावेगा और शून्यवाद का प्रसंग आवेगा। इसलिए जैसे तुम कहते हो, उसप्रकार से वस्तुस्वरूप की सिद्धि नहीं हो सकती और वस्तुस्वरूप की यथार्थश्रद्धा के विना जो शुद्ध अनुभव किया जाता है, वह भी मिथ्यारूप है। शून्य का प्रसंग होने से तुम्हारा अनुभव भी आकाशकुसुम के अनुभव के समान है।"

इसप्रकार इस तेरहवीं गाथा, उसकी टीका एवं उसमें समागत कलशों में एक बात अत्यन्त स्पष्टरूप से उभर कर सामने आई है कि यद्यपि प्रमाण-नय-निक्षेपों के विषयभूत नवतत्त्वार्थ, द्रव्य-गुण-पर्याय एवं उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य भी जानने योग्य हैं, उन्हें जानना उपयोगी भी है, आवश्यक भी है; तथापि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति तो शुद्धनय के विषयभूत शुद्धात्मा के आश्रय से ही होती है। अतः अब आगामी गाथा में शुद्धनय का स्वरूप कहेंगे।

आगामी गाथा की उत्थानिकारूप में समागत १०वें कलश में भी शुद्धनय के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। वह कलश मूलतः इसप्रकार है -

(उपजाति)

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यंतविमुक्तमेकम् ।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ॥१०॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है ।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है – ऐसे निजात्मस्वभाव को ।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१०॥

परभावों से भिन्न, आदि-अन्त से रहित, परिपूर्ण, संकल्प-विकल्पों के जाल से रहित एक आत्मस्वभाव को प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है।

यहाँ परभाव में परद्रव्य, परद्रव्यों के भाव तथा परद्रव्य के निमित्त से प्रगट होनेवाले अपने विभावभाव – इन सभी को लिया गया है; क्योंकि परमशुद्धनिश्चयनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन सभी से भिन्न होता है ।

द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म आदि पुद्‌गलद्रव्यों में अपनत्व स्थापित करना संकल्प है और ज्ञेयों के भेद से ज्ञान में भेद ज्ञात होना विकल्प है। शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा इन संकल्प-विकल्पों से रहित है, अनादि-अनन्त है, परिपूर्णतत्त्व है। इसमें किसी भी प्रकार की कोई कमी नहीं है ।

इस कलश में जिस आत्मस्वभाव की चर्चा है और जिसे प्रकाशित करता हुआ शुद्धनय उदय को प्राप्त होता है, वही आत्मस्वभाव दृष्टि का विषय है, उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है ।

तेरहवीं गाथा में जिसे भूतार्थनय कहा गया था, उसे ही यहाँ शुद्धनय नाम से कहा जा रहा है। वहाँ भूतार्थनय से नवपदार्थों के जानने को सम्यग्दर्शन कहा गया था। यहाँ शुद्धनय से आत्मा के जानने को सम्यग्ज्ञान कहा जा रहा है ।

इस कलश में शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के जो विशेषण दिये गये हैं, आगामी गाथा में भी लगभग वे ही विशेषण दिये हैं। अतः उनकी चर्चा तो विस्तार से वहाँ होगी ही, यहाँ उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है । •

सहज ज्ञाता-दृष्टा

नहीं, देखो नहीं, देखना सहज होने दो; जानो नहीं, जानना सहज होने दो; रमो भी नहीं, जमो भी नहीं, रमना-जमना भी सहज होने दो। सब-कुछ सहज, जानना सहज, जमना सहज, रमना सहज ।

कर्त्तृत्व के अहंकार से ही नहीं, विकल्प से भी रहित सहज ज्ञाता-दृष्टा बन जाओ । — *सत्य की खोज : अध्याय ३३, पृष्ठ १८८*

समयसार गाथा १४

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णयं णियदं ।
अविसेसमसंजुत्तं तं सुद्धणयं वियाणीहि ॥ १४॥

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को ।
संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ॥ १४॥

जो नय आत्मा को बन्धरहित और पर के स्पर्श से रहित, अन्यत्वरहित, चलाचलतारहित, विशेषरहित एवं अन्य के संयोग से रहित देखता है, जानता है; हे शिष्य तू उसे शुद्धनय जान ।

तात्पर्य यह है कि शुद्धनय से भगवान आत्मा कर्मों से अबद्ध है, परपदार्थों ने इसे छुआ तक नहीं है। वह नर-नारकादि पर्यायों में रहते हुये भी अन्य-अन्य नहीं होता, अनन्य ही रहता है तथा अपने स्वभाव में सदा नियत ही है, समस्त विशेषों में व्याप्त होने पर भी अवशेष ही रहता है तथा रागादि में संयुक्त नहीं होता ।

यह गाथा शुद्धनय के विषय को स्पष्ट करनेवाली अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गाथा है। इस पर आचार्य अमृतचन्द्र ने जो टीका लिखी है, वह भी अत्यन्त गंभीर है। गाथा और टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त विषयवस्तु को स्पष्ट करने के लिए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने जो भावार्थ लिखा है, उसका आरम्भिक अंश इसप्रकार है -

"आत्मा पाँच प्रकार से अनेकरूप दिखाई देता है -

(१) अनादिकाल से कर्मपुद्गल के संबंध से बंधा हुआ कर्मपुद्गल के स्पर्शवाला दिखाई देता है ।

(२) कर्म के निमित्त से होनेवाली नर-नारकादि पर्यायों में भिन्न-भिन्न ..प से दिखाई देता है ।

(३) शक्ति के अविभाग प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं – यह वस्तुस्वभाव है। इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता ।

(४) वह दर्शन, ज्ञान आदि अनेक गुणों से विशेषरूप दिखाई देता है।

(५) कर्म के निमित्त से होनेवाले मोह-राग-द्वेष आदि परिणामों से सहित वह सुख-दुःख रूप दिखाई देता है ।

यह सब अशुद्धद्रव्यार्थिकरूप व्यवहारनय का विषय है। इस दृष्टि से देखा जाय तो यह सब सत्यार्थ है; परन्तु आत्मा का एकस्वभाव इस नय से ग्रहण नहीं होता और एकस्वभाव जाने बिना यथार्थ आत्मा को कैसे जाना जा सकता है ? इसलिए दूसरे नय को – उसके प्रतिपक्षी शुद्धद्रव्यार्थिकनय को ग्रहण करके एक असाधारण ज्ञायकमात्र आत्मा का भाव लेकर, उसे शुद्धनय की दृष्टि से सर्व परद्रव्यों से भिन्न, सर्वपर्यायों में एकाकार, हानि-वृद्धि से रहित, विशेषों से रहित और नैमित्तिक भावों से रहित देखा जाये तो सर्व (पाँच) भावों से जो अनेकप्रकारता है, वह अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।"

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि यहाँ सर्वपर्यायों से भिन्न शब्द का प्रयोग न करके सर्वपर्यायों में एकाकार शब्द का प्रयोग किया है। उक्त सन्दर्भ में इसीप्रकार के प्रयोग अन्यत्र भी देखने में आते हैं, जो अपना विशेष प्रयोजन रखते हैं। यद्यपि शुद्धनय के विषय में पर्यायें नहीं आती हैं, तथापि पर्यायों की भिन्नता उसप्रकार की नहीं है, जिसप्रकार की परद्रव्यों और उनकी पर्यायों की है। इस सन्दर्भ में द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के माध्यम से विस्तृत चर्चा ७वीं गाथा में की ही जा चुकी है ।

नर-नारकादि पर्यायों में जो परस्पर भिन्नता भासित होती है, उसपर से दृष्टि हटाकर; उन नर-नारकादि सभी पर्यायों में जो समानरूप से विद्यमान रहता है, एक रूप ही में रहता है, एकाकार रहता है; उस सामान्य, अभेद नित्य एवं एक आत्मा पर ही दृष्टि को केन्द्रित करना, उसे ही ज्ञान का ज्ञेय

वनाना शुद्धनय का उदय है; क्योंकि वह शुद्धात्मा ही शुद्धनय का विषय है। यह वताने के लिए ही सर्वपर्यायों में एकाकार शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक अवस्था में जो एक ही रूप में सदा विद्यमान रहता है, वह ज्ञायकभाव ही शुद्धनय का विषय है। अनन्य विशेषण के माध्यम से आचार्यदेव यही कहना चाहते हैं ।

तात्पर्य यह है कि नर-नारकादि पर्यायें आत्मा में से वस्तुरूप से अलग नहीं हो जाती हैं, वे तो अपने क्रमानुसार होती ही रहती हैं, वदलती ही रहती हैं; कभी मनुष्य पर्याय होती है तो कभी नारकी पर्याय होती है; तथापि क्रमशः प्रवर्त्तमान होनेवाली पर्यायों में जो सदा एक-सा रहता है, अक्रमरूप से विद्यमान रहता है, अनेकाकार पर्यायों में जो एकाकाररूप से उपस्थित रहता है; वह ज्ञायकभाव ही शुद्धनय का विषय है ।

दूसरी वात यह है कि भावार्थ में जो एकस्वभाव और अनेकस्वभाव या अनेकप्रकारता की वात की है; वह द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं भाव में जो भाव के भेद के रूप में, गुणभेद और गुणभेद के निषेध के रूप में एक-अनेक की वात आती है, वह नहीं है। यहाँ तो बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से युक्तता अनेकस्वभाव है और इनसे रहितता एकस्वभाव है। इनमें से आत्मा का एकस्वभाव शुद्धनय का विषय है और अनेकस्वभाव अशुद्धनय का विषय है। – यह वताया जा रहा है ।

प्रश्न – शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा अवद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त इन पाँच भावों से युक्त है, एकस्वभाववाला है; तो क्या आत्मा में विद्यमान वद्धस्पृष्टादिभाव सर्वथा अभूतार्थ हैं, आत्मा का अनेकस्वभाव सर्वथा अभूतार्थ है ?

उत्तर – वद्धस्पृष्टादिभावों की भूतार्थता-अभूतार्थता पर आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में विविध उदाहरणों के माध्यम से विस्तार से प्रकाश डाला है, जो इसप्रकार है –

"अवद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा की अनुभूति शुद्धनय है और वह अनुभूति आत्मा ही है, इसप्रकार एक आत्मा

ही प्रकाशमान है। शुद्धनय, आत्मा की अनुभूति या आत्मा सब एक ही है, अलग-अलग नहीं ।

प्रश्न – ऐसे आत्मा की अनुभूति कैसे हो सकती है ?

उत्तर – बद्धस्पृष्टादिभावों के अभूतार्थ होने से यह अनुभूति हो सकती है। अब इस बात को पाँच दृष्टान्तों के द्वारा विस्तार से स्पष्ट करते हैं –

(१) जिसप्रकार जल में डूबे हुए कमलिनी पत्र का जल से स्पर्शितपर्याय की ओर से अनुभव करने पर, देखने पर, जल से स्पर्शित होना भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य कमलिनी पत्र के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर जल से स्पर्शित होना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार अनादिकाल से बंधे हुए आत्मा का पुद्गलकर्मों से बंधने, स्पर्शित होनेरूप अवस्था से अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि पुद्गल से किंचित्मात्र भी स्पर्शित न होने योग्य आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर बद्धस्पृष्टता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(२) जैसे कुण्डा, घड़ा, खप्पर आदि पर्यायों से मिट्टी का अनुभव करने पर अन्यत्व (वे अन्य-अन्य हैं, जुदे-जुदे हैं – यह) भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्वपर्याय भेदों से किंचित्मात्र भी भेदरूप न होनेवाले) एक मिट्टी के स्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार नर-नारकादि पर्यायों से आत्मा का अनुभव करने पर अन्यत्व भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि सर्वतः अस्खलित (सर्वपर्याय भेदों से किंचित्मात्र भेदरूप न होनेवाले) एक चैतन्याकार आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अन्यत्व अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(३) जिसप्रकार समुद्र का वृद्धि-हानिरूप अवस्था से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि समुद्र के नित्य स्थिरस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार आत्मा का वृद्धि-हानिरूप पर्यायभेदों से अनुभव करने पर अनियतता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि नित्य स्थिर आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(४) जिसप्रकार सोने का चिकनापन, पीलापन, भारीपन इत्यादि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है; तथापि जिसमें सर्वविशेष विलय हो गए हैं – ऐसे सुवर्णस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार आत्मा का ज्ञान, दर्शन आदि गुणरूप भेदों से अनुभव करने पर विशेषता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय हो गये हैं – ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर विशेषता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

(५) जिसप्रकार अग्नि जिसका निमित्त है – ऐसी उष्णता के साथ संयुक्ततारूप – तप्ततारूप अवस्था से जल का अनुभव करने पर जल की उष्णतारूप संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि एकान्त शीतलतारूप जलस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर उष्णता के साथ जल की संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

इसीप्रकार कर्म जिसका निमित्त है – ऐसे मोह के साथ संयुक्ततारूप अवस्था से आत्मा का अनुभव करने पर संयुक्तता भूतार्थ है, सत्यार्थ है; तथापि जो स्वयं एकान्त बोधरूप है, ज्ञानरूप है – ऐसे जीवस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर संयुक्तता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।"

प्रश्न – उक्त कथन में लगभग सर्वत्र ही 'पर्याय से अनुभव करने पर' और द्रव्यस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर' शब्द आये हैं तो क्या पर्याय का भी अनुभव करना है ?

उत्तर – अरे भाई, यह अनुभव करने की बात नहीं है। यहाँ तो जानने की ही बात चल रही है। यहाँ अनुभव करने का अर्थ जानना है। उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का निम्नांकित मार्गदर्शन अत्यन्त उपयोगी है –

''जहाँ 'पर्याय से अनुभव करने पर' ऐसा आवे, वहाँ अनुभव करने का अर्थ 'जानना' होगा तथा जहाँ 'द्रव्य का अनुभव करने पर' ऐसा आवे, वहाँ अनुभव करने का अर्थ 'द्रव्य का आश्रय करना' जानना चाहिए ।[1]''

उक्त पाँचों बोलों में दो दृष्टियों का उल्लेख है –

(१) संयोग की, पर्याय की, भेद की ओर से देखने की दृष्टि ।

(२) स्वभाव के समीप जाकर देखने की दृष्टि ।

संयोग की ओर से, पर्याय की ओर से, भेद की ओर से देखने की दृष्टि अशुद्धनय की दृष्टि है, अभूतार्थनय की दष्टि है, व्यवहारनय की दृष्टि है; और स्वभाव के समीप जाकर देखने की दृष्टि शुद्धनय की दृष्टि है, भूतार्थनय की दृष्टि है, परमशुद्धनिश्चयनय की दृष्टि है। अशुद्धनय की दृष्टि से बद्धस्पृष्टादिभाव आत्मा में विद्यमान हैं; अतः भूतार्थ हैं, सत्यार्थ हैं; पर शुद्धनय की दृष्टि से वे भाव आत्मा में नहीं है; अत: अभूतार्थ हैं, असत्यार्थ हैं ।

ध्यान रहे कि ये बद्धस्पृष्टादिभाव और अबद्धस्पृष्टादिभाव एक ही आत्मा में एक ही काल में विभिन्न अपेक्षाओं से एक ही साथ घटित होते हैं, रहते हैं। यह एक ही आत्मा की बात है, भिन्न-भिन्न अनेक आत्माओं की नहीं। जो आत्मा जिस समय अशुद्धनय से बद्धस्पृष्टादिभावों से सहित होता है; वही आत्मा उसी समय शुद्धनय से बद्धस्पृष्टादिभावों से रहित भी होता है। इसमें कोई क्या करे, वस्तुस्वरूप ही ऐसा है ।

इस गाथा में अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त – इन पाँच विशेषणों के माध्यम से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप स्पष्ट किया गया है; क्योंकि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति इसी आत्मा के आश्रय से होती है ।

(१) इन पाँच विशेषणों में अबद्धस्पृष्ट आत्मा की पर से भिन्नता को बताया है। जब आत्मा का पर के साथ कोई सम्बन्ध ही नहीं है तो कर्मों

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २३२

से बंधने की बात ही कहाँ रहती है? इसीप्रकार जब भगवान आत्मा में स्पर्श नामक गुण ही नहीं है तो उसे कोई छू भी कैसे सकता है ?

आगम में कर्म से बंधने और पर के स्पर्श की जो बात आती है, आत्मख्याति टीका में उसकी भूतार्थता की अपेक्षा भी स्पष्ट कर दी है और साथ में यह भी स्पष्ट कर दिया है कि आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखने पर बंधन की बात, पर के स्पर्श की बात एकदम अभूतार्थ है। जल में डूबे हुए कमलिनी पत्र के उदाहरण से यह बात एकदम स्पष्ट हो गई है। यद्यपि कमलिनी का पत्ता जल में डूबा हुआ है, तथापि वह अपने रूखे स्वभाव के कारण रंचमात्र भी गीला नहीं होता। उसीप्रकार यह भगवान आत्मा कर्मों के मध्य स्थित होने पर अपने अबद्ध-अस्पर्शीस्वभाव के कारण कर्मों से अबद्ध ही है, अस्पर्शी ही है ।

इसप्रकार इस विशेषण से दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को पर से भिन्न सिद्ध किया गया है ।

(२) अनन्य विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को अनेक द्रव्यपर्यायों (असमानजातीय द्रव्यपर्यायों) से, नर-नारकादि पर्यायों से भी पार बताया गया है। मिट्टी और मिट्टी से बने हुए घट, सकोरा आदि बर्तनों के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो गई है कि यद्यपि घट और सकोरा अन्य-अन्य हैं, जुदे-जुदे हैं; घट सकोरा नहीं है और सकोरा घट नहीं है; तथापि जब हम घट और सकोरा को दृष्टि में न लेकर जिस मिट्टी से वे दोनों बने हैं, उस मिट्टी के रूप में ही देखें तो घट भी मिट्टी ही है और सकोरा भी मिट्टी ही है; अतः वे दोनों अन्य-अन्य नहीं, अनन्य (एक) ही हैं ।

इसीप्रकार यद्यपि मनुष्य और नारकी अन्य-अन्य (जुदे-जुदे) ही हैं, मनुष्य नारकी नहीं है और नारकी मनुष्य नहीं है; तथापि जब हम मनुष्य और नारकी पर्यायों को दृष्टि में न लेकर, जिस आत्मा की वे पर्यायें हैं, उन सभी पर्यायों में व्याप्त एकाकार उस आत्मा को देखें तो मनुष्य भी आत्मा

ही है और नारकी भी आत्मा ही है; अतः नारकी और मनुष्य दोनों अन्य-अन्य नहीं हैं, अनन्य (एक) ही है ।

यदि पर्याय की ओर से देखें तो मारीचि अन्य है और महावीर अन्य है। मारीचि का चरित्र जानकर हमें उसके प्रति अश्रद्धा होती है और महावीर का चरित्र जानकर हमें उनके प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है, मारीचि से द्वेष होता है और महावीर से राग होता है; पर जब हमारा ध्यान मारीचि और महावीर पर्याय की ओर नहीं जाता है; उन दोनों पर्यायों में अनुस्यूतरूप से विद्यमान भगवान आत्मा की ओर जाता है, तो न अश्रद्धा होती है, न श्रद्धा होती है, साम्यभाव रहता है; न द्वेष होता है न राग होता है, एक वीतरागभाव बना रहता है ।

अतः आत्मा को नर-नारकादि पर्यायों में विभक्त करके अन्य-अन्य देखना वीतरागभाव के लिए उपयुक्त नहीं है, अपितु नर-नारकादि पर्यायों में समानरूप से समाहित अनन्य एकरूप देखना ही वीतरागभाव के लिए उपयुक्त है ।

(३) नियत विशेषण के माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा में, दृष्टि के विषय में षट्‌गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायें तथा निरन्तर घटना-बढ़ना है स्वभाव जिनका – ऐसी औपशमिकभाव, क्षायोपशमिकभावरूप पर्यायें और क्षायिकभावरूप पर्यायें भी नहीं है। समुद्र के उदाहरण से इस वात को स्पष्ट किया गया है ।

यद्यपि समुद्र में भी ज्वार-भाटे आते हैं, उसमें भी वृद्धि-हानि होती है; तथापि समुद्र अपनी मर्यादा को कभी नहीं छोड़ता। यदि समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ने लगे तो लोक में प्रलय हो जावेगा। छोटी-बड़ी नदियों में जब बाढ़ आती है तो उसके किनारे बसे बड़े-बड़े नगर एवं गाँव उजड़ जाते हैं, हाहाकार मच जाता है, यदि समुद्र में बाढ़ आने लगे तो क्या होगा ? समुद्र के किनारे वम्बई जैसे बहुमंजिली नगर बसे हुए हैं, किसी को यह चिन्ता नहीं होती कि यदि समुद्र में बाढ़ आ गई तो क्या होगा ? सभी को समुद्र

के इस स्वभाव की भली-भाँति खबर है, इसीकारण सभी निश्चिंत रहते हैं। वे यह अच्छी तरह जानते हैं कि समुद्र भी घटता-बढ़ता है, पर अपनी मर्यादा में ही रहता है। अतः कोई चिन्ता की बात नहीं है। समुद्र के नियतस्वभाव के भरोसे ही समुद्र के किनारे इस नगरीय सभ्यता का विकास हो रहा है ।

जिसप्रकार समुद्र में आनेवाले ज्वार-भाटे की ओर से समुद्र को देखें तो वह घटता भी है और बढ़ता भी है, और उसका यह घटना-बढ़ना इस दृष्टि से भूतार्थ ही है, सत्यार्थ ही है; क्योंकि इस दृष्टि से समुद्र का स्वभाव अनियत ही है; तथापि यदि समुद्र को उसके नियतस्वभाव की ओर से देखें तो वह न कभी घटता ही है और न कभी बढ़ता ही है, सदा अपनी मर्यादा में ही रहता है; अतः वह नियत ही है, अनियत नहीं; इस दृष्टि से उसका अनियतपना अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

द्रव्य होने से आत्मा में षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप पर्यायें भी है और औपशमिकभाव, क्षायिकभाव और क्षामोपशमिकभाव रूप पर्यायें भी हैं। इन पर्यायों की ओर से देखने पर आत्मा भी घटता-बढ़ता है; अतः अनियतस्वभाववाला है, अनियत है; पर नित्य स्थिर नियतस्वभाव की ओर से देखने पर यह अनियतता अभूतार्थ है, असत्यार्थ है। चूंकि शुद्धनय के विषयभूत आत्मा का स्वभाव नियत है, अतः शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा में यह अनियतता नहीं है ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण भी द्रष्टव्य है -

"इसीप्रकार आत्मा को वृद्धि-हानिरूप पर्यायों से देखें तो अनियतपना कम-बढ़पना है। ज्ञान की पर्याय में ही हीनाधिकता होती है। किसी समय नौ पूर्व का क्षयोपशम प्रगट हो - ज्ञान की ऐसी पर्याय होती है तो किसी समय अक्षर का अनन्तवाँ भागमात्र ज्ञान का क्षयोपशम देखा जाता है। आलू, लहसुन, मूली आदि कंदमूल में निगोद के जीव हैं। एक राई जितने टुकड़े में असंख्यात शरीर हैं। एक-एक शरीर में आजतक जितने सिद्ध हुए, उनसे

अनंतगुणे जीव हैं। निगोद के जीवों की पर्याय में अक्षर के अनन्तवें भाग ज्ञान का विकास है। उसमें से कोई जीव बाहर निकल कर मनुष्य होकर द्रव्यलिंगी साधु हो और पर्याय में नौ पूर्व की लब्धि (क्षयोपशमज्ञान) प्रगट करले ।

इसप्रकार आत्मा के वृद्धि-हानिरूप पर्याय भेदों से देखने पर अनियतपना सत्यार्थ है। व्यवहारनय से पर्याय में हानि-वृद्धि है - यह सत्य है; तथापि नित्य स्थिर (निश्चल) उत्पाद-व्ययरहित ध्रुव आत्मस्वभाव के समीप जाकर अनुभव करने पर अनियतता अभूतार्थ है। आत्मस्वभाव में वृद्धि-हानि नहीं है, उत्पाद-व्यय में वृद्धि-हानि भले हो। पर्याय में केवलज्ञान हो, तो भी ध्रुवस्वभाव में कुछ घटता नहीं है और निगोद में अक्षर का अनन्तवाँ भाग क्षयोमशम रह जाय, इससे नित्य ध्रुवस्वभाव में कुछ बढ़ जाय - ऐसा नहीं है। भले ही पर्याय में हीनाधिकता हो, तथापि वस्तु तो जैसी है, वैसी ध्रुव-ध्रुव-ध्रुवस्वभाव ही रहती है ।

अहा हा .... ! विषय तो यह चलता है कि आत्मा की ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि की पर्यायों में एकपना नहीं है, वृद्धि-हानि होती है। पर्याय के लक्ष्य से देखने पर यह वृद्धि-हानि सत्यार्थ है, परन्तु पर्याय के लक्ष्य से त्रिकाली आत्मा अनुभव में नहीं आता; तथा आत्मा का सम्यक् श्रद्धान-ज्ञान तो त्रिकाली शुद्धज्ञायकभाव का अनुभव करने पर होता है ।[१]"

स्वामीजी के उक्त कथन में आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र, सुख, वीर्य आदि गुणों की औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिकभावरूप पर्यायों में जो वृद्धि-हानि होती है, शुद्धनय के विषय में उसका निषेध किया गया है, प्रकारान्तर से उन औपशमिकादि पर्यायों का ही निषेध किया गया है। षट्‌गुणी हानि-वृद्धि का निषेध तो पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ से ही स्पष्ट हो जाता है। छाबड़ाजी के भावार्थ की वे पंक्तियाँ इसप्रकार हैं -

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २३३

"शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं – यह वस्तुस्वभाव है; इसलिए वह नित्य-नियत एकरूप दिखाई नहीं देता ।"

इसकी व्याख्या स्वामीजी इसप्रकार करते हैं –

"शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेद (अंश) घटते भी हैं और बढ़ते भी हैं। ज्ञानादिक पर्याय में हीनाधिकता होती है। पर्याय में हीनाधिकता होना – यह पर्यायस्वभाव है, इससे नित्य नियत एकरूप दिखाई नहीं देता ।[१]"

शक्ति के अविभागी प्रतिच्छेदों का घटना-बढ़ना षट्गुणीहानि-वृद्धिरूप ही होता है। अतः उक्त कथन से यह भी सिद्ध है कि शुद्धनय के विषय में षट्गुणीहानि-वृद्धिरूप पर्याय भी नहीं आती ।

इस गाथा के भावार्थ में मुनिराज श्री वीरसागरजी महाराज भी नियत का अर्थ षट्गुणीहानि-वृद्धि से रहित करते हैं ।

प्रश्न – यह षट्गुणीहानि-वृद्धि क्या है, जिसका निषेध शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा में नियत विशेषण के माध्यम से किया जा रहा है ?

उत्तर – षट्गुणीहानि-वृद्धि अगुरुलघुगुण की स्वभाव अर्थपर्याय है। जैसा कि अलापपद्धति के पर्यायाधिकार में कहा गया है –

"अगुरुलघुविकाराः स्वभावार्थपर्यायास्ते द्वादशधा षड्वृद्धिरूपाः षड्ढानिरूपाः अनन्तभागवृद्धिः असंख्यातभागवृद्धिः संख्यातभागवृद्धिः संख्यातगुणवृद्धिः असंख्यातगुणवृद्धि अनन्तगुणवृद्धिः इति षट्वृद्धि तथा अनन्तभागहानिः असंख्यातभागहानिः संख्यातभागहानिः संख्यातगुणहानिः असंख्यातगुणहानिः अनन्तगुणहानिः–इति षट्हानि एवं षट्वृद्धि षड्ढानिरूपा ज्ञेयाः ।[२]

अगुरुलघुगुण का परिणमन स्वाभाविक अर्थपर्यायें हैं। वे पर्यायें बारह प्रकार की हैं – छह वृद्धिरूप और छह हानिरूप। अनन्तभागवृद्धि, असंख्यातभागवृद्धि,

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ २४१
२. आचार्य देवसेन : आलापपद्धति, पृष्ठ ५३-५४, प्रकाशक श्री शान्तिवीर दि. जैन संस्थान, महावीरजी (राजस्थान)

संख्यातभागवृद्धि, संख्यातगुणवृद्धि, असंख्यातगुणवृद्धि और अनन्तगुणवृद्धि– ये छह वृद्धिरूप पर्यायें हैं। अनन्तभागहानि, असंख्यातभागहानि, संख्यातभाग-हानि, संख्यातगुणहानि, असंख्यातगुणहानि, अनन्तगुणहानि – ये छह हानिरूप पर्यायें हैं ।

इसप्रकार छह वृद्धिरूप और छह हानिरूप पर्यायें जानना चाहिए ।"

प्रत्येक द्रव्य में आगमप्रमाण से सिद्ध अनन्त अविभागप्रतिच्छेद वाला अगुरुलघुगुण स्वीकार किया गया है, जिसका छह स्थान पतित वृद्धि और हानि के द्वारा वर्तन होता रहता है ।[१]

प्रश्न – औपशमिक भावों में कर्म का उपशम निमित्त होता है, क्षायोपशमिक भावों में कर्म का क्षयोपशम निमित्त होता है, क्षायिक भावों में कर्म का क्षय निमित्त होता है, औदयिकभावों में कर्म का उदय निमित्त होता है। अतः शुद्धनय के विषय में इनके निषेध की बात तो समझ में आती है; परन्तु इस षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव अर्थपर्यायों में तो कोई भी कर्म निमित्त नहीं होता है। यह तो एक सहज परिणमन है। अतः शुद्धनय के विषय में इसके निषेध की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर – यह स्वभाव अर्थपर्याय भी वृद्धि-हानि रूप होने से विकल्पोत्पादक है, इसके आश्रय से भी उपयोग स्थिर नहीं हो सकता। अतः ध्यान के ध्येय में, श्रद्धान के श्रद्धेय में और शुद्धनय के विषय में इसका भी निषेध अभीष्ट है ।

इसप्रकार यह स्पष्ट हुआ कि नियत विशेषण से शुद्धनय के विषय में षट्गुणीहानि-वृद्धिरूप पर्यायों और औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक भावरूप अर्थपर्यायों का भी निषेध हो गया है ।

प्रश्न – जब नियत विशेषण से औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिकभावरूप अर्थपर्यायों का निषेध किया है तो साथ में औदयिकभावरूप अर्थपर्यायों का भी निषेध क्यों नहीं कर दिया ?

---

१. आचार्य पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि, अध्याय ५, सूत्र ७

उत्तर – उनका निषेध आगे असंयुक्त विशेषण के माध्यम से किया जायेगा। अतः यहाँ उनके निषेध की आवश्यकता नहीं समझी गई ।

कलशटीका में अनियत का अर्थ कुछ हटकर किया है, जो इसप्रकार है –

"असंख्यातप्रदेशसम्बन्धी संकोच और विस्ताररूप परिणमन का नाम अनियतभाव है"

प्रदेशों के संकोच-विस्तार रूप तो नर-नारकादि रूप व्यंजन पर्यायें ही होती हैं; इसीकारण प्रदेशत्वगुण के विकार को व्यंजनपर्याय कहते हैं। उनका निषेध तो अनन्य विशेषण में ही किया जा चुका है। अतः यदि कलश टीका के उक्त कथन का आशय प्रदेशभेद के निषेध के रूप में लिया जाय तो भी अयुक्त न होगा ।

आत्मा के क्षेत्र के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि आत्मा का कोई सुनिश्चित आकार तो है नहीं; क्योंकि जिनागम में उसे व्यवहार से देहप्रमाण और निश्चय से असंख्यप्रदेशी कहा गया है। आत्मा के आकार के सम्बन्ध में द्रव्यसंग्रह में जो कुछ कहा गया है, वह इसप्रकार है –

"अणुगुरुदेहपमाणो उवसंहारप्पसप्पदो चेदा ।
असमुहदो ववहारा णिच्छयणयदो असंखदेसो वा ॥[१]

व्यवहारनय से यह जीव समुद्घात संकोच-विस्तार के कारण अपने छोटे या बड़े शरीर प्रमाण रहता है और निश्चयनय की अपेक्षा असंख्यात प्रदेशी है ।"

उक्त कथन का तात्पर्य यह है कि आत्मा कर्मोदयानुसार जिस देह में पहुँच जाता है, आत्मा के प्रदेश वही आकार धारण कर लेते हैं और ज्यों-ज्यों देह का आकार बदलता है, तदनुसार आत्मा का आकार भी बदलता रहता है। यद्यपि आत्मप्रदेशों के उक्त आकारों के कारण आत्मा को कोई सुख-दुःख नहीं होता, तथापि वे आकार आत्मा के निरुपाधि आकार तो नहीं

१. आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव : द्रव्यसंग्रह, गाथा १०

माने जा सकते। ऐसी स्थिति में वे आकार आत्मध्यान के ध्येय भी कैसे बन सकते हैं ?

यदि किसी मनुष्यादि देह के आकार में स्थित आत्मा को ध्यान का ध्येय बनायेंगे तो वह मनुष्यादि पर्याय ही ज्ञान का ज्ञेय और ध्यान का ध्येय बनेगी, जो निश्चित रूप से द्रव्यदृष्टि न होकर पर्यायदृष्टि ही होगी। अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए आत्मा के किस आकार का ध्यान किया जाये ?

दूसरी बात यह भी है कि मनुष्यादि आकार की बात भी स्थूल है; चलती-फिरती सांस लेती मनुष्य देह के भी तो दिन में हजारों आकार बदलते हैं; तदनुसार आत्मा का आकार भी बदलेगा ही। ऐसी स्थिति में मनुष्यादि देह के किस आकार को ध्यान का ध्येय बनाया जायेगा ?

इस समस्या के समाधान के लिये यदि यह कहा जाय कि सिद्धदशा में आत्मा जिस आकार में रहता है, उसी आकार का ध्यान किया जाय; तो भी समस्या का समाधान न होगा; क्योंकि सिद्धों का आकार भी तो अन्तिम देह के अनुसार ही होता है, अन्तिमदेह के किंचत् न्यून होता है। निर्वाण होते समय अन्तिम समय में देह का जो आकार होगा, सिद्धदशा में भी किंचित् न्यूनरूप से वही आकार होगा–यह शास्त्रों का वचन है ।

वह आकार भी तो आत्मा का निरुपाधि आकार नहीं हैं, वह भी तो एक प्रकार से देहाकार ही है और यह तो सर्वविदित ही है कि देहाकार के ध्यान से साध्य की सिद्धि नहीं होती ।

एक बात यह भी तो है कि चरमदेह की अन्तिम स्थिति पद्मासन और खड्गासन–दोनों रूपों में से किसी भी रूप में हो सकती है। ऐसी स्थिति में हम आत्मा के किस आकार का ध्यान करेंगे – पद्मासन का या खड्गासन का ? दोनों का ध्यान तो एकसाथ सम्भव है नहीं। हमें अभी यह भी तो पता नहीं है कि जब हमारा मोक्ष होगा, तब हमारा आकार पद्मासन होगा या खड्गासन ? ऐसी स्थिति में हम किस आसन के आकार का ध्यान करेंगे ?

यदि कोई कहे कि हम उन सिद्धों के आकार का ध्यान करेंगे, जो अब तक सिद्ध हो चुके हैं। यदि ऐसा किया गया तो फिर वह ध्यान किसी अन्य का होगा, स्वयं का नहीं। अन्य के ध्यान से कर्म नहीं कटते, धर्म भी नहीं होता; शुभभाव हो सकता है, पुण्य भी बन्ध सकता है; पर कर्मों का नाश होकर परमानंद प्राप्त नहीं होता ।

ऐसी स्थिति में समस्या यह है कि आखिर हम ध्यान में भगवान आत्मा को किस आकार में देखें ?

अरे भाई ! ध्यान का ध्येय, श्रद्धान का श्रद्धेय, शुद्धनय का ज्ञेय, दृष्टि का विषय आत्मा साकार नहीं, अनाकार है। यह अनाकार आत्मा ही निश्चयनय से असंख्यप्रदेशी कहा गया है, उसे किसी आकार का नहीं बताया। जब भी आत्मा के आकार की चर्चा होती है तो कहा जाता है कि आत्मा व्यवहार से देह प्रमाण और निश्चय से असंख्यातप्रदेशी होता है। अतः दृष्टि के विषय में आत्मा का कोई आकार नहीं आता। अनुभव के काल में आत्मा का कोई आकार नहीं दिखता, आनन्द का अनुभव होता है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं कि आत्मानुभूति में प्रदेशों का प्रत्यक्ष नहीं होता, अनुभव प्रत्यक्ष होता है ।

जो लोग ऐसा कहते हैं कि हमें आत्मा का साक्षात्कार हुआ और वह अमुक आकार में दिखाई दिया; उन्हें उक्त मंथन पर गंभीरता से विचार करना चाहिये; क्योंकि अनुभूति में तो असंख्यप्रदेशी अखण्ड आत्मा ही अनुभव में आता है, कोई आकार दिखाई नहीं देता, कोई प्रकाश दिखाई नहीं देता। प्रकाश तो पुद्गल की पर्याय है और आकार देहादि का ही है। अतः अनुभूति में प्रकाश और आकार दिखने की बात कपोलकल्पित ही है ।

४९वीं गाथा में आत्मा को अनिर्दिष्टसंस्थान वाला कहा है। उसका आशय भी यही है कि आत्मा का ऐसा कोई सुनिश्चित आकार नहीं है, जिसे ध्यान का ध्येय बनाया जाय। अनिर्दिष्टसंस्थान की विस्तृत व्याख्या तो यथास्थान ही होगी; यहाँ तो मात्र इतना स्पष्ट करना ही अभीष्ट है कि ध्यान में भगवान आत्मा

का कोई आकार नहीं दिखता। अतः शुद्धनय के विषय में, दृष्टि के विषय में भी कोई आकार सम्मिलित नहीं है ।

(४) अविशेष विशेषण से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को गुणभेद से भिन्न बताया गया है। इस बात को सोने का उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया है। सोने को सोने में विद्यमान गुणों की ओर से देखें तो सोना पीला है, चिकना है, भारी है; - यह बात सत्य ही है, तथापि जिसमें सर्व विशेष विलय को प्राप्त हो गये हैं; ऐसे सोने के शुद्धस्वभाव की ओर से देखें तो सोना तो सोना ही है; पीला, चिकना आदि कुछ भी नहीं ।

इसीप्रकार ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों की ओर से देखने पर भगवान आत्मा ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है; पर जिसमें सर्व विशेष विलय को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे आत्मस्वभाव के समीप जाकर देखें तो आत्मा तो आत्मा ही है, न ज्ञान है, न दर्शन है और न चारित्र है ।

इस विषय को ७वीं गाथा में विस्तार से स्पष्ट किया जा चुका है। अतः यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

(५) असंयुक्त विशेषण के माध्यम से शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को रागादि विकारी पर्यायों से असंयुक्त बताया गया है, भिन्न बताया गया है। इस बात को गर्म जल के उदाहरण से स्पष्ट किया गया है ।

यद्यपि जल स्वभाव से तो ठंडा ही है, तथापि यदि वह अग्नि के संयोग में रहे तो गर्म हो जाता है। जब वह गर्म होता है, तब भी स्वभाव से तो ठंडा ही रहता है। तात्पर्य यह है कि वह अपने शीतलस्वभाव को कभी छोड़ता नहीं है। यद्यपि यह बात भी सत्य है कि कोई व्यक्ति जल के शीतलस्वभाव से अभिभूत होकर खोलते हुए गर्म पानी में हाथ डाल दे तो जले बिना नहीं रहेगा; तथापि यह भी सत्य है कि यदि कोई व्यक्ति जल को गर्म जानकर उसका पीना ही बन्द कर दे तो भी प्यासा ही रहेगा ।

जिसप्रकार शीतलता जल का स्वभाव है और गर्म होना संयोगीभाव है, विभावभाव है; उसीप्रकार रागादि से असंयुक्त रहना आत्मा का स्वभाव है

और रागादि से संयुक्त होना आत्मा का विभावभाव है। शुद्धनय का विषय स्वभाव ही होता है; अतः शुद्धनय का विषयभूत आत्मा रागादि से असंयुक्त ही है ।

इसप्रकार शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को उक्त पाँच विशेषणों में से एक विशेषण के माध्यम से अर्थात् अबद्धस्पृष्ट विशेषण के माध्यम से पर से भिन्न, एक विशेषण के माध्यम से अर्थात् अविशेष विशेषण के माध्यम से गुणभेद से भिन्न एवं शेष तीन विशेषणों के माध्यम से पर्यायों से भिन्न बताया गया है। पर्यायों में अनन्य विशेषण के माध्यम से नर-नारकादि असमानजातीय व्यंजनपर्यायों से भिन्न, नियत विशेषण के माध्यम से षट्गुणी हानि-वृद्धिरूप स्वभाव अर्थपर्यायों से भिन्न एवं औपशमिक, क्षायोपशमिक एवं क्षायिक भावों से भिन्न एवं असंयुक्त विशेषण से औदयिक भावों से, रागादि विकारीभावों से भिन्न बताया गया है ।

प्रदेशभेद से भिन्नता को गुणभेद से भिन्न में गर्भित जानना चाहिए; क्योंकि आत्मा में गुणों के समान ही प्रदेशों की स्थिति है। जिसप्रकार यह भगवान आत्मा अनन्तगुणात्मक होकर भी एक है, उसीप्रकार असंख्यप्रदेशी होकर भी अभेद है। जिसप्रकार आत्मा में गुण हैं; पर गुणभेद नहीं; उसीप्रकार आत्मा में प्रदेश हैं, पर प्रदेशभेद नहीं ।

प्रदेशभेद से भिन्नता को व्यंजनपर्यायों से भिन्नता में भी गर्भित किया जा सकता है; क्योंकि व्यंजनपर्यायें आत्मा के आकार से ही संबंधित हैं और प्रदेशत्वगुण के विकार को ही व्यंजनपर्याय कहते हैं ।

कलशटीका के अर्थ के अनुसार विचार करें तो प्रदेशभेद के निषेध की बात नियत विशेषण से भी ली जा सकती है ।

इसप्रकार प्रदेशभेद की बात विभिन्न अपेक्षाओं से अनन्य, नियत और अविशेष विशेषणों में से किसी से भी ली जा सकती है या फिर तीनों से ही ली जा सकती है ।

भगवान आत्मा को व्यजंनपर्याय से भिन्नता के कारण अनन्य विशेषण में देह से भिन्न, अबद्धस्पृष्ट विशेषण में द्रव्यकर्म से भिन्न, असंयुक्त

विशेषण में भावकर्म से भिन्न, नियत विशेषण में पर्यायों से पार, सर्वपर्यायों में एकाकार और अविशेष विशेषण में गुणभेद से भिन्न बता दिया है और विभिन्न अपेक्षाओं से प्रदेशभेद का भी निषेध कर दिया गया है। इसप्रकार जो नय आत्मा को देह से भिन्न, द्रव्यकर्म-भावकर्म से भिन्न, पर्यायों से पार, सर्वपर्यायों में एकाकार और गुणभेद से भिन्न, प्रदेशभेद से भिन्न असंख्यातप्रदेशी एक बताये; वह शुद्धनय है। यह सहज ही प्रतिफलित हो गया ।

छठवीं-सातवीं गाथा में दृष्टि के विषयभूत जिस शुद्धात्मा का प्रतिपादन किया गया था, उसे ही यहाँ अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त विशेषणों से समझाया गया है ।

अब आगामी कलश में इसी शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के अनुभव करने की प्रेरणा देते हैं। कलश मूलतः इसप्रकार है -

(मालिनी)

न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावादयोऽमी
स्फुटमुपरितंरतोप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम् ।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम् ॥ ११ ॥

(हरिगीत)

पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में ।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का ।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥ ११ ॥

ये बद्धस्पृष्टादि पाँच भाव जिस आत्मस्वभाव में प्रतिष्ठा को प्राप्त नहीं करते, मात्र ऊपर-ऊपर ही तैरते हैं और जो आत्मस्वभाव चारों ओर से प्रकाशमान है अर्थात् सर्व-अवस्थाओं में प्रकाशमान है; आत्मा के उस सम्यक्स्वभाव का हे जगत के प्राणियों ! तुम मोहरहित होकर अनुभव करो ।

उक्त छन्द में शुद्धनय के विषयभूत बद्धस्पृष्टादि पाँच भावों से रहित, अपनी समस्त अवस्थाओं में प्रकाशमान सम्यक् आत्मस्वभाव के अनुभव करने की प्रेरणा दी गई है और यह भी कहा गया है कि शुद्धनय के विषयभूत इस भगवान आत्मा के अतिरिक्त जो वद्धस्पृष्टादि पाँच भाव हैं, उनसे एकत्व का मोह तोड़ो, उन्हें अपना मानना छोड़ो ।

चूंकि अनुभव में श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र आदि गुणों की सभी अन्तरोन्मुखी पर्यायें शामिल होतीं हैं; अतः यहाँ अनुभव करने का आशय यह है कि शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को ही जानो, उसमें ही अपनापन स्थापित करो और उसमें ही स्थिर हो जावो, लीन हो जावो, जम जावो, रम जावो, समा जावो, उसका ही ध्यान करो, उसे ही ध्यान का ध्येय बनाओ। एकमात्र करने योग्य कार्य तो यही है, सच्चा धर्म भी यही है, मुक्ति का मार्ग भी यही है, परमसुखी होने का उपाय भी यही है ।

अब आगे बारहवें कलश में कहते हैं कि यह शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा स्वयं ही देवाधिदेव है। कलश मूलतः इसप्रकार है -

(शार्दूलविक्रीड़ित)

भूतं भांतमभूतमेव रभसान्निर्भिद्य बंधं सुधी-
र्यद्यन्तः किल कोऽप्यहो कलयति व्याहत्य मोहं हठात् ।
आत्मात्मानुभवैकगम्यमहिमा व्यक्तोऽयमास्ते ध्रुवं
नित्यं कर्मकलंकपंक विकलो देवः स्वयं शाश्वतः ॥१२॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत् ।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥
तो निज अनुभवगम्य आत्मा सदा विराजित ।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥१२॥

यदि कोई बुद्धिमान सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीव अपने आत्मा को भूत, वर्तमान और भविष्य काल संबंधी कर्मों के बंध से भिन्न करके देखे,

बद्धस्पृष्टादि भावों के प्रति एकत्व के मोह को अपने पुरुषार्थ से बलपूर्वक दूर करके अंतरंग में देखे तो अनुभवगम्य महिमा का धारक यह निजभगवान आत्मा कर्मकंलकरूपी कीचड़ से अलिप्त, निश्चल, नित्य, शाश्वत स्वयं देवाधिदेव के रूप में ही दिखाई देता है; क्योंकि शुद्धनय का विषयभूत निजभगवान आत्मा तो सदा ही देहदेवल में बद्धस्पृष्टादिभावों से रहित विराजमान है ।

भगवान दो प्रकार के होते हैं – एक तो वे अरहंत और सिद्ध परमात्मा जिनकी मूर्तियाँ मन्दिरों में विराजमान हैं और उन मूर्तियों के माध्यम से हम उन मूर्तिमान परमात्माओं की नित्य उपासना करते हैं, भक्ति करते हैं, पूजन करते हैं; जिस पथ पर वे चले, उस पथ पर चलने का संकल्प करते हैं, भावना भाते हैं। ये अरहंत और सिद्ध कार्यपरमात्मा कहलाते हैं ।

दूसरे देहदेवल में विराजमान शुद्धनय का विषयभूत निजभगवान आत्मा भी परमात्मा है; भगवान है और इसे कारणपरमात्मा कहते हैं ।

इस कारणपरमात्मा की ही चर्चा इस १२वें कलश में की गई है ।

मन्दिर में विराजमान परमात्माओं के दर्शन का नाम देवदर्शन है और उससे हमें सातिशय पुण्य का बंध होता है; पर देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा के दर्शन का नाम सम्यग्दर्शन है और इससे किसी कर्म का बंध नहीं होता, अपितु बंध का अभाव होता है, कर्मबंधन कटते हैं ।

इस त्रिकाली ध्रुव निजभगवान आत्मा के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति होती है; यह संसारी आत्मा पर्याय में परमात्मा बनता है, सच्चा देव बनता है; इसकारण वह देवाधिदेव है। वह शाश्वत है, नित्य है, सदा ही कर्मकलंकरूप पंक से विकल है, कर्मों से अबद्धस्पृष्ट है; अनन्य है, नियत है, अविशेष है, असंयुक्त है, अनुभवगम्य है; एकमात्र आराध्य भी वही है और उसकी आराधना ही परमधर्म है ।

यह भगवान आत्मा तेरे भीतर ही विराजमान है, तू ही है; फिर भी यह अज्ञानी जगत इसे बाहर में खोजता है। यह बड़ी भारी भूल है। इसी भूल

के कारण ही यह अज्ञानी जगत महादुःखी है। इस दुःख को दूर करने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है तथा देहदेवल में विराजमान इस आत्मा को जानना ही सम्यग्ज्ञान है, इसमें अपनापन होना ही सम्यग्दर्शन है, इसमें जमना-रमना ही सम्यक्चारित्र है। इसे जानना, पहिचानना, इसमें जमना-रमना ही मोह को हटात् हटाने का पुरुषार्थ है; इसके अतिरिक्त कोई क्रिया ऐसी नहीं है, जो मोह का नाश कर सके; शेष क्रियायें तो बंध को बढ़ानेवाली ही हैं ।

इस आत्मा की अनुभूति ही ज्ञान की अनुभूति है। अतः एक इस आत्मा में ही निश्चल हो जाना चाहिए। यह बात आगामी कलश में व्यक्त करते हैं; जो इसप्रकार है -

(वसंततिलका)

आत्मानुभूतिरिति शुद्धनयात्मिका या
ज्ञानानुभूतिरियमेव किलेति बुद्ध्वा ।
आत्मानमात्मनि निवेश्य सुनिष्प्रकंप
मेकोऽस्ति नित्यमवबोधघनः समंतात् ॥ १३ ॥

(रोला)

शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो ।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके ।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥ १३ ॥

इसप्रकार जो शुद्धनयस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वही वास्तव में ज्ञान की अनुभूति है। यह जानकर तथा आत्मा में आत्मा को निश्चल स्थापित करके ज्ञान के घनपिण्ड और नित्य इस आत्मा को सदा ही देखना-जानना चाहिए ।

यहाँ ज्ञान और आत्मा को एक मानकर ही बात की गई है। इसकारण आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा है। ज्ञान आत्मा का गुण

है और आत्मा गुणी द्रव्य है। गुण-गुणी को अभेद मानकर आत्मानुभूति को ज्ञानानुभूति कहा है। ज्ञानगुण आत्मद्रव्य का लक्षण है। आत्मा की पहिचान ज्ञानगुण से ही होती है। इसलिए लक्ष्य-लक्षण के अभेद से भी ज्ञान को आत्मा कहा जाता है ।

इसीप्रकार यहाँ आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका कहा गया है। शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा की अनुभूति ही आत्मानुभूति कहलाती है, इसकारण ही यहाँ आत्मानुभूति को शुद्धनयात्मिका कहा गया है ।

शुद्धनय और उसके विषयभूत आत्मा की चर्चा विस्तार से की जा चुकी है। अतः यहाँ उस पर विशेष प्रकाश डालने की आवश्यकता नहीं है ।

यह कलश आगामी गाथा की उत्थानिकारूप कलश है। आगामी गाथा में आत्मानुभूति को समस्त जिनशासन की अनुभूति कहा गया है। अतः इस कलश में भी आत्मानुभूति की ही प्रेरणा दी गई है। यह कलश मूलतः प्रेरणा देनेवाला कलश ही है ।

आचार्य अमृतचन्द्र की यह विशेषता है कि वे टीका में तो गाथा के मर्म को खोलते हैं, गाथा के भाव को तर्क और युक्तियों से सिद्ध करते हैं, उदाहरणों से पाठकों के गले उतारते हैं और कलशों के माध्यम से उसे जीवन में उतारने की प्रेरणा देते हैं। इसकारण कलशों की व्याख्या में अधिक कुछ कहने को नहीं होता; क्योंकि उन्हें जो कुछ कहना होता है, वह तो वे टीका में ही कह चुकते हैं, कलश में तो उसी की गहराई में जाने की बात कहते हैं ।

टीका लिखते समय आचार्य अमृतचन्द्र का बुद्धिपक्ष सजग रहता है और कलशों में उनका हृदय हिलोंरे लेने लगता है। बुद्धि को तर्क-वितर्क के माध्यम से वस्तु की गहराई में जाने की टेब होती है और हृदय में भावना का बेग उमड़ता है। यहीकारण है कि उनकी गद्यात्मक टीका में तत्त्व की गहराई से मीमांसा होती है और कलशों से हृदय को छू लेनेवाली पावन प्रेरणा प्राप्त होती है ।

इसप्रकार उनकी यह आत्मख्याति टीका एकप्रकार से चम्पूकाव्य बन गई है। चम्पूकाव्य की परिभाषा ही यही है –

"गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते – गद्य और पद्यमय काव्य को चम्पू कहते हैं ।"

यद्यपि चम्पूकाव्य का उपयोग मूलतः कथा साहित्य में पाया जाता है; जैसे – जीवन्धरचम्पू, गुरुदेवचम्पू आदि; क्योंकि इस विधा की प्रकृति कथासाहित्य के ही अनुकूल है; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र ने इस टीकाग्रन्थ में भी इसका सफल प्रयोग किया है ।

आत्मानुभूति की पावन प्रेरणा देनेवाले इस कलश के बाद अब आगामी गाथा में कहते हैं कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत उक्त आत्मा की अनुभूति करता है, उसे जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है । •

विवेक और अविवेक का खेल

जहाँ विवेक है, वहाँ आनन्द है, निर्माण है; और जहाँ अविवेक है वहाँ कलह है, विनाश है। समय तो एक ही होता है, पर जिस समय अविवेकी निरन्तर षड्यन्त्रों में संलग्न रह बहुमूल्य नरभव को यों ही बरबाद कर रहे होते हैं; उसी समय विवेकीजन अमूल्य मानव भव का एक-एक क्षण सत्य के अन्वेषण, रमण एवं प्रतिपादन द्वारा स्व-पर हित में संलग्न रह सार्थक व सफल करते रहते हैं। वे स्वयं तो आनन्दित रहते ही हैं, आसपास के वातावरण को भी आनन्दित कर देते हैं ।

इसप्रकार क्षेत्र और काल एक होने पर भी भावों की विभिन्नता आनन्द और क्लेश तथा निर्माण और विध्वंस का कारण बनती है। यह सब विवेक और अविवेक का ही खेल है ।

– सत्य की खोज, पृष्ठ १८४

समयसार गाथा १५

जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं अणण्णमविसेसं ।
*अपदेससंतमज्झं पस्सादि जिणसासणं सव्व ॥१५॥

(हरिगीत)

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को ।
द्रव्य एवं भावश्रुतमय सकल जिनशासन लहे ॥१५॥

जो पुरुष आत्मा को अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, अविशेष (तथा उपलक्षण से नियत और अंसयुक्त) देखता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को देखता है। वह जिनशासन बाह्य द्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है ।

१४वीं गाथा में शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के जो पाँच विशेषण दिये गये हैं, उनमें से अबद्धस्पृष्ट, अनन्य और अविशेष - ये तीन विशेषण तो इस गाथा में वैसे के वैसे ही दुहराये गये हैं। इससे प्रतीत होता है कि वे इन विशेषणों के माध्यम से इस गाथा में भी उसी आत्मा की चर्चा कर रहे हैं, जिसकी चर्चा १४वीं गाथा में की गई थी, गाथा में स्थान न होने से नियत और असंयुक्त विशेषणों का उल्लेख नहीं हो पाया है। अतः उपलक्षण से इन्हें भी शामिल कर लेना उचित ही है ।

शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के उक्त विशेषणों पर १४वीं गाथा में गहराई से मंथन हो चुका है। अतः अब यहाँ उन पर विशेष चर्चा करना आवश्यक नहीं है। यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने इस गाथा की आत्मख्याति में इनकी चर्चा विशेष नहीं की है, अपितु गाथा के उत्तरार्द्ध को मुख्य बनाकर यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि शुद्धनय के विषयभूत आत्मा को जानने से सर्वश्रुत किसप्रकार जान लिया जाता है ।

---

* पाठान्तर : अपदेशसुत्तमज्झं

सम्पूर्ण जिनागम का एकमात्र मूल प्रतिपाद्य शुद्धनय का विषयभूत यह भगवान आत्मा ही है। अथवा यह भी कह सकते हैं कि जिनशासन का प्रतिपादन केन्द्रविन्दु शुद्धनय का विषयभूत यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त भाववाला भगवान आत्मा ही है; क्योंकि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग इसी भगवान आत्मा के आश्रय से होता है ।

उक्त संदर्भ में "तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ" का निम्नांकित कथन द्रष्टव्य है -

"भगवान महावीर के उपदेशों का केन्द्रविन्दु आत्मा है। अतः आत्मतत्त्व के प्रतिपादन के लिए परद्रव्यों का जितना और जो कथन आवश्यक है, उतना और वही कथन उनकी वाणी में मुख्यरूप से आया है। जीव का प्रतिपादन तो जीव के समझने के लिए है ही, किन्तु अजीव द्रव्यों का प्रतिपादन भी जीव (आत्मा) को समझने के लिए ही है; क्योंकि आत्मा का हित तो आत्मा के जानने में है ।

पर को मात्र जानना है और अपने जीव को जानकर उसमें जमना है, रमना है। पर को जानकर उससे हटना है और जीव को अर्थात् स्वजीव को जानकर उसमें डटना है। पर को जानकर उसे छोड़ना है और स्व को जानकर उसे पकड़ना है, जकड़ना है ।

तीर्थंकर महावीर की प्रतिपादन शैली की यह मुख्य पकड़ है। इसे जाने बिना उनके प्रतिपादन के निष्कर्ष विन्दु को पकड़ पाना संभव नहीं है ।[१]"

उक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सम्पूर्ण जिनशासन (जिनागम) का एकमात्र उद्देश्य संसार के दुःखी प्राणियों को संसार दुःख से मुक्त होकर सुखी होने का मार्ग बताना है। वह मार्ग सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूप है और ये सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र शुद्धनय के विषयभूत आत्मा के आश्रय से प्रगट होते हैं, अतः मूलरूप से शुद्धनय के विषयभूत भगवान

---

१. तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ, पृष्ठ ६४

आत्मा को जानना ही आवश्यक रहा। अतः यह कहना उपयुक्त ही है कि जो अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है ।

वह जिनशासन द्रव्यश्रुत और भावश्रुतरूप है। द्रव्यश्रुत द्वादशांग जिनवाणी को कहते हैं और उसे अथवा उसके प्रतिपाद्य को जाननेवाली श्रुतज्ञानपर्याय को भावश्रुत कहते हैं ।

'अपदेशसुत्तमज्झ' का अर्थ आचार्य जयसेन इसप्रकार करते हैं –

"जिसके द्वारा पदार्थ कहा जाय, वह अपदेश है; इसप्रकार अपदेश का अर्थ शब्द होता है, जिससे कि यहाँ पर द्रव्यश्रुत को ग्रहण करना और सूत्र शब्द से परिच्छित्तिरूप भावश्रुत जो कि ज्ञानात्मक है, उसे ग्रहण करना; इसप्रकार जो द्रव्यश्रुत के द्वारा वाच्य और भावश्रुत के द्वारा परिच्छेद्य हो, वह अपदेश सूत्रमध्य कहा जाता है ।[१]"

उक्त कथन का सीधा-सा अर्थ यह हुआ कि शुद्धनय का विषयभूत जो भगवान आत्मा द्रव्यश्रुत के द्वारा कहा गया है और भावश्रुत के द्वारा जाना गया है, उसे ही यहाँ अपदेश-सुत्तमज्झ कहा गया है। इसप्रकार सम्पूर्ण गाथा का अर्थ यह हुआ कि जो पुरुष द्रव्यश्रुत से वाच्य एवं भावश्रुत से ज्ञेय, अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष एवं असंयुक्त आत्मा को जानता है, अनुभव करता है; वह समस्त जिनशासन को जानता है। तात्पर्य यह है कि जो जैनागम के माध्यम से या उसके उपदेशदाता जिनवरदेव या जिनगुरुओं के माध्यम से, ज्ञानी धर्मात्माजनों के माध्यम से निजभगवान आत्मा को जानकर उसका अनुभव करता है; आत्मानुभूति से सम्पन्न होता है, वही समस्त जिनशासन का मर्मज्ञ है। और भी अधिक स्पष्ट कहें तो यह कह सकते हैं कि देशनालब्धिपूर्वक करणलब्धि पार कर जो आत्मानुभवी हुए हैं; वे ही समस्त जिनशासन के मर्मज्ञ हैं ।

---

१. समयसार की आचार्य जयसेनकृत तात्पर्यवृत्ति टीका का आचार्य ज्ञानसागरजी कृत हिन्दी अनुवाद ।

इस संदर्भ में स्वामीजी का कथन भी द्रष्टव्य है -

"अन्तर में एकरूप परमात्मतत्त्व की प्रतीति व रमणता करना ही शुद्धोपयोग है, जैनशासन है। यह जैनशासन "**अपदेशसान्तमध्य**" अर्थात् बाह्यद्रव्यश्रुत और अभ्यन्तर ज्ञानरूप भावश्रुतवाला है। जयसेनाचार्य की टीका में आता है कि वाह्यद्रव्यश्रुत में ऐसा ही कहा है कि अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करना ही जैनशासन है। बारहअंगरूप वीतरागवाणी का यही सार है कि शुद्धात्मा का अनुभव कर। द्रव्यश्रुत वाचक हैं, अन्दर भावश्रुतज्ञान उसका वाच्य है। द्रव्यश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा के स्वरूप का निरूपण करता है और भावश्रुत अबद्धस्पृष्ट आत्मा का अनुभव करता है ।

पण्डित श्री राजमलजी ने कलश १३ में बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण किया है ।

शिष्य ने पूछा - इस प्रंसग में दूसरी यह भी शंका होती है कि कोई जानेगा कि द्वादशांगज्ञान कोई अपूर्व उपलब्धि है ?

उसका समाधान - द्वादशांगज्ञान विकल्प है। उसमें भी ऐसा ही कहा है कि शुद्धात्मानुभूति मोक्षमार्ग है, वीतरागी शुद्धात्मा का अनुशरण करने पर जो अनुभव होता है, वह अनुभूति मोक्षमार्ग है। ऐसी वस्तु को जानने के वाद विकल्प आवें तो शास्त्र वाँचे; किन्तु ऐसे जीवों को शास्त्र पढ़ने की कोई अटक नहीं है अर्थात् शास्त्र पढ़े बिना चले नहीं - ऐसा नहीं है ।[१]"

शास्त्रों के स्वाध्याय का मूल प्रयोजन तो एकमात्र दृष्टि के विषयभूत निजभगवान आत्मा को जानना है; क्योंकि उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग की उत्पत्ति होती है। दृष्टि का विषय और शुद्धनय का विषय एक ही है। अतः जब शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा को जान लिया तो फिर शास्त्र पढ़ने की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है; फिर भी ज्ञानी धर्मात्माओं की रुचि के अनुकूल होने से एवं उपयोग की विशुद्धि के लिए, उपयोग अन्यत्र न भटके - इसके लिए ज्ञानी धर्मात्मा भी

१. प्रवचनरत्नाकार (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६०

स्वाध्याय करते हैं और करना भी चाहिए। बात स्वाध्याय नहीं करने की नहीं है, अपितु यहाँ तो मात्र इतना बताया गया है कि आत्मानुभूति हो जाने पर वह अनिवार्य नहीं रहता ।

गाथा का मूल अभिप्राय तो यही है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अवशेष और असंयुक्त निज-आत्मा को द्रव्यश्रुत और भावश्रुत से जानते हैं, अनुभूतिपूर्वक जानते हैं, वे सर्व जिनशासन को जानते हैं ।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त - ऐसे पाँचभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है; क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है, इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है ।

किन्तु जब सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान के तिरोभाव से ज्ञानमात्र का अनुभव किया जाता है; तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है; तथापि जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें वह स्वाद में नहीं आता ।

अव इसी बात को विस्तार से दृष्टान्त देकर समझाते हैं -

जिसप्रकार अनेक प्रकार के व्यंजनों के संबंध से उत्पन्न सामान्यलवण का तिरोभाव और विशेषलवण के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाला जो लवण है, उसका स्वाद अज्ञानी व्यंजनलोलुप मनुष्यों को आता है; किन्तु अन्य के संबंधरहितता से उत्पन्न सामान्य के अविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला जो एकाकार अभेदरूप लवण है, उसका स्वाद नहीं आता। यदि परमार्थ से देखें तो विशेष के अविर्भाव से अनुभव में आनेवाला लवण ही सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आनेवाल लवण है ।

इसीप्रकार अनेकप्रकार के ज्ञेयों के आकारों के साथ मिश्ररूपता से उत्पन्न सामान्य के तिरोभाव और विशेष के आविर्भाव से अनुभव में

आनेवाला (विशेष भावरूप, भेदरूप, अनेकाकाररूप) ज्ञान, अज्ञानी - ज्ञेयलुब्ध जीवों के स्वाद में आता है; किन्तु अन्य ज्ञेयाकारों के संयोग की रहितता से उत्पन्न सामान्य के आविर्भाव और विशेष के तिरोभाव से अनुभव में आनेवाला एकाकार अभेदरूप ज्ञान स्वाद में नहीं आता। यदि परमार्थ से देखें तो जो ज्ञान विशेष के आविर्भाव से अनुभव में आता है, वही ज्ञान सामान्य के आविर्भाव से अनुभव में आता है ।

जिसप्रकार अन्यद्रव्य के संयोग से रहित केवल सैंधव (नमक) का अनुभव किए जाने पर सैंधव की डली सभी ओर से एक क्षाररसत्व के कारण क्षाररूप से ही स्वाद में आती है; उसीप्रकार परद्रव्य के संयोग का व्यवच्छेद करके केवल एक आत्मा का ही अनुभव किये जाने पर चारों ओर से एक विज्ञानघनता के कारण यह आत्मा भी ज्ञानरूप से ही स्वाद में आता है ।"

टीका में समागत भाव की चर्चा करने से पहले विषय के विशेष स्पष्टीकरण के लिए इस टीका का अर्थ लिखने के उपरान्त जो भावार्थ पण्डित जयचन्दजी छावड़ा ने लिखा है; उसे देख लेना भी उपयोगी रहेगा। वह भावार्थ इसप्रकार है -

"यहाँ आत्मा की अनुभूति को ही ज्ञान की अनुभूति कहा गया है । अज्ञानीजन ज्ञेयों में ही, इन्द्रियज्ञान के विषयों में ही लुब्ध हो रहे हैं । वे इन्द्रियज्ञान के विषयों से अनेकाकार हुए ज्ञान को ही ज्ञेयमात्र आस्वादन करते हैं, परन्तु ज्ञेयों से भिन्न ज्ञानमात्र का आस्वादन नहीं करते और जो ज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त नहीं हैं; वे ज्ञेयों से भिन्न एकाकार ज्ञान का ही आस्वाद लेते हैं; जिसप्रकार शाकों से भिन्न नमक की डली का क्षारमात्र स्वाद आता है, उसीप्रकार आस्वाद लेते हैं; क्योंकि जो ज्ञान है, सो आत्मा हो और आत्मा है, सो ज्ञान है ।

इसप्रकार गुण-गुणी की अभेददृष्टि में आनेवाला सर्व परद्रव्यों से भिन्न अपनी पर्यायों में एकरूप निश्चल, अपने गुणों में एकरूप, परनिमित्त से उत्पन्न हुए भावों से भिन्न अपने स्वरूप का अनुभव ही ज्ञान का अनुभव है। और यह अनुभवन भावश्रुतज्ञानरूप जिनशासन का अनुभवन है, शुद्धनय से इसमें कोई भेद नहीं है ।"

उक्त टीका व भावार्थ में एक बात विशेष कही गई है कि आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है। उत्थानिका के कलश में भी इसी बात को विशेष बल देकर कहा गया है कि शुद्धनयात्मक आत्मानुभूति ही ज्ञानानुभूति है। टीका के आरंभ में कहा गया है कि जो यह अबद्धस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशेष और असंयुक्त ऐसे पांचभावस्वरूप आत्मा की अनुभूति है, वह निश्चय से समस्त जिनशासन की अनुभूति है; क्योंकि श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है ।

उक्त कथन का भाव स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"श्रुतज्ञान स्वयं आत्मा ही है। भावश्रुतज्ञानरूप शुद्धोपयोग से जो आत्मा का अनुभव हुआ, वह आत्मा ही है; क्योंकि रागादि आत्मा नहीं, अनात्मा हैं। धर्मी को भी अनुभूति के पश्चात् जो राग आता है, वह अनात्मा है। द्रव्यश्रुत में भी यही कहा है और यही अनुभव में आया। इसलिए ज्ञान की अनुभूति ही आत्मा की अनुभूति है; क्योंकि भावश्रुत में जो त्रिकाली वस्तु ज्ञात हुई, वह वीतरागस्वरूप है और उसकी जो अनुभूति प्रगट हुई – वह वीतराग परिणति है ।

भगवान आत्मा त्रिकाल मुक्त स्वरूप ही है, उसका पर्याय में अनुभव हुआ, वह भावश्रुतज्ञान है, शुद्धोपयोग है, आत्मा की ही जाति का होने से आत्मा ही है। अनुभूति में पूरे आत्मा का नमूना आया, इसलिए वह आत्मा ही है। इसे द्रव्य की अनुभूति कहो या ज्ञान की अनुभूति कहो – एक ही चीज है। 'ही' शब्द लिया है। यह सम्यक्-एकान्त है ।[१]"

द्रव्य और शुद्धपर्याय को अभेद करके कहनेवाले कथन परमागम में बहुत हैं। उक्त कथन भी इसीप्रकार का है। शुद्धनय के विषय को भी 'शुद्धनय' इसी अपेक्षा से कहा जाता है। आगे १६वीं गाथा में भी कहेंगे कि परमार्थ से देखा जाये तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं; क्योंकि वे अन्य वस्तु नहीं हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६१

इस पन्द्रहवीं गाथा की टीका की विशेष बात तो यह है कि इसमें सामान्यनमक और विशेषनमक का उदाहरण देकर सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान के आविर्भाव और तिरोभाव को समझाया गया है ।

यद्यपि नमक तो नमक ही है और वह एकप्रकार का ही होता है; तथापि उसे सामान्यनमक और विशेषनमक के रूप में दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। शुद्धनमक अर्थात् किसी पदार्थ में मिश्रित न होनेवाले नमक को सामान्यनमक कहते हैं और शाकादि खाद्यपदार्थ में मिश्रित नमक को विशेषनमक कहते हैं ।

शाकादि में मिश्रित होने पर भी नमक तो नमक ही रहता है, वह अपने खारेपन को छोड़ नहीं देता, वह तो जहाँ भी रहता है, खारा ही रहता है। तात्पर्य यह है कि वह वास्तव में तो खारेपन में ही रहता है, अन्य कहीं जाता ही नहीं ।

इसीप्रकार ज्ञान तो ज्ञान ही है और वह एक प्रकार का ही होता है; तथापि उसे सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान के रूप में दो भागों में विभाजित कर दिया जाता है। शुद्धज्ञान को सामान्यज्ञान कहते हैं और ज्ञेयाकारज्ञान को विशेषज्ञान कहते हैं। ज्ञेयों को जाननेवाले ज्ञान को ज्ञेयाकार ज्ञान कहते हैं; क्योंकि ज्ञानपर्याय में उन ज्ञेयों के आकार प्रतिबिम्बित होते हैं ।

यद्यपि ज्ञान तो सदा ज्ञानाकार ही रहता है। ज्ञेयों को जानने के काल में भी वह अपने ज्ञानाकार को नहीं छोड़ता; तथापि ज्ञेयों के प्रतिविम्बित होने से उसे ज्ञेयाकार भी कहा जाता है। ज्ञेयों के प्रतिबिम्बित होने से ज्ञेयों के आकार के जो आकार ज्ञान में बनते हैं, वे आकार स्वयं ज्ञान के ही हैं, ज्ञेयों के नहीं, फिर भी उन्हें कहा तो ज्ञेयाकार ही जाता है ।

अकेला नमक कोई नहीं खाता, सभी लोग किसी न किसी खाद्यपदार्थ में मिलाकर ही नमक खाते हैं। अतः स्वाद के लोलुपी लोगों को नमक के असली स्वाद का अनुभव नहीं होता। पूर्वपुरुषों से सुनकर या पुस्तकों में पढ़कर भले ही वे यह कहते हों कि नमक खारा होता है, फिर भी उन्हें

नमक के खारेपन का अनुभव नहीं होता, बात मात्र बातों तक ही सीमित रहती है ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी जगत ने अकेले आत्मा को कभी नहीं जाना; शरीरादि संयोगों में, बद्धस्पृष्टादिभावों में ही देखा-जाना है; अत: उन्हें आत्मा का अनुभव नहीं होता, सम्यग्ज्ञान नहीं होता। शास्त्रों में पढ़कर या गुरुमुख से सुनकर वे भले ही यह कहते हों कि आत्मा ज्ञानानन्दस्वभावी है, शरीरादि से भिन्न है, अबद्धस्पृष्टादिभावों से युक्त है; पर उन्हें शरीरादि से भिन्न, अबद्धस्पृष्टादिभावों से युक्त, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव नहीं होता; बात मात्र बातों तक ही सीमित रहती है ।

जब कोई स्वादलोलुप मनुष्य शाकादि में मिश्रित नमक खाता है तो उसके स्वाद में सामान्यनमक का तिरोभाव और विशेषनमक का आविर्भाव हो जाता है; किन्तु जब शाकादि अन्यद्रव्य के संयोग से रहित केवल शुद्धनमक खाया जाता है तो विशेषनमक का तिरोभाव और सामान्यनमक का आविर्भाव हो जाता है; क्योंकि उस समय वह शुद्धनमक खारा-खारा ही लगता है ।

इसीप्रकार जब कोई ज्ञेयलुब्ध व्यक्ति ज्ञेयमिश्रित ज्ञान का अनुभव करता है, ज्ञेयाकार ज्ञान का अनुभव करता है, तब उसके ज्ञान में सामान्यज्ञान का तिरोभाव और विशेषज्ञान का आविर्भाव हो जाता है; किन्तु जब कोई ज्ञानी अन्य ज्ञेयाकारों के संयोग की रहितता से केवल ज्ञान का अनुभव करता है तो विशेषज्ञान का तिरोभाव और सामान्यज्ञान का आविर्भाव हो जाता है ।

यह सामान्यज्ञान का आविर्भाव होना ही ज्ञानानुभूति है, आत्मानुभूति है, शुद्धनय का उदय होना है ।

इसप्रकार ये सुनिश्चित हुआ है कि आत्मानुभूति के काल में सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेषज्ञान का तिरोभाव हो जाता है ।

इस बात का स्पष्टीकरण स्वामीजी इसप्रकार करते हैं -

"सामान्यज्ञान के आविर्भाव और विशेषज्ञान के तिरोभाव से जब ज्ञानमात्र का अनुभव हो, तब ज्ञान प्रगट अनुभव में आता है । देखो, रागमिश्रित ज्ञेयाकार ज्ञान जो पूर्व में था, उसकी रुचि छोड़कर और ज्ञायक की रुचि का परिणमन करके सामान्यज्ञान का पर्याय में अनुभव करने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव व विशेषज्ञान का तिरोभाव कहते हैं ।

यह पर्याय की बात है। ज्ञान की पर्याय में अकेला ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का वेदन होना और शुभाशुभ ज्ञेयाकार ज्ञान के ढक जाने को सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेष ज्ञेयाकार ज्ञान का तिरोभाव कहते हैं और इसतरह ज्ञानमात्र का अनुभव करते हुए ज्ञान आनन्दसहित पर्याय में अनुभव में आता है। यहाँ सामान्यज्ञान का आविर्भाव अर्थात् त्रिकालीभाव का आविर्भाव - यह बात नहीं है। सामान्यज्ञान अर्थात् शुभाशुभ ज्ञेयाकार रहित अकेले ज्ञान का पर्याय में प्रगटपना। अकेले ज्ञान-ज्ञान-ज्ञान का अनुभव - यह सामान्यज्ञान का आविर्भाव है। ज्ञेयाकार रहित अकेला प्रगटज्ञान सामान्यज्ञान है और इसका विषय त्रिकाली है ।

जो अज्ञानी हैं, ज्ञेयों में आसक्त हैं, उन्हें यह आत्मा स्वाद में नहीं आता। चैतन्यस्वरूप निजपरमात्मा की जिन्हें रुचि नहीं है, ऐसे अज्ञानी जीवों को या जो परज्ञेयों में आसक्त हैं, व्रत, तप, दया, दान, पूजा, भक्ति आदि व्यवहार रत्नत्रय के परिणामों में आसक्त हैं, शुभाशुभ विकल्पों के जानने में रुक गये हैं; ऐसे ज्ञेयलुब्ध जीवों को आत्मा के अतीन्द्रियज्ञान और आनन्द का स्वाद नहीं आता ।[१]"

प्रश्न – यह तो अनुभव के काल की बात हुई। अनुभव के काल में तो सामान्यज्ञान का आविर्भाव और विशेषज्ञान का तिरोभाव रहता ही है, पर प्रश्न तो यह है कि जिन्हें आत्मा का अनुभव हो गया है और जो अभी भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्मा हैं; क्या उन्हें परज्ञेयों को जानते समय भी सामान्यज्ञान का आविर्भाव होता है ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६२

उत्तर – हाँ, हो सकता है; पर इसकी विवक्षा को अच्छी तरह समझना होगा। जिस व्यक्ति ने बिना किसी शाकादि पदार्थ में मिलाये नमक की डली का स्वाद चखा है, उसे नमक के स्वाद का ज्ञान डली खाते समय ही नहीं रहता; अपितु अच्छी तरह कुल्ला कर लेने के बाद भी रहता है। अन्तर मात्र इतना ही है कि खाते समय वह स्वाद प्रत्यक्षज्ञान के रूप में रहता है और खाने के बाद धारणाज्ञान के रूप में, स्मृतिज्ञान के रूप में, प्रत्यभिज्ञान के रूप में रहता है ।

धारणाज्ञान के रूप में तो निरन्तर ही रहता है, स्मृति-प्रत्यभिज्ञान के रूप में कभी रहता है, कभी नहीं रहता है। शाकादि खाते समय जब विशेषनमक का स्वाद प्रत्यक्ष आ रहा होता है, तब उसे सामान्यनमक की स्मृति भी हो सकती है और ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी हो सकता है कि इस शाक में जो नमक का स्वाद आ रहा है, वह वही डली जैसा नमक है, जिसे मैंने चखा था।

इसीप्रकार आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्माओं को आत्मा का ज्ञान अनुभव के काल में तो अनुभवप्रत्यक्ष के रूप में रहता है और अन्यकाल में धारणाज्ञान के रूप में, स्मृतिज्ञान के रूप में, प्रत्यभिज्ञान के रूप में रहता है ।

अनुभवप्रत्यक्ष में आया भगवान आत्मा ज्ञानी धर्मात्माओं के धारणाज्ञान में तो सदा रहता ही है; किन्तु जब उसका ज्ञान अन्य ज्ञेयों को जानता है, तब भी उसे आत्मा की स्मृति हो सकती है, ऐसा प्रत्यभिज्ञान भी हो सकता है कि ज्ञेयाकार परिणत ज्ञान में जो ज्ञान का ज्ञान हो रहा है, वह वही ज्ञान है, जिसे अनुभवज्ञान में जाना गया था ।

इसप्रकार अनुभव के काल से भिन्न समय में भी सामान्यज्ञान का आविर्भाव हो सकता है। धारणाज्ञान की अपेक्षा तो वह सदा ही रहता है, पर स्मृति-प्रत्यभिज्ञान के समय कभी-कभी ही होता है ।

१५वीं गाथा का निष्कर्ष निकालते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यहाँ तीन बातें आई हैं –

(१) एक तो परद्रव्य और पर्याय से भी भिन्न, अखण्ड, एक, शुद्ध, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव का अनुभवनरूप भावश्रुतज्ञान ही शुद्धनय है ।

(२) दूसरे शुद्धनय के विषयभूत द्रव्यसामान्य का अनुभव ही शुद्धनय है और यही जैनशासन है ।

(३) तीसरे त्रिकाली शुद्धज्ञायकभाव का वर्तमान में भावश्रुतज्ञानरूप अनुभव जैनशासन है; क्योंकि भावश्रुतज्ञान वीतरागी ज्ञान है, वीतरागी पर्याय है ।[१]"

गाथा में जिस शुद्धनय के विषय को जानने को सर्व जिनशासन का जानना कहा गया है, शुद्धनय का विषयभूत वह भगवान आत्मा हमारे ज्ञान में नित्य प्रकाशित रहे - ऐसी भावना आगामी कलश में व्यक्त की गई है ।

कलश मूलतः इसप्रकार है -

(पृथ्वी)

अखण्डितमनाकुलं ज्वलदनंतमंतर्बहिर्महः
परममस्तु नः सहजमुद्विलासं सदा ।
चिदुच्छलननिर्भरं सकलकालमालंबते
यदेकरसमुल्लसल्लवणखिल्यलीलायितम् ॥१४॥

(रोला)

खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है ।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल ।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥१४॥

जिसप्रकार नमक की डली खारेपन से लबालब भरी हुई है, उसीप्रकार आत्मा ज्ञानरस से लबालब भरा हुआ है। वह ज्ञेयों के आकाररूप में खण्डित नहीं होता, इसलिए अखण्डित है; अनाकुल है, अविनाशीरूप से अन्तर में दैदीप्यमान है, सहज़रूप से सदा विलसित हो रहा है और चैतन्य के परिणमन से परिपूर्ण है; ऐसा उत्कृष्ट तेजोमय आत्मा हमें प्राप्त हो ।

उक्त कलश में ज्ञानानन्द से परिपूर्ण, अनाकुलस्वभावी, अखण्ड, अविनाशी आत्मा हमारी अनुभूति में सदा प्रकाशित रहे - यह भावना भाई गई है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर(हिन्दी), भाग १, पृष्ठ २६९

आत्मख्याति के अनुसार जो १५वीं व १६वीं गाथाएं हैं, उनके बीच जयसेनाचार्य की तात्पर्यवृत्ति में एक गाथा पाई जाती है, जो आत्मख्याति में नहीं है। वह गाथा इसप्रकार है –

आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणं चरित्ते य ।
आदा पच्चक्खाणे आदा में संवरे जोगे ॥

निज आतमा ही ज्ञान है दर्शन चरित भी आतमा ।
अर योग संवर और प्रत्याख्यान भी है आतमा ॥

निश्चय से मेरा आत्मा ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है और चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान हैऔर मेरा आत्मा ही संवर तथा योग है ।

उक्त गाथा आत्मख्याति में भी पाई जाती है, पर इस स्थान पर नहीं; बंधाधिकार में पाई जाती है। आत्मख्याति में समागत ४१५ गाथाओं में उसकी क्रम संख्या २७७ है। जिस क्रम में यह गाथा आत्मख्याति में पाई जाती है, उसी क्रम में आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में भी पाई जाती है, जिसकी क्रमसंख्या वहाँ २९६ है ।

अत: यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि यह पुनरावृत्ति है; क्योंकि यह गाथा एक ही ग्रन्थ में दो बार आती है। ऐसी गाथायें तो ध्यान में हैं कि जो आचार्य कुन्दकुन्द के विभिन्न ग्रन्थों में हूबहू पाई जाती हैं, पर एक ही ग्रन्थ में अनेकबार पाई जानेवाली गाथा अभी तक यह एक ही ध्यान में आई है ।

यहाँ तात्पर्यवृत्ति में भी इसके अर्थ में विशेष कुछ नहीं कहा गया है, सामान्य-अर्थ ही किया गया है। पिछली गाथा में कहा गया है कि जो व्यक्ति शुद्धनय के विषयभूत अबद्धस्पृष्टादि भावों से संयुक्त भगवान आत्मा को जानता है, वह सम्पूर्ण जिनशासन को जानता है; क्योंकि वह शुद्ध-आत्मा ही सम्पूर्ण जिनशासन का मूल प्रतिपाद्य है, प्रतिपादन केन्द्रबिन्दु है। उसी शुद्धात्मा की महिमा बताते हुए इस गाथा में कहा गया है कि वह आत्मा ही ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, प्रत्याख्यान है, संवर है, योग है; सबकुछ

वह एक शुद्धात्मा ही है। उस शुद्धात्मा की आराधना से, साधना से ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र की प्राप्ति होती है, प्रत्याख्यान होता है, संवर होता है और योग भी होता है ।

इसके बाद आनेवाली गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के सेवन की प्रेरणा दी गई है और साथ में यह भी कहा गया है कि निश्चय से इन तीनों को एक आत्मा ही जानों ।

अब आगामी (१६वीं) गाथा की उत्थानिकारूप कलश कहते हैं –

(अनुष्टुभ्)

एष ज्ञानघनो नित्यमात्मा सिद्धिमभीप्सुभिः ।
साध्यसाधकभावेन द्विधैकः समुपास्यताम् ॥ १५॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ॥
बस साध्य-साधकभाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥

स्वरूप की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष साध्यभाव और साधकभाव से इस ज्ञान के घनपिण्ड भगवान आत्मा की ही उपासना करें ।

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव उपदेश दे रहे हैं, आदेश दे रहे हैं कि आत्मार्थी पुरुषो ! आत्मा का कल्याण चाहनेवाले सत्पुरुषो !! तुम निरन्तर ज्ञान के घनपिण्ड, आनन्द के रसकन्द इस भगवान आत्मा की ही उपासना करो, आराधना करो; चाहे साध्यभाव से करो, चाहे साधकभाव से करो, पर एक निज भगवान आत्मा की ही उपासना करो। उपासना करने योग्य तो एकमात्र यह ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकन्द एक भगवान आत्मा ही है, अन्य कोई नहीं ।

यहाँ आत्मा की उपासना करने का तात्पर्य निज आत्मा की पूजा-भक्ति करने से नहीं है, स्तुत-वंदना करने से भी नहीं है, नमस्कारादि करने से भी

नहीं है; अपितु उसे सही रूप में जानने से है, पहिचानने से है, उसका अनुभव करने से है, उसी में समा जाने से है; उसी का नित्य ध्यान करने से है, ध्यान रखने से है; उसको ही सर्वस्व मानने से है; उसी में पूर्णतः समर्पित हो जाने से है। यही निज भगवान आत्मा की उपासना की विधि है, आराधना की विधि है, साधना की विधि है ।

निज भगवान आत्मा की यह उपासना दो प्रकार से होती है -

(१) साध्यभाव से और (२) साधकभाव से ।

चौथे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक साधकदशा है और सिद्ध-अवस्था साध्यदशा है। अथवा चौथे गुणस्थान से बाहरवें गुणस्थान तक साधकदशा है और अरहंत और सिद्धदशा साध्यदशा है। पर्याय में पूर्णता की प्राप्ति हो जाना साध्यदशा है और आत्मोपलब्धि होकर पूर्णता की ओर अग्रसर होना साधकदशा है। अथवा आत्मा में उपयोग का केन्द्रित होना और फिर बाहर आ जाना, फिर अन्दर जाना और फिर बाहर आ जाना - इसप्रकार बार-बार अन्दर जाना और बाहर आना साधकदशा है और शुद्धोपयोग में अनन्तकाल तक के लिए समा जाना साध्यदशा है ।

आत्मा की सिद्धदशा अमल भी है और अचल भी है; परन्तु अरहंत-अवस्था अमल तो है, पर अचल नहीं; क्योंकि उसमें योग के निमित्त से आत्मप्रदेशों में चंचलता पाई जाती है, चलाचलपना पाया जाता है। इस दृष्टि से विचार करें तो अकेली सिद्धदशा ही साध्यभाव है, आत्मज्ञानी की शेष सभी दशायें साधकभाव में आती हैं ।

पूर्ण वीतरागी व सर्वज्ञ हो जाने से, अमलता प्राप्त हो जाने से तथा उपयोग के निरन्तर आत्मसन्मुख ही रहने से, निरन्तर शुद्धोपयोगी होने से जब अरहंत भगवान को भी साध्यदशा में लेते हैं तो फिर उसके पहले के धर्मात्मा जीव साधकदशावाले कहे जाते हैं ।

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है। जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव

की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्मसन्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते हैं। पर एक बात निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने में ही है, आत्मज्ञान में ही है, आत्मध्यान में ही है, अपने में अपनापन स्थापित करने में ही है। इन्हीं का नाम निश्चय रत्नत्रय है – निश्चय सम्यग्दर्शन, निश्चय सम्यग्ज्ञान और निश्चय सम्यक्चारित्र है ।

तात्पर्य यह है कि निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की प्राप्ति ही निज भगवान आत्मा की उपासना है, निज भगवान आत्मा की आराधना है, निज भगवान आत्मा की साधना है, निज भगवान आत्मा की शरण में जाना है।

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि निरन्तर आत्मध्यान की दशा ही साध्यभाव की उपासना है और कभी-कभी आत्मध्यान की दशा होना, साधकभाव की उपासना है। आत्मा के कल्याण के इच्छुक पुरुषों को, चाहे वे साध्यभाव से उपासना करें या साधकभाव से उपासना करें, पर उपासना तो नित्य निज भगवान की ही करना चाहिए ।

यह कलश १६वीं गाथा की उत्थानिका का कलश है। अतः गाथा में भी यही विषयवस्तु आनेवाली है ।

इसप्रकार यह प्रतिफलित हुआ कि निश्चय से तो चौथे गुणस्थान से सिद्धभगवान तक सभी उपासक हैं और उपास्य है प्रत्येक का स्वयं का आत्मा, शद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा, अबद्धस्पृष्टादिभावों से युक्त त्रिकाली ध्रुव आत्मा; अभेद-अखण्ड, सामान्य, नित्य, एक आत्मा; पर और पर्याय से भिन्न आत्मा; गुणभेद और प्रदेशभेद से भिन्न आत्मा, देहदेवल में विराजमान पर देह से भिन्न आत्मा ।

प्रश्न – अरहंत-सिद्ध भगवान को उपासक कहना तो अच्छा नहीं लगता।

उत्तर – इसमें अच्छा नहीं लगने की क्या बात है, बुरा लगने की भी क्या बात है ? जब अपने में अपनापन स्थापित होने का नाम ही आत्म-उपासना है, जब स्वयं को जानने का नाम ही आत्म-उपासना है, जब स्वयं

में स्थिर होने का नाम ही आत्म-उपासना है, जब स्वयं में जमने-रमने का नाम ही आत्म-उपासना है तो फिर क्या अरंहत-सिद्ध भगवान अपने में अपनापन नहीं रखते, अपने को नहीं जानते, अपने में ही स्थिर नहीं हैं, क्या उनके सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र नहीं है ? यदि हैं तो फिर वे आत्मा के उपासक क्यों नहीं हैं, उन्हें आत्मोपासक कहने में क्या परेशानी है ?

निश्चय में भिन्न द्रव्यों के बीच उपास्य-उपासकभाव घटित नहीं होता। आखिर एकद्रव्य दूसरे की उपासना क्यों करे ? उसमें ऐसी क्या कमी है, जो दूसरों के सामने हाथ पसारे ?

प्रत्येक आत्मा स्वयं में परिपूर्ण हैं। कहा भी है -

> ''हे प्रभु तूं सब बातें पूरा, हे प्रभु तूं सब बातें पूरा ।
> पर की आस करे क्यों मूरख, तूं काँई बातें अधूरा ॥
> रे प्रभु तूं सब बातें पूरा ॥

निश्चय से प्रत्येक आत्मा का स्वयं का द्रव्यस्वभाव स्वयं के लिए उपास्य है और स्वयं की पर्याय उपासक है। इसप्रकार निश्चय से उपास्य-उपासकभाव एक द्रव्य में ही घटित होता है। अतः अरहंत-सिद्धभगवान का सामान्य, नित्य, अभेद-अखण्ड, एक त्रिकालीध्रुव आत्मस्वभाव उपास्य है और उनके श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र गुण की निर्मलपर्यायें उपासक हैं तथा वे भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्यायें उपासना हैं। इसलिए यहाँ कहा गया है कि इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा की ही नित्य उपासना करो; और आगामी गाथा में कहेंगे कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो; क्योंकि ये तीनों निश्चय से एक आत्मा ही हैं ।

इसप्रकार आत्मा की उपासना और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन एक ही बात है । •

बिना डींग हाँके दुर्भाग्य से लड़ने की जितनी क्षमता नारियों में सहज देखी जा सकती है; पुरुषों में उसके दर्शन असम्भव नहीं, तो दुर्लभ तो हैं ही । *- आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ६१*

समयसार गाथा १६

दंसणणाणचरित्ताणि सेविदव्वाणि साहुणा णिच्चं ।
ताणि पुण जाण तिण्णि वि अप्पाणं चेव णिच्छयदो ॥ १६॥

(हरिगीत)

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा ।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहे निश्चयनय सदा ॥ १६॥

साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए और उन तीनों को निश्चय से एक आत्मा ही जानो ।

गाथा में समागत 'साधु' शब्द का अर्थ पण्डित जयचन्दजी छावड़ा एवं सहजानन्दजी वर्णी ने साधुपुरुष किया है, जो पूर्णत: प्रतीत होता है; क्योंकि इस ग्रन्थराज में मूलत: सम्यग्दर्शन की प्राप्ति का ही मार्ग वताया गया है। 'साधु' शब्द देखकर यह कहना उचित प्रतीत नहीं होता कि यह ग्रन्थराज मुनिराजों के लिए ही वनाया गया है और इसे पढ़ने का अधिकार भी उन्हीं को है; क्योंकि इसमें सर्वत्र ही अज्ञानी को समझाने का प्रयास किया गया है। मुनिराज तो ज्ञानी धर्मात्मा होते हैं, सम्यग्दृष्टि तो होते ही हैं; उन्हें सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की प्रेरणा देने, मार्ग वताने की क्या आवश्यकता है ?

यदि इसे पढ़ने का अधिकार गृहस्थों को नहीं है तो फिर पाण्डे राजमलजी, पण्डित वनारसीदासजी, पण्डित टोडरमलजी, पण्डित जयचन्दजी छावड़ा, श्रीमद् रायचन्दजी, व्र. शीतलप्रसादजी जैसे विद्वानों ने इसका अध्ययन कैसे किया ? विना अध्ययन किये इसकी टीकायें लिखना, इसके उद्धरण अपने ग्रन्थों में देना कैसे सम्भव था ? कहते हैं कि क्षुल्लक गणेशप्रसादजी वर्णी को तो आत्मख्याति कण्ठस्थ थी और सहजानन्दजी वर्णी ने तो इसकी सप्तदशांगी टीका लिखी है। ये भी तो मुनिराज नहीं थे, क्षुल्लक तो श्रावकों में ही आते हैं; क्योंकि ग्यारह प्रतिमाएं श्रावकों की ही होती हैं ।

सबसे अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि ऐसा कहनेवाले गृहस्थ विद्वान स्वयं भी इसका अध्ययन करते देखे जाते हैं। जो विद्वान श्रावकों के लिए समयसार के अध्ययन का निषेध करते हैं, उन्होंने स्वयं इसका अध्ययन किया है या नहीं ?

यदि किया है तो दूसरों को मना क्यों करते हैं और यदि नहीं किया है तो फिर बिना देखे ही मना करने को कैसे उचित माना जा सकता है ?

इस ग्रन्थ में भी अनेक स्थानों पर ऐसे उल्लेख मिलते हैं कि जिससे यह सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थराज अज्ञानियों को समझाने के लिए ही लिखा गया है। आठवीं गाथा में तो एकदम अज्ञानी शिष्य लिया है। इसीप्रकार २६-२७वीं गाथा में एवं ३८वीं गाथा में भी अत्यन्त अप्रतिबुद्ध की चर्चा की है, नयविभाग से अपरिचित शिष्य लिया है ।

२३ से २५ तक की गाथाओं की उत्थानिका में आचार्य अमृतचन्द्र तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं -

"**अथाप्रतिबुद्धवोधनाय व्यवसायः क्रियते** – अब अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) को समझाने के लिए व्यवसाय करते हैं ।"

'साधु शब्द का अर्थ सज्जनपुरुष होता है।' – इसके भी अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं । नीतिसंबंधी निम्नांकित छन्द तो प्रसिद्ध ही है -

"**विद्या विवादाय धनं मदाय शक्ति परेषां परिपीडनाय ।**
खलस्य साधो विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥

दुर्जनों की विद्या विवाद के लिए होती है, धन मद के लिए होता है और शक्ति दूसरों को पीड़ा पहुँचाने के लिए होती है; जबकि साधुपुरुषों की विद्या ज्ञान के लिए होती है, धन दान के लिए होता है और शक्ति दूसरों की रक्षा के लिए होती है ।"

उक्त छन्द के 'साधु' शब्द का प्रयोग मुनिराज के अर्थ में नहीं, अपितु सज्जनपुरुष के अर्थ में ही हुआ है; क्योंकि मुनिराजों के पास धन कहाँ होता है ? 'साधु का धन दान के लिए होता है'– इस वाक्य से ही स्पष्ट है कि यहाँ साधु शब्द का प्रयोग धनवान सज्जन गृहस्थ के लिए किया गया है ।

इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि यह ग्रन्थ अज्ञानियों के लिए ही है, मुनिराजों के लिए है ही नहीं; मुनिराजों के लिए भी इस ग्रन्थराज का स्वाध्याय अत्यन्त उपयोगी है। हम तो मात्र यह कहना चाहते हैं कि यह ग्रन्थराज अपनी-अपनी योग्यतानुसार ज्ञानी-अज्ञानी, श्रावक-साधु सभी के लिए अत्यन्त उपयोगी है; सभी इसका गहराई से मंथन करें, किसी के लिए भी इसके पढ़ने का निषेध न हो ।

यद्यपि मुख्यरूप से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के धारी मुनिराज ही होते हैं; तथापि गृहस्थ भी अपनी-अपनी भूमिकानुसार रत्नत्रय के धारी हो सकते हैं, होते भी हैं। रत्नत्रय का आरंभ चौथे गुणस्थान में होता है और पूर्णता सिद्धों में होती है। यद्यपि यह बात सत्य है, तथापि प्रेरणा तो छठवें गुणस्थान तक ही दी जा सकती है। अतः साधुपुरुषों को दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करना चाहिए - यह प्रेरणा पहले से छठवें गुणस्थान तक ही दी जाना संभव है ।

जो व्यक्ति अज्ञानदशा में है, उसे सर्वाधिक प्रेरणा की आवश्यकता है और उसके बाद क्रमशः चौथे, पाँचवें एवं छठवें गुणस्थानवालों को उत्तरोत्तर कम प्रेरणा की आवश्यकता है। जो मुनिराज घर-बाहर छोड़कर आत्मकल्याण में ही पूर्णतः संलग्न हैं; उनमें विशेष क्या कहें ? कहना तो उनसे है जो गृहस्थी के जंजाल में उलझे हैं। अतः रत्नत्रय धारण करने का उपदेश तो मुख्यतः गृहस्थों के लिए ही होता है। हाँ, यह बात अवश्य है कि पात्र सत्पुरुषों को दिया गया उपदेश ही कार्यकारी होता है; दुर्जनों को दिया गया उपदेश न केवल निरर्थक ही जाता है, कभी-कभी विपत्ति का कारण भी बन सकता है। इसीलिए तो कहा गया कि 'सीख न दीजे बानरा, उल्टा देय मिटाय'। अतः यहाँ साधुपुरुषों, सज्जनपुरुषों को ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र धारण करने की प्रेरणा दी गई है ।

प्रश्न – 'सीख न दीजे बानरा, उल्टा देय मिटाय' - इसका क्या आशय है ?

उत्तर – इस प्रश्न का उत्तर 'पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव' नामक पुस्तक में इसप्रकार दिया गया है –

"इस बात का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है कि कहीं दूसरों के सुधार के चक्कर में हम अपना ही अहित न कर बैठें। हमारी दशा भी उस चिड़िया के समान न हो जावे, जिसने बरसात में भीगते हुए बन्दर को यह सीख दी थी कि भाई तुम्हारे तो आदमी के समान हाथ-पैर हैं; तुम बरसात, धूप और सर्दी से बचने के लिए घर क्यों नहीं बनाते ? देखो, हमारे तो हाथ भी नहीं है, फिर भी हम अपना एक घोंसला बनाती हैं और उसमें शान्ति से रहती हैं, गर्मी, सर्दी और बरसात से बच जाती हैं ।

भैया मेरी मानो तो तुम भी एक घर जरूर बना लो ।

उसका सत्य और सार्थक उपदेश भी चंचल प्रकृति बंदर को सुहा नहीं रहा था। अतः वह एकदम चिड़चिड़ा कर बोला –

'तू चुप रहती है या फिर ......'

बेचारी चिड़िया सहम गई, पर साहस बटोर कर फिर बोली –

'भैया, मैं तो तुम्हारे हित की बात कह रही थी। यदि तुम्हें बुरा लगता है तो कुछ नहीं कहूंगी। मुझे तो तुम पर दया आ रही थी। इसलिए इतना कह गई। बुरा क्यों मानते हो ? जरा सोचो तो सही, इसमें क्या बुरी बात है? तुम सर्वप्रकार समर्थ हो, बना लो न अपना घर ......।'

चिड़िया अपनी बात पूरी न कर पाई थी कि बन्दर ने गुस्से में आकर उसका घोंसला छिन्न-भिन्न कर दिया, तोड़ कर फैंक दिया और बोला –

'बड़ी आई दया दिखाने वाली। अब दिखा दया, अब तो तू भी हमारे समान ही बेघर हो गई। बोल, अब बोल; अब क्या कहना है तुझे ? और भी कोई उपदेश शेष हो तो वह भी दे ले ।'

बेचारी चिड़िया चुप रह गई। करती भी क्या ? यदि हम दूसरों को सुधारने के विकल्प में अधिक उलझे तो हमारी दशा भी चिड़िया के समान ही हो सकती है। अतः समझदारी इसी में है कि हम अपने कल्याण की ही सोचें।

जो लोग सत्य समझना चाहते हों, विनयवंत हों, सरल हृदय हों, उनके अनुरोध पर जो कुछ सत्य जानते हों; अवश्य बताना, समझाना, पर जो लोग सुनना ही न चाहें, समझना ही न चाहें, उन्हें समझाने के विकल्प में समय व शक्ति व्यर्थ गंवाना ठीक नहीं है ।[१]"

१६वीं गाथा की व्याख्या आत्मख्याति में इसप्रकार की गई है –

"यह आत्मा जिस भाव से साध्य तथा साधन हो, उस भाव से ही नित्य सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है। इसप्रकार स्वयं विचार करके दूसरों को व्यवहार से समझाते हैं कि साधुपुरुष को दर्शन-ज्ञान-चारित्र, सदा सेवन करने योग्य है, सदा उपासना करने योग्य है; किन्तु परमार्थ से देखा जाय तो ये तीनों एक आत्मा ही हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं; अन्यवस्तु नहीं हैं ।

जिसप्रकार देवदत्त नामक पुरुष के ज्ञान, दर्शन और आचरण, देवदत्त के स्वभाव का उल्लघंन न करने से देवदत्त ही हैं, अन्य वस्तु नहीं। उसीप्रकार आत्मा में भी घटित करना चाहिए कि आत्मा के ज्ञान, श्रद्धान और आचरण आत्मा के स्वभाव का उल्लघंन न करने से आत्मा ही है, अन्य वस्तु नहीं ।

इसलिए यह स्वतः ही सिद्ध हो गया कि एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है, सेवन करने योग्य है ।"

जैसाकि उत्थानिका के कलश में कहा था कि **'एष ज्ञानघनो आत्मा नित्यं समुपास्यताम्'** – इस ज्ञान के घनपिण्ड आत्मा की ही नित्य उपासना करो; ठीक उसीप्रकार टीका के अन्त में भी यही निष्कर्ष निकाला है कि **'तत आत्मा एक एवोपास्य इति स्वयमेव प्रद्योतते** – एक आत्मा ही उपासना करने योग्य है' – यह स्वतः ही सिद्ध हो गया ।

साध्यभाव और साधकभाव की उपासना की चर्चा कलश की व्याख्या करते समय विस्तार से की ही जा चुकी है; अतः उस सन्दर्भ में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

---

१. पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ५१

प्रश्न – टीका में निश्चय-व्यवहार की संधि स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि स्वयं अन्तर में तो यह निश्चय करें कि एक आत्मा ही सेवन करने योग्य है, उपासना करने योग्य है; परन्तु दूसरों को समझाते समय व्यवहार से ऐसा समझावें कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सदा सेवन करना चाहिए; क्योंकि ये तीनों एक आत्मा ही हैं, आत्मा की ही पर्यायें हैं, अन्य वस्तु नहीं ।

उक्त कथन में प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि जब दर्शन-ज्ञान-चारित्र आत्मा ही हैं, तो फिर स्वयं के समझने में और दूसरों को समझाने में यह अन्तर क्यों हो ? क्या यह ऐसी बात नहीं हुई कि हाथी के दाँत खाने के और तथा दिखाने के और ?

उत्तर – नहीं, भाई ! ऐसी बात नहीं है। जबतक भेद करके न समझाया जाय, तबतक अबोधशिष्य की समझ में बात आती नहीं है। यद्यपि इस बात को आठवीं गाथा में विस्तार से स्पष्ट कर दिया गया है, तथापि यहाँ भी संक्षेप में प्रकाश डालते हैं ।

जब ज्ञानगुण आत्मसन्मुख होकर आत्मा का अनुभव करता है, तब आत्मा को जाननेरूप ज्ञान का जो निर्मल परिणमन होता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं; उसीसमय आत्मसन्मुखता की दशा में ही श्रद्धागुण पर में से एकत्व-ममत्व तोड़कर शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा में जो अपनापन स्थापित करता है, श्रद्धागुण का वह आत्माश्रित निर्मल परिणमन सम्यग्दर्शन कहलाता है; उसीसमय जो आत्मा में ही उपयोग केन्द्रित होता है, आत्मा ही ध्यान का ध्येय बनता है और चारित्रगुण में अनन्तानुबंधी कषाय के अभावरूप निर्मलता प्रगट होती है, वह सम्यक्चारित्र का अंश है ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र की यह प्रकटता ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना कही जाती है, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन कहा जाता है और यही आत्मा की उपासना है, आत्मा का सेवन है। यदि अज्ञानी को यही कहते रहें कि आत्मा का सेवन करो, आत्मा की उपासना करो, तो उसकी समझ में कुछ भी न आये; अतः उसे व्यवहार से समझाते हैं कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र की

उपासना करो, दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो। समझाने के लिए व्यवहार का आश्रय लेना ही पड़ता है । अतः यह ठीक ही कहा गया है - स्वयं तो यह निश्चय करे कि शुद्धनय का विषयभूत एक भगवान आत्मा ही उपास्य है; पर शिष्यों को व्यवहार से यह समझावे कि दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करो ।

"अभेद सो निश्चय और भेद सो व्यवहार" अथवा "एक सो निश्चय और अनेक सो व्यवहार" - निश्चय-व्यवहार की उक्त परिभाषाओं के अनुसार यहाँ अभेद एक आत्मा के सेवन को निश्चय और उसके भेदरूप दर्शन-ज्ञान-चारित्र के सेवन को व्यवहार कहा गया है ।

ध्यान रहे, अभेद को एक और अमेचक भी कहा जाता है और भेद को अनेक और मेचक भी कहा जाता है। इसप्रकार अभेद, अमेचक, एकाकार आत्मा की आराधना निश्चय आराधना है और भेद, मेचक और अनेकाकार आत्मा की आराधना व्यवहार आराधना है ।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र - ये तीन हैं, अतः अनेक हैं, अनेकाकार हैं, मेचक हैं, भेद हैं; अतः इनकी उपासना को व्यवहारोपासना कहा जाता है। शुद्धनय का विषयभूत भगवान आत्मा एक है, एकाकार है, अभेद है, अमेचक है; अतः उसकी उपासना को निश्चयोपासना कहा गया है ।

यहाँ अनेकाकार होना, मेचक होना ही अशुद्धि है, मलिनता है और एकाकार होना, अमेचक होना ही शुद्धि है, निर्मलता है। अतः एक आत्मा की उपासना शुद्धनय है और दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उपासना अशुद्धनय है। यहाँ इससे अधिक और कुछ नहीं है ।

प्रश्न – जब आत्मा की आराधना और दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना एक ही बात है तो फिर दोनों में से एक को शुद्ध कहना और दूसरे को अशुद्ध कहना कहाँ तक उचित है ?

उत्तर – अरे भाई, इसमें कुछ भी अनुचित नहीं हैं; क्योंकि यहाँ अभेद को शुद्धि और भेद को अशुद्धि कहना ही अभीष्ट है ।

प्रश्न – ऐसा क्यों है ?

उत्तर – इसलिए कि भेद के लक्ष्य से विकल्पों की उत्पत्ति होती है और अभेद के लक्ष्य से विकल्पों का शमन होकर निर्विकल्प दशा उत्पन्न होती है। आत्मा का अनुभव निर्विकल्प दशा में ही होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की उत्पत्ति भी निर्विकल्प दशा में ही होती है। हाँ, इनकी सत्ता विकल्पात्मक दशा में भी रह सकती है, पर उत्पत्ति विकल्पात्मक दशा में नहीं हो सकती है ।

देखें उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी क्या कहते हैं –

"अभेदकथन से व्यवहारीजन समझ नहीं सकते, इससे उन्हें दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद करके व्यवहार से समझाया है कि साधुपुरुष दर्शन-ज्ञान-चारित्र का सेवन करें। भगवान आत्मा निश्चय है तो उसकी अपेक्षा दर्शन-ज्ञान-चारित्र – इसप्रकार तीन का सेवन करना व्यवहार है, मेचकपन है, मलिनपन है, अनेकपन है। दर्शनस्वभाव, ज्ञानस्वभाव, चारित्रस्वभाव – इत्यादि अनेक स्वभाव हो जाते हैं; इसकारण यह व्यवहार है ।[१]

ज्ञायकस्वभाव एकरूप है, उस एक का सेवन करने से पर्यायें तीन हो जाती हैं, अनेकस्वभाव स्वरूप हो जाती हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र – तीनों का भिन्न-भिन्न स्वभाव है। दर्शन का प्रतीतिरूप स्वभाव, ज्ञान का जाननेरूप स्वभाव और चारित्र का शान्ति व वीतरागतारूप स्वभाव है। एकरूप ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा की सेवा करने से अनेकरूप स्वभावपर्यायें उत्पन्न होती हैं। इस अनेकरूप स्वभाव पर्यायों की सेवा करो – यह तो व्यवहार से उपदेश दिया है। इससे सिद्ध तो यही होता है कि दृष्टि में सेवन करने योग्य तो एक आत्मा ही है ।[२]"

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव चार कलशों के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि प्रमाण और नयों से आत्मा की उक्त सन्दर्भ में क्या स्थिति है और हमें क्या करना चाहिए ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ २७६

२. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ २८०

उक्त चारों कलश इसप्रकार हैं -

(अनुष्टुभ्)

दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रित्वादेकत्वतः स्वयम् ।
मेचकोऽमेचकश्चापि सममात्मा प्रमाणतः ॥ १६ ॥
दर्शन-ज्ञान-चारित्रैस्त्रिभिः परिणतत्त्वतः ।
एकोऽपि त्रिस्वभावत्वाद् व्यवहारेण मेचकः ॥ १७ ॥
परमार्थेन तु व्यक्तज्ञातृत्वज्योतिषैककः ।
सर्वभावांतरध्वंसिस्वभावत्वादमेचकः ॥ १८ ॥
आत्मनश्चिन्तयैवालं मेचकामेचकत्वयोः ।
दर्शन-ज्ञान-चारित्रैः साध्यसिद्धि र्न चान्यथा ॥ १९ ॥

(हरिगीत)

मेचक कहा है आतमा दृगज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमात्मा है अमेचक बस स्वयं से ॥
परमाण से मेचक अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥ १६ ॥

आत्मा है एक यद्यपि किन्तु नय व्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञान दर्शन चरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
इसे जाने बिन जगतजन न लगे सन्मार्ग में ॥ १७ ॥

आत्मा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
है शुद्ध एकाकार परसे भिन्न है परमार्थ से ॥ १८ ॥

मेचक-अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
बस करो अब इन विकल्पों से तुम्हें इन से साध्य क्या ॥
हो साध्यसिद्धि एक बस सद् ज्ञान दर्शन चरण से ।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचें संसरण से ॥ १९ ॥

यदि प्रमाण दृष्टि से देखें तो यह आत्मा एक ही साथ अनेक अवस्थारूप मेचक भी है और एक अवस्थारूप अमेचक भी है; क्योंकि इस आत्मा को

दर्शन-ज्ञान-चारित्र से तीनपना - अनेकपना प्राप्त है और यह स्वयं से एक है ।

यद्यपि यह आत्मा एक है, तथापि व्यवहारदृष्टि से देखा जाये तो त्रिस्वभावरूपता के कारण अनेक है, अनेकाकार है, मेचक है; क्योंकि वह दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन तीन भावोंरूप परिणमन करता है।

यद्यपि व्यवहारनय से आत्मा अनेकरूप कहा गया है, तथापि परमार्थ से विचार करें तो - शुद्धनिश्चयनय से देखें तो प्रगटज्ञायक-ज्योतिमात्र से आत्मा एक ही है, एकस्वरूप ही है; क्योंकि सर्व अन्यद्रव्यों के स्वभाव तथा उनके निमित्त से होनेवाले अपने विभाव भावों को दूर करने का उसका स्वभाव है। इसलिए वह परमार्थ से शुद्ध है, एकाकार है, अमेचक है ।

यह आत्मा मेचक है, भेदरूप अनेकाकार है, मलिन है; अथवा अमेचक है, अभेदरूप एकाकार है, शुद्ध है, निर्मल है, - ऐसी चिन्ता से बस हो, इसप्रकार के अधिक विकल्पों से कोई लाभ नहीं है; क्योंकि साध्य आत्मा की सिद्धि तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र - इन भावों से ही होती है, अन्यप्रकार से नहीं। - यह नियम है ।

उक्त कलशों में एकाकार-अनेकाकार, अमेचक-मेचक, निर्मल-मलिन, अभेद-भेद के सन्दर्भ में निश्चय, व्यवहार और प्रमाण का पक्ष प्रस्तुत करने के उपरान्त यह बताया गया है कि यह सब जान लेने के बाद इन्हीं विकल्पों में उलझे रहने से कोई लाभ नहीं है; क्योंकि साध्य की सिद्धि - अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति इन विकल्पों से प्राप्त होनेवाली नहीं है। साध्य की सिद्धि तो निश्चयनय (परमशुद्धनिश्चयनय) के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से ही होनेवाली है, अथवा इसी आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले निश्चय सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से ही होनेवाली है ।

उक्त भाव को नाटक समयसार में कविवर पण्डित बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं -

(कवित्त तेईसा)

"दरसन-ग्यान-चरन त्रिगुनातम समलरूप कहिये विवहार ।
निहचै-दृष्टि एकरस चेतन भेदरहित अविचल अविकार ॥
सम्यकदसा प्रमान उभैनय निर्मल समल एक ही बार ।
यौं समकाल जीव की परिणति कहैं जिनेन्द्र गहै गनधार ॥

(दोहा)

एकरूप आतम दरब ग्यान चरन दृग तीन ।
भेदभाव परिनाम सौं विवहारै सु मलीन ॥
जदपि समल विवहार सौं पर्ययसकति अनेक ।
तदपि नियतनय देखिये सुद्ध निरंजन एक ॥
एक देखिए जानिये रमि रहिये इक ठौर ।
समल विमल न विचारिये यहै सिद्धि नहिं और ॥[१]"

देखो, गंभीरता से विचारने की बात यह है कि यहाँ दर्शन, ज्ञान और चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा है, अनेकाकार होने से मेचक कहा जा रहा है। जहाँ शुद्धनय के विषय में दर्शन-ज्ञान-चारित्र के भेद को भी मलिनता कहा जा रहा हो, वहाँ रागादिक मलिनता की तो बात ही क्या करें ?

इस विषय को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"यहाँ पर शरीर-मन-वाणी और विकल्पों की तो बात ही नहीं है। यहाँ तो उस शुद्धता की बात है, जिसे छठवीं गाथा में प्रमत्त-अप्रमत्त पर्यायों रहित एक ज्ञायकभावरूप कहा है। उस शुद्ध चैतन्यघन आत्मा को देखना निश्चय, उसे ही तीन रूप परिणमित होते हुए जानना व्यवहार और दोनों को एक साथ जानना प्रमाण है ।[२]

आत्मा में रहनेवाले अनंतगुण, उन अनंतगुणस्वरूप भगवान आत्मा एकरूप है और उसे दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप तीन परिणाम से देखना व्यवहार

१. नाटक समयसार, जीवद्वार छन्द १६ से १९
२. प्रवचनरत्नाकार भाग १ (हिन्दी) पृष्ठ २८३

है। त्रिकाली एकरूप देखें तो निश्चय व तीनरूप देखें तो व्यवहार है। अभेद से देखें तो अमेचक – निर्मल है और भेद से देखें तो मेचक – मलिन है। एकरूप देखें तो एकाकार है और तीनरूप देखें तो अनेकाकार है। आत्मा को गुण-गुणी भेद से देखें तो अनेकाकार है व्यवहार है, मलिन है, आश्रय करने लायक नहीं है। तीन प्रकार के दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणाम भी आश्रय करने लायक नहीं हैं ।[१]

आत्मा को जो अमेचक कहा है, वह निर्मलपना, एकपना, शुद्धपना आदि की अपेक्षा कहा है। यहाँ विकल्प रहित निर्मलता की बात की है और पर्याय में जो निश्चय मोक्षमार्ग का तीनपने परिणमन – उनमें एक प्रतीतिरूपभाव, एक जाननेरूपभाव तथा स्थिरतारूपभाव – ऐसे तीन स्वभाव भिन्न कहे हैं। तीन हैं, अनेकाकार हैं – इसकारण अशुद्ध कहे गये हैं। तीनपने का लक्ष्य करना अशुद्धता है और त्रिकाली एकाकार का लक्ष्य करना शुद्धता है ।[२]

साध्य यानि मोक्षपर्याय की प्राप्ति तो दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है। तीन भेद करके तो समझाया गया है, आश्रय तो एक आत्मा का ही करना है। ...... यह तो व्यवहारी लोगों को पर्याय के भेद से समझाया है; क्योंकि जगतजन भेद के बिना समझ नहीं सकते। सेवा तीन की नहीं, बल्कि सेवा तो अखण्ड एकरूप ज्ञायक की ही करनी है। 'दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही सिद्धि है' – ऐसा कहकर अन्य द्रव्य का निषेध किया है। स्वद्रव्य का ही सहारा है, अन्यद्रव्य का सहारा नहीं है। परद्रव्यरूप देव-शास्त्र-गुरु या उनकी भक्ति के विकल्प का भी मोक्षमार्ग में सहारा नहीं है – यह बात भी आ गई ।[३]"

उक्त कथन से सम्पूर्ण वस्तुस्थिति स्पष्ट हो गई है कि साध्य की सिद्धि तो एकमात्र शुद्धनय के विषयभूत भगवान आत्मा के आश्रय से उत्पन्न होनेवाले ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप परिणमन से ही होनेवाली है; अन्य देहादिक की

---

१. प्रवचनरत्नाकार भाग १ (हिन्दी), पृष्ठ २८३
२. वही, पृष्ठ २८९
३. वही, पृष्ठ २९०-२९१

क्रिया अथवा शुभरागरूप परिणमन से साध्य की सिद्धि तीन काल में भी होनेवाली नहीं है। अत: जिन लोगों को आत्मा का कल्याण करना हो, अपने को भवसमुद्र में नहीं डुबाना हो; अतीन्द्रिय-आनन्द की प्राप्ति करनी हो, सर्वज्ञता प्राप्त करनी हो, वे अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा को जाने, पहिचाने और उसी में जम जाय, रम जाय; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है ।

यहाँ कलशटीका की एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सर्वत्र दर्शन का अर्थ श्रद्धान, प्रतीति, अपनापन, एकत्व, ममत्व किया जाता है और ज्ञान का अर्थ जानना तथा चारित्र का अर्थ रमना, जमना, वीतरागतारूप परिणमन करना, शान्त रहना किया जाता है; वहाँ कलशटीका के इस प्रकरण में निम्नानुसार अर्थ किया है -

"सामान्यरूप से अर्थग्राहक शक्ति का नाम दर्शन है, विशेषरूप से अर्थग्राहक शक्ति का नाम ज्ञान है और शुद्धत्वशक्ति का नाम चारित्र है ।"

उक्त कथन में 'दर्शन' को दर्शनगुण की पर्याय के रूप में ग्रहण किया गया है, जबकि अन्य सब जगह श्रद्धागुण की पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाता है ।

प्रश्न - क्या यह ठीक है ?

उत्तर - इसमें ठीक या गलत होने की क्या बात है ? जब शब्दों के विभिन्न अर्थ होते हैं तो विद्वानों द्वारा उनके विभिन्न अर्थ किये जाने पर क्या आपत्ति हो सकती है ? हाँ, यह बात अवश्य है कि वे अर्थ सिद्धान्तानुसार और प्रसंगानुकूल होना चाहिए ।

शरीर का घाव तो समय पाकर भर जाता है, पर मन के घाव का भरना सहज नहीं होता । - *आप कुछ भी कहो, पृष्ठ ५८*

समयसार गाथा १७-१८

अब आगामी १७-१८वीं गाथाओं में उसी बात को उदाहरण से समझाकर स्पष्ट करते हैं, जिसकी चर्चा १६वीं गाथा में की गई है ।

जह णाम को वि पुरिसो रायाणं जाणिऊण सद्दहदि ।
तो तं अणुचरदि पुणो अत्थत्थीओ पयत्तेण ॥१७॥
एवं हि जीवराया णादव्वो तह य सद्दहेदव्वो ।
अणुचरिदव्वो य पुणो सो चेव दु मोक्खकामेण ॥१८॥

(हरिगीत)

'यह नृपति है' - यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें ।
अनुचरण उसका ही करें अति प्रीति से सेवा करें ॥१७॥
यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिये ।
अति प्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहचानिए ॥१८॥

जिसप्रकार कोई धन का अर्थी पुरुष राजा को जानकर उसकी श्रद्धा करता है और फिर उसका प्रयत्नपूर्वक अनुचरण करता है, उसकी लगन से सेवा करता है; ठीक उसीप्रकार मोक्ष के इच्छुक पुरुषों को जीवरूपी राजा को जानना चाहिए और फिर उसका श्रद्धान करना चाहिए, उसके बाद उसी का अनुचरण करना चाहिए; अर्थात् अनुभव के द्वारा उसमें तन्मय हो जाना चाहिए ।

यद्यपि गाथाओं का अर्थ एकदम सहज और सरल है; तथापि पंडित जयचन्दजी छाबड़ा ने अपने भावार्थ में और भी सरल कर दिया है; जो इसप्रकार है -

"'साध्य आत्मा की सिद्धि दर्शन-ज्ञान-चारित्र से ही है, अन्यप्रकार से नहीं; क्योंकि पहले तो आत्मा को जाने कि यह जो जाननेवाला अनुभव में आता है, सो मैं ही हूँ। इसके बाद उसका प्रतीतिरूप श्रद्धान होता है;

क्योंकि जाने बिना किसका श्रद्धान करेगा ? तत्पश्चात् समस्त अन्यभावों से भेद करके अपने में स्थिर हो – इसप्रकार सिद्धि होती है। किन्तु यदि जाने ही नहीं तो श्रद्धान भी नहीं हो सकता और ऐसी स्थिति में स्थिरता कहाँ से करेगा ? इसलिए यह निश्चय है कि अन्यप्रकार से सिद्धि नहीं होती ।''

आचार्य जयसेन इस गाथा की टीका लिखते समय इस बात पर विशेष बल देते हैं कि जिसप्रकार धनार्थी छत्रचामरादि राज्यचिन्हों से राजा को जानकर श्रद्धा करता है और सेवा करता है; उसीप्रकार जीवराजा को स्वसंवेदनज्ञान से जानना चाहिए और निर्विकल्पसमाधि द्वारा उसका अनुभव करना चाहिए; शुभाशुभ विकल्प मात्र से कुछ होनेवाला नहीं है। तात्पर्य यह है कि वे आत्मानुभूति पर विशेष बल देते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''जिसप्रकार धनार्थीपुरुष पहले तो राजा को प्रयत्नपूर्वक जानता है, फिर उसका श्रद्धान करता है और फिर उसी का अनुचरण करता है, सेवा करता है, उसकी आज्ञा में रहता है, उसे हर तरह से प्रसन्न रखता है; उसीप्रकार मोक्षार्थीपुरुष को पहले तो आत्मा को जानना चाहिए, फिर उसी का श्रद्धान करना चाहिए; और फिर उसी का अनुचरण करना चाहिये, अनुभव के द्वारा उसी में लीन हो जाना चाहिए; क्योंकि साध्य की सिद्धि की उपपत्ति इसीप्रकार संभव है, अन्यप्रकार से नहीं ।

अब इस बात को विशेष स्पष्ट करते हैं – जब आत्मा को, अनुभव में आने पर अनेक पर्यायरूप भेदभावों के साथ मिश्रितता होने पर भी सर्वप्रकार से भेदविज्ञान में प्रवीणता से 'जो यह अनुभूति है, सो ही मैं हूँ' – ऐसे आत्मज्ञान से प्राप्त होता हुआ इस आत्मा को जैसा जाना है, वैसा ही है – इसप्रकार की प्रतीति जिसका लक्षण है – ऐसा श्रद्धान उदित होता है; तब समस्त अन्यभावों का भेद होने से निशंक स्थिर होने में समर्थ होने

से आत्मा का आचरण उदय होता हुआ आत्मा को साधता है। ऐसे साध्य आत्मा की सिद्धि की इसीप्रकार उपपत्ति है ।

परन्तु जब ऐसा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं ही आने पर भी अनादिबंध के वश परद्रव्यों के साथ एकत्व के निश्चय से मूढ़ - अज्ञानीजन को 'जो यह अनुभूति है, वही में हूँ - ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता और उसके अभाव से, अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान है, इसलिए श्रद्धान भी उदित नहीं होता; समस्त अन्यभावों के भेद से आत्मा में निशंक स्थिर होने की असमर्थता के कारण आत्मा का आचरण उदित न होने से आत्मा को साध नहीं सकता। इसप्रकार साध्य आत्मा की सिद्धि की अन्यथा अनुपपत्ति है ।''

आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त कथन का पहला पैरा तो एकदम गाथा के अनुसार ही है; किन्तु दूसरे और तीसरे पैरे में वे साध्य की सिद्धि की उपपत्ति व अनुपपत्ति किसप्रकार होती है; - यह बात स्पष्ट करते हैं; जो गंभीरता से विचार करने योग्य है, गहराई से समझने योग्य है ।

यह भगवान आत्मा स्वभाव से ही स्वपरप्रकाशक है, सभी पदार्थों को जानना इसका सहज स्वभाव है। अतः सदाकाल ही इसके स्वपरप्रकाशक ज्ञान का उदय रहता है और इसके ज्ञान में अपनी पर्यायगत योग्यतानुसार स्वपरपदार्थ प्रतिभासित होते रहते हैं। अपनी आत्मा में उत्पन्न होनेवाले पुण्य-पापरूप शुभाशुभ भाव भी ज्ञात होते रहते हैं और जानने-देखनेवाला अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी ज्ञात होता रहता है ।

यद्यपि ये सभी भाव मिश्रितरूप से ही ज्ञात होते हैं, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी पर्यायरूप अनेक भेदभावों के साथ मिश्रित ही दिखाई देता है; तथापि जब कोई आत्मा भेदज्ञान की प्रवीणता से इन सबमें 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' - यह जान लेता है और उसे यह प्रतीति भी आ जाती है, श्रद्धान भी हो जाता है; तब भगवान आत्मा को अन्यभावों से भिन्न

जान लिए जान से, उसमें निशंक स्थिर हो जानेरूप आचरण का उदय होता है। इसप्रकार यह आत्मा अपने को साधता है, अपनी साधना करता है ।

आत्मा की साधना की यही विधि है और साध्य की सिद्धि की उपपत्ति भी इसीप्रकार होती है ।

तात्पर्य यह है कि परपदार्थों के साथ-साथ अपना आत्मा भी अपनी विकारी-अविकारी पर्यायों सहित प्रतिसमय हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनता रहता है, जैसाकि टीका में स्पष्टरूप से उल्लेख है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सबके अनुभव में सदा स्वयं आ रहा है ।

प्रश्न – यदि यह बात सत्य है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा ही आबाल-गोपाल के अनुभव में आ रहा है तो फिर सभी को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र भी होना चाहिए; क्योंकि आत्मानुभवी सम्यग्दृष्टि सम्यग्ज्ञानी होते ही है और उनके अनन्तानुबंधी कषाय के अभाव में होनेवाली चारित्र गुण की निर्मलता भी रहती ही है ।

उत्तर – इसी प्रश्न का उत्तर टीका के तीसरे पैरे में दिया गया है। यद्यपि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा आबाल-गोपाल सभी के अनुभव में सदा आ रहा है, तथापि परपदार्थों में अनादिकालीन एकत्वबुद्धि के कारण अज्ञानीजनों को 'जो यह अनुभूति है, वही मैं हूँ' – ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं होता। इस आत्मज्ञान के अभाव में 'अज्ञात का श्रद्धान गधे के सींग के समान है' – इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मश्रद्धान भी उदित नहीं होता और इसीकारण आत्माचरण भी नहीं होता है। इसप्रकार उन्हें आत्मोपलब्धि नहीं हो पाती है ।

ध्यान रहे यहाँ 'अनुभूति' शब्द का प्रयोग निर्मलपर्याय के अर्थ में न होकर त्रिकाली-ध्रुव के अर्थ में हुआ है। अनुभूतिस्वरूप आत्मा माने त्रिकालीध्रुव ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा। यद्यपि अन्य पदार्थों एवं अपने विकारी-अविकारी भावों के साथ यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा भी सभी ज्ञानी-अज्ञानीजनों को सदा अनुभव में आता रहता है; तथापि

भेदज्ञान के अभाव में अज्ञानीजन उसे पहिचान नहीं पाते, जान नहीं पाते; इसकारण उसमें जम भी नहीं पाते, रम भी नहीं पाते; किन्तु ज्ञानीजन भेदज्ञान के बल से उसे परपदार्थों एवं अपने विकारी-अविकारी भावों से भिन्न जानकर, भिन्न मानकर, अपनी-अपनी योग्यतानुसार उसी में जम जाते हैं, रम जाते हैं ।

इसप्रकार अज्ञानियों को आत्मा अनुपलब्ध रहता है और भेदज्ञानियों को सदा उपलब्ध रहता है। यही आत्मा की उपलब्धि और अनुपलब्धि का रहस्य है ।

प्रश्न – यहाँ आबाल-गोपाल शब्द का क्या भाव है ?

उत्तर – 'अज्ञानी-ज्ञानी सभी लोग' - यही अर्थ है आबाल-गोपाल का। बाल माने बालक और गोपाल माने भगवान। इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ बालक से भगवान तक सभी लोग। बाल माने अबोध बालक और गोपाल माने समझदार वृद्ध। इसप्रकार आबाल-गोपाल का अर्थ हुआ अवोध बालक से लेकर समझदार वृद्धों तक सभी लोग। बाल माने बालक और गोपाल माने ग्वाले। दुनिया में बालक और ग्वाला - दोनों को ही अल्पबुद्धि माना जाता है ।

इसप्रकार पूरे वाक्य का भाव यह है यह अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा अबोध बालक और समझदार वृद्ध, ज्ञानी-अज्ञानी सामान्यजन और भगवान सभी के अनुभव में सदा आ रहा है ।

प्रश्न – 'अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सबके अनुभव में सदा आ रहा है' - इस बात को स्वीकार कैसे किया जावे ?

उत्तर – इसी बात को स्पष्ट करते हुए आचार्य माणिक्यनन्दि परीक्षामुख सूत्र में लिखते हैं -

"घटमहमात्मना वेद्मि । कर्मवत् कर्तृकरणक्रियाप्रतीतेः ।[१]

---

१. परीक्षामुख अध्याय १, सूत्र ८९

मैं (आत्मा) घड़े को स्वयं (ज्ञान) से जानता हूँ। घड़ेरूप कर्म के समान कर्ता आत्मा, करण ज्ञान एवं जानना क्रिया भी जानने में आती है ।"

उक्त सूत्रों में यह बात स्पष्ट की गई है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ को जानता है तो वह उस समय अकेले उस पदार्थ को ही नहीं जानता, अपितु यह भी जानता है कि मैं जान रहा हूँ, अपने ज्ञान से जान रहा हूँ और मात्र जान रहा हूँ, इसे बना नहीं रहा हूँ। इसतरह ज्ञेयरूप कर्म के साथ ज्ञातारूप कर्त्ता, ज्ञानरूप करण एवं जाननेरूप क्रिया भी जानने में आती है। जानने की प्रक्रिया का ही यह स्वरूप है; अतः जहाँ जानने का कार्य होगा, वहाँ ज्ञेय के साथ ज्ञाता, ज्ञान और जानना क्रिया भी जानने में अवश्य आवेगी ।

हाँ, यह बात अवश्य है कि ज्ञेय ज्ञेयरूप से ज्ञात होता है, ज्ञाता ज्ञातारूप से ज्ञात होता है, ज्ञान ज्ञानरूप से ज्ञात होता है और जानना जाननेरूप से ज्ञात होता है। इसलिए छठवीं गाथा में कहा था कि अनुभव में आत्मा ज्ञायकरूप में ज्ञात हुआ। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय के अभेद का भी यही आशय है कि अनुभव में ज्ञाता भी आत्मा, ज्ञेय भी आत्मा, ज्ञान भी आत्मा; जो कुछ है, वह सब आत्मा ही है ।

यहाँ तो यह बताया जा रहा है कि ज्ञान में तो आत्मा भी ज्ञात हो रहा है, आत्मा में उत्पन्न होने वाले विकारी-अविकारी भाव भी ज्ञात हो रहे हैं, पुण्य-पाप भी ज्ञात हो रहे हैं और परपदार्थ भी ज्ञात हो रहे हैं। इन सब में जब अपनेरूप में अकेला अनुभूति स्वरूप आत्मा ही दिखाई देता है, तब साध्य की सिद्धि होती है और उसके अतिरिक्त कोई भी अपनेरूप में ज्ञात हो तो साध्य की सिद्धि की अनुपपत्ति होती है। समस्या पर को जानने या नहीं जानने की नहीं है, विकारी-अविकारी भावों को जानने या नहीं जानने की भी नहीं है; अपितु उन्हें निजरूप जानने की है; क्योंकि उनमें एकत्व-ममत्व से मिथ्यात्व होता है, मात्र जानने से नहीं; क्योंकि निज को निजरूप और पर को पररूप जानने में कोई हानि नहीं, लाभ ही लाभ है ।

यहाँ इस बात पर विशेष ध्यान आकर्षित किया जा रहा है कि बात तो मात्र इतनी-सी ही है कि तेरी आत्मा की सिद्धि मात्र इसलिए रुकी हुई है कि अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा निरन्तर जानने में आते हुए भी तू उसे निज नहीं जानता, उसमें अपनापन स्थापित नहीं करता और उसीकाल में जानने में आते हुए रागादि में अपनापन करता है, परपदार्थों में अपनापन करता है। तेरी इतनी-सी भूल के कारण तू संसार में भटक रहा है। तू अपनी यह भूल सुधार ले तो कल्याण होने में देर नहीं ।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी कहते हैं -

"ज्ञायक, ज्ञायक, ज्ञायक - यह जो जाननक्रिया द्वारा जाना जाता है; वह मैं हूँ - ऐसे अन्तर में नहीं जाकर जानने में आते हुए राग के वश होकर 'वह राग ही मैं हूँ' - इसप्रकार अज्ञानी मानता है; इसकारण आत्मज्ञान उदित नहीं होता। दर्शनमोह के कारण आत्मज्ञान उदित नहीं होता - ऐसा नहीं कहा। कोई माने कि कर्म से होता है - यह बात झूठी है। तीनकाल में भी कर्म से आत्मा का कछ भी सुधार-बिगाड़ नहीं होता। कर्म तो परद्रव्य है। परद्रव्य से स्वद्रव्य में 'कुछ होता है' - यह बात सर्वथा मिथ्या है ।[१]"

अरे भाई, राई की ओट में पहाड़ छिप गया है। आँख की पुतली के सामने से राई हटी नहीं कि पूरा पहाड़ दिखाई देने लगेगा; क्योंकि पहाड़ तो एकदम सामने ही पड़ा है न ? अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा सदा अन्तर में ही विराजमान है, निरन्तर अनुभव में भी आ रहा है; बस कमी तो इतनी ही है कि ऐसा आत्मज्ञान उदित नहीं हो रहा है कि यह जो ज्ञायकरूप से ज्ञात हो रहा है, वही मैं हूँ। ऐसा ज्ञान उदित होते ही, सहज ही उसी में अपनापन स्थापित हो जावेगा और तदनुरूप आचरण भी उदित हो जायेगा। साध्य की सिद्धि का यही एकमात्र उपाय है ।

अब आचार्यदेव कलशरूप काव्य लिखते हैं। ये सत्तरह-अठारहवीं गाथाएँ भी ऐसी गाथाएँ हैं कि जिनकी टीका के बीच में ही आचार्य अमृतचन्द्र ने कलशरूप काव्य लिखा है; जो इसप्रकार है -

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १ पृष्ठ ३०३

(मालिनि)

कथमपि समुपात्तत्रित्वमप्येकताया
अपतितमिदमात्मज्योतिरुद्गच्छदच्छम् ।
सततमनुभवामोऽनंतचैतन्यचिन्हं
न खलु न खलु यस्मादन्यथा साध्यसिद्धिः ॥ २० ॥

(हरिगीत)

त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ।
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ॥ २० ॥

यद्यपि जिसने किसी भी प्रकारसे तीनपने को अंगीकार किया है, तथापि जो एकत्व से च्युत नहीं हुई है, निर्मलता से उदय को प्राप्त है और अनन्तचैतन्य है चिन्ह जिसका; ऐसी आत्मज्योति का हम निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि उनके अनुभव के बिना साध्य की सिद्धि नहीं होती । – ऐसा आचार्य देव कह रहे हैं ।

देखो, पिछले कलशों में कहा था दर्शन-ज्ञान-चारित्र के बिना साध्यसिद्धि नहीं होती और यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मानुभव के विना साध्यसिद्धि नहीं होती। भाई, एक ही बात है, भेद से कहें तो दर्शन, ज्ञान और चारित्र के विना साध्यसिद्धि नहीं होती – ऐसा कहा जायेगा और अभेद से कहें तो एक आत्मा के अनुभव विना साध्यसिद्धि नहीं होती – ऐसा कहा जायेगा। इन दोनों कथनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है, मात्र विविक्षाभेद है; क्योंकि वही आत्मज्योति तीनपने को प्राप्त हुई है और उसी ने एकत्व को नहीं छोड़ा है; पर है तो वह आत्मज्योति ही, आत्मा ही ।

तात्पर्य यह है कि सुखी होने का एकमात्र उपाय आत्मसाधना ही है।

यहाँ आचार्यदेव ने उत्तमपुरुष में बात की है कि ऐसे भगवान आत्मा का हम निरन्तर अनुभव करते हैं; क्योंकि साध्य की सिद्धि का कोई दूसरा

उपाय नहीं है। उत्तमपुरुष में बात करके भी आचार्यदेव प्रेरणा दे रहे हैं कि जो व्यक्ति साध्य की सिद्धि चाहते हैं, दु:खों से मुक्ति चाहते हैं, अतीन्द्रिय आनन्द की प्राप्ति करना चाहते हैं; वे निजभगवान आत्मा का निरन्तर अनुभव करें ।

जब कोई सुयोग्य पिता अपने पुत्र से बार-बार कहता है कि जब मैं तुम्हारी उम्र का था, तब प्रात: ५ बजे उठता था और ५ किलोमीटर घूमने जाया करता था; तब उसका आशय अपनी दिनचर्या बताना नहीं होता है, अपनी प्रशंसा करना भी नहीं होता है; अपितु पुत्र को प्रेरणा देना होता है कि यह उम्र प्रात: ९ बजे तक सोते रहने की नहीं है ।

इसीप्रकार यहाँ आचार्यदेव हमें प्रेरणा दे रहे हैं कि यदि तुम सुख-शान्ति चाहते हो तो अपने आत्मा को जानों, पहिचानों, उसमें ही जम जावो, रम जावो; सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है। यह मानव जीवन यों ही विषयों में बर्बाद कर देने के लिए नहीं मिला है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मानुभव की पावन प्रेरणा से परिपूर्ण यह कलश लिखने के बाद जो टीका लिखी है, उसका भाव इसप्रकार है -

''प्रश्न – आत्मा तो ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है; अत: वह ज्ञान की उपासना निरन्तर करता ही है। फिर भी उसे ज्ञान की उपासना करने की प्रेरणा क्यों दी जाती है ?

उत्तर – ऐसी बात नहीं है। यद्यपि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यस्वरूप है; तथापि वह एक क्षणमात्र भी ज्ञान की उपासना नही करता; क्योंकि ज्ञान की उत्पत्ति या तो स्वयंबुद्धत्व से होती है या फिर बोधितबुद्धत्व से होती है। तात्पर्य यह है कि या तो काललब्धि आने पर स्वयं ही जान ले या फिर कोई उपदेश देनेवाला मिल जावे, तब जाने ।

प्रश्न – तो क्या आत्मा तबतक अज्ञानी ही रहता है, जबतक कि वह या तो स्वयं नहीं जान लेता या फिर किसी द्वारा समझाने पर नहीं जान लेता ?

उत्तर – हाँ, बात तो ऐसी ही है; क्योंकि उसे अनादि से सदा अप्रतिबुद्धत्व ही रहा है, अज्ञानदशा ही रही है ।"

उक्त कथन में उत्पत्ति की अपेक्षा सम्यग्दर्शन के निसर्गज और अधिगमज नामक जो दो भेद हैं, उनकी ओर संकेत किया गया है। जिसप्रकार सोया हुआ पुरुष या तो स्वयं जाग जाय या फिर कोई जगाये, तब जागे। इसीप्रकार यह आत्मा या तो स्वयं जागृत हो और अपने आत्मा को जान ले या फिर कोई गुरु उपदेश देकर जागृत करे, आत्मा का स्वरूप समझावे, आत्मानुभव करने की प्रेरणा करे; तब जागृत हो और पुरुषार्थ करके आत्मा को जान ले, अनुभूति प्राप्त कर ले ।

प्रश्न – तो क्या ऐसा होता है कि कोई तो स्वयं जान ले और कोई गुरुदेव के समझाने पर जाने ?

उत्तर – यह कथन मुख्यता और गौणता की दृष्टि से किया गया कथन है। वैसे तो नियम ऐसा ही है कि देशनालब्धिपूर्वक ही करणलब्धि होती है और सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति करणलब्धिपूर्वक ही होती। अतः उपदेश भी आवश्यक है और स्वयं का पुरुषार्थ भी आवश्यक है; फिर भी कभी-कभी ऐसा होता है कि किसी जीव को देशनालब्धि पूर्वभव में या बहुत पहले प्राप्त हुई हो और उस समय उसने पुरुषार्थ न कर पाया हो; इसकारण सम्यग्दर्शन की प्राप्ति भी उसे न हो पाई हो; बाद में बहुतकाल बाद या अगले भव में वह पुरुषार्थ करे और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति कर ले तो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहेंगे। तत्काल देशना का अभाव होने से उसे निसर्गज कहते हैं, पहले तो देशना की प्राप्ति हुई ही थी। देशना मिले और अल्पसमय में ही, उसी भव में ही पुरुषार्थ करके सम्यग्दर्शन प्राप्त कर ले तो उसे अधिगमज सम्यग्दर्शन कहते हैं ।

अनादि से तो जीव अज्ञानी ही है, मिथ्यादृष्टि ही है; अतः जबतक उसने सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नहीं की; तबतक अज्ञानी ही रहता है; ज्ञान के साथ तादात्म्य होने से वह ज्ञानी नहीं हो जाता ।

देखो उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी क्या कहते हैं -

"कैसी गजब की बात है कि आत्मा ज्ञान के साथ तादात्म्यरूप से है, तथापि एक क्षणमात्र भी ज्ञान का सेवन नहीं करता अर्थात् 'ज्ञान ही आत्मा है' - पर्याय में ऐसी एकता नहीं करता; इसकारण ज्ञान का सेवन नहीं करता ।[१]

पर्याय को अन्तर्मुखी करके 'ज्ञान ही आत्मा है' - ऐसा उसके स्वरूप में एकाग्र होकर उसे जाने तो इसने ज्ञान की सेवा की - ऐसा माना जाता है। इसके सिवा सब राग की ही सेवा है; आत्मा की सेवा नहीं ।[२]"

अतः यह सुनिश्चित है कि ज्ञान के साथ तादात्म्य संबंध होने पर भी जबतक यह आत्मा अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा को जानकर, उसमें अपनत्व स्थापित नहीं करता; तबतक अज्ञानी ही रहता है । •

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ ३१३
२. वही, पृष्ठ ३१४

अन्धश्रद्धा

अन्धश्रद्धा तर्क स्वीकार नहीं करती। यही कारण है कि अंधश्रद्धालु को सही बात समझा पाना असंभव नहीं तो कष्ठसाध्य अवश्य है। यदि वह तर्कसंगत बात को स्वीकार करने लगे तो फिर अन्धश्रद्धालु ही क्यों रहे ? अन्धश्रद्धालु को हर तर्क कुतर्क दिखाई देता है। इष्ट की आशा और अनिष्ट की आशंका उसे सदा भयाक्रान्त रखती है। भयाक्रान्त व्यक्ति की विचारशक्ति क्षीण हो जाती है। उसकी इसी कमजोरी का लाभ कुछ धूर्त लोग सदा से ही उठाते आये हैं और उठाते रहेंगे ।

- सत्य की खोज, अध्याय ७, पृष्ठ ४१

समयसार गाथा १९

यदि ऐसा है तो यह आत्मा कबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा; ऐसा प्रश्न उपस्थित होने पर उसके उत्तरस्वरूप आगामी गाथा का उदय हुआ है ।

कम्मे णोकम्मम्हि य अहमिदि अहकं च कम्म णोकम्मं ।
जा एसा खलु बुद्धी अप्पडिबुद्धो हवदि ताव ॥१९॥

(हरिगीत)

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी ।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी ॥१९॥

जबतक यह आत्मा ज्ञानावरणी आदि द्रव्यकर्मों, मोह-राग द्वेषादि भावकर्मों एवं शरीरादि नोकर्मों में अहंबुद्धि रखता है, ममत्वबुद्धि रखता है; यह मानता रहता है कि 'ये सभी मैं हूँ और मुझमें ये सभी कर्म-नोकर्म हैं' - जबतक अप्रतिबुद्ध रहता है, अज्ञानी रहता है। तात्पर्य यह है कि कर्म-नोकर्म में अहंबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि ही अज्ञान है ।

अहंबुद्धि को एकत्वबुद्धि एवं ममत्वबुद्धि को स्वामित्वबुद्धि भी कहते हैं ।

परपदार्थों और उनके निमित्त से होनेवाले विकारीभावों में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्तृत्वबुद्धि एवं भोक्तृत्वबुद्धि ही अज्ञान है, अप्रतिबुद्धता है ।

'ये ही मैं हूँ' - इसप्रकार की मान्यता का नाम अहंबुद्धि है, एकत्वबुद्धि है और 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' - इसप्रकार की मान्यता का नाम ममत्वबुद्धि है, स्वामित्वबुद्धि है। इसीप्रकार 'मैं इनका कर्ता हूँ, ये मेरे कर्त्ता हैं' - इसप्रकार की मान्यता का नाम कर्त्तृत्वबुद्धि है और मैं इनका भोक्ता हूँ, ये मेरे भोक्ता हैं - इसप्रकार की बुद्धि का नाम भोक्तृत्वबुद्धि है ।

इनमें कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि का निषेध तो कर्त्ता-कर्म अधिकार में किया जायगा; यहाँ तो एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि के सन्दर्भ में ही विचार अपेक्षित है। यही कारण है कि इस १९वीं गाथा में अज्ञानी का स्वरूप स्पष्ट करते हुए कहा जा रहा है कि जबतक शरीरादि नोकर्म एवं ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्मरूप परपदार्थों एवं द्रव्यकर्मों के उदय से अपनी आत्मा में उत्पन्न होनेवाले विकारीभावों में अहंबुद्धि रहेगी, ममत्वबुद्धि रहेगी, तबतक आत्मा अज्ञानी रहेगा ।

आगे कर्त्ता-कर्म अधिकार में ७५वीं गाथा में कहा जायगा कि कर्म के परिणाम को और नोकर्म के परिणाम को जो कर्ता नहीं है, मात्र जानता है, वह ज्ञानी है ।

यहाँ अज्ञानी की परिभाषा बताई जा रही है और वहां ज्ञानी की परिभाषा बताई जावेगी ।

यदि दोनों को मिलाकर बात कहें तो इसप्रकार कह सकते हैं कि जो कर्म में और नोकर्म में तथा कर्म के उदय में होनेवाले अपने विकारी परिणामों में अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि रखता है, वह अज्ञानी है और जो व्यक्ति इनमें अहंबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्त्तृत्वबुद्धि और भोक्तृत्वबुद्धि नहीं रखता है; किन्तु मात्र उन्हें जानता है, वह ज्ञानी है।

इस १९वीं गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित आत्मख्याति टीका पर विचार करने के पूर्व जयचन्दजी छाबड़ा का भावार्थ देख लेना उपयोगी रहेगा; क्योंकि पहले उसके अध्ययन से विषयवस्तु को समझने में विशेष सुविधा रहेगी। वह भावार्थ इसप्रकार है -

''जैसे स्पर्शादि में पुद्गल का और पुद्गल में स्पर्शादि का अनुभव होता है अर्थात् दोनों एकरूप अनुभव में आते हैं; उसीप्रकार जबतक आत्मा को, कर्म और नोकर्म में आत्मा की और आत्मा में कर्म नोकर्म की भ्रान्ति होती है; अर्थात् दोनों एकरूप भासित होते हैं; तबतक तो वह अप्रतिबुद्ध है; और जब वह यह जानता है कि आत्मा तो ज्ञाता ही है और कर्म-नोकर्म पुद्गल के ही हैं; तभी वह प्रतिबुद्ध होता है ।

जैसे दर्पण में अग्नि की ज्वाला दिखाई देती है; वहाँ यह ज्ञात होता है कि 'ज्वाला तो अग्नि में ही है, वह दर्पण में प्रविष्ट नहीं है; और जो दर्पण में दिखाई दे रही है, वह दर्पण की स्वच्छता ही है।' इसीप्रकार 'कर्म-नोकर्म अपने आत्मा में प्रविष्ट नहीं हैं; आत्मा की ज्ञानस्वच्छता ही ऐसी है कि जिसमें ज्ञेय का प्रतिविम्व दिखाई दे; इसीप्रकार कर्म-नोकर्म ज्ञेय हैं, इसलिए वे प्रतिभासित होते हैं' - ऐसा भेदज्ञानरूप अनुभव आत्मा को या तो स्वयंमेव हो अथवा उपदेश से हो, तभी वह प्रतिवुद्ध होता है ।''

उक्त भावार्थ में दो वातें स्पष्ट की हैं -

(१) जिसप्रकार पुद्गलद्रव्य और उसके स्पर्शादि गुण हमें एक ही लगते हैं; क्योंकि हमें पुद्गल में स्पर्शादि का और स्पर्शादि में पुद्गल का अनुभव होता है। उसीप्रकार कर्म-नोकर्म और आत्मा में भी हमें एकत्व की भ्रान्ति होती है, वे दोनों एक ही लगते हैं। जवतक यह भ्रान्ति रहेगी, तवतक आत्मा अप्रतिवुद्ध रहेगा। किन्तु जव आत्मा यह जान लेता है कि आत्मा और कर्म-नोकर्म भिन्न-भिन्न हैं; क्योंकि आत्मा तो ज्ञाता, चेतनद्रव्य है और कर्म-नोकर्म पुद्गल हैं, अचेतन हैं; तव प्रतिवुद्ध हो जाता है ।

इसप्रकार कर्म-नोकर्म में एकत्ववुद्धि अप्रतिवुद्धता है, अज्ञान है, और भगवान आत्मा को इनसे भिन्न जानना प्रतिबुद्धता है, ज्ञान है ।

(२) जिसप्रकार दर्पण में जो ज्वाला दिखती है, वह अग्नि की नहीं, दर्पण की ही स्वच्छता है; क्योंकि अग्नि - ज्वाला तो दर्पण में प्रविष्ट ही नहीं हुई है, वह तो अग्नि में ही हैं ।

उसीप्रकार कर्म-नोकर्म तो ज्ञेय हैं; उनका जो प्रतिविम्व आत्मा में प्रतिभासित होता है; वह आत्मा के ज्ञान की ही स्वच्छता है; क्योंकि कर्म-नोकर्म तो आत्मा में प्रविष्ट हुए ही नहीं हैं; वे तो स्वयं में ही हैं ।

इसप्रकार का भेदज्ञानरूप अनुभव जव आत्मा को होता है, तभी आत्मा प्रतिवुद्ध होता है ।

इसी वात को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

''जिसप्रकार स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, आदि भावों में तथा चौड़ा, गहरा, अवगाहरूप उदरादि के आकार परिणत हुए पुद्गलस्कंधों में 'यह घट है' इसप्रकार की अनुभूति होती है और घट में 'यह स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि भाव तथा चौड़े, गहरे, उदराकार आदि रूप परिणत पुद्गलस्कंध है' - इसप्रकार वस्तु के अभेद से अनुभूति होती है ।

उसीप्रकार जो मोह आदि अन्तरंग परिणामरूप कर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म - सभी पुद्गल के परिणाम हैं और आत्मा को तिरस्कार करनेवाले हैं; उनमें 'यह मैं हूँ' - इसप्रकार तथा आत्मा में 'यह मोह आदि अन्तरंग परिणामरूपकर्म और शरीरादि बाह्यवस्तुरूप नोकर्म आत्मतिरस्कारी पुद्गल परिणाम हैं' - इसप्रकार वस्तु के अभेद से जबतक अनुभूति है, तबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है ।

जिसप्रकार रूपी दर्पण की स्वच्छता ही स्व-पर के आकार का प्रतिभास करनेवाली है और उष्णता तथा ज्वाला अग्नि की है। इसीप्रकार अरूपी आत्मा की तो अपने को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है और कर्म तथा नोकर्म पुद्गल के हैं ।

इसप्रकार स्वतः अथवा परोपदेश से, जैसे भी हो; जिसका मूल भेदविज्ञान है, ऐसी अनुभूति उत्पन्न होगी, तब ही आत्मा प्रतिबुद्ध होगा, ज्ञानी होगा ।''

यद्यपि उक्त कथन से सम्पूर्ण विषयवस्तु अत्यन्त स्पष्ट हो गई है, तथापि टीका के अन्तिम अंश के सम्बन्ध में स्वामीजी के विचारों से अवगत होना आवश्यक प्रतीत होता है, जो इसप्रकार है -

''अपना ज्ञान होना और पर-राग का ज्ञान होना - यह तो अपने ज्ञान की परणति का स्वपरप्रकाशक स्वभाव है। राग है, इसकारण राग का ज्ञान हुआ - ऐसा नहीं है; परन्तु उस काल में अपने ज्ञान की पर्याय स्वयं राग

के ज्ञेयाकाररूप से परिणमित होती हुई, स्वयं ज्ञानाकाररूप हुई है। वह स्वयं से हुई है, स्वयं में हुई है; पर (ज्ञेय) से नहीं हुई है। अरूपी आत्मा को तो स्वयं को और पर को जाननेवाली ज्ञातृता ही है। यह ज्ञातृता स्वयं की है, स्वयं से सहज है, राग से नहीं और राग की भी नहीं। राग है, इसलिए राग का जानना होता है - ऐसा नहीं है। वस्तु का सहजस्वरूप ही ऐसा है।

...... 'स्वपर का प्रतिभास होना' - यह स्वयं की सहज सामर्थ्य है। परपदार्थ हैं, इसकारण उनका ज्ञान होता है - ऐसा नहीं है। आत्मा की तो स्वपर को जाननेवाली ज्ञातृता है। उसमें कर्म व नोकर्म पुद्गल के हैं - ऐसा ज्ञात होता है ।[१]

भाई, रागादि पर हैं और जो पर्याय में रागादि का ज्ञान है, वह मेरा है; ऐसा भेदज्ञान रूप अनुभव तब होता है, जबकि रागादि का लक्ष्य छोड़कर अपने लक्ष्य में आवे, तब ही इसकी परिणति में भेदज्ञान होता है ।

शरीर, मन, वाणी, इत्यादि नोकर्म और रागादि भावकर्म - ये सब पर-पुद्गल के ही हैं, पुद्गल ही हैं; और इन ज्ञेयों को जाननेवाला ज्ञान मेरा है, ज्ञायक का है - ऐसी भिन्नता जानकर एक ज्ञायक सत्ता में ही जो लक्ष्य करे, उसे भेदज्ञान होता है ।[२]"

इसप्रकार बात अत्यन्त स्पष्ट है और आगे भी इसी विषय पर मंथन चलनेवाला है। अतः यहाँ अधिक विस्तार की आवश्यकता नहीं है ।

अब इसी अर्थ का सूचक कलशकाव्य कहते हैं :-

(मालिनी)

कथमपि हि लभंते भेदविज्ञानमूला-
मचलितमनुभूतिं ये स्वतो वान्यतो वा ।
प्रतिफलननिमग्नानंतभावस्वभावै
र्मुकुरवदविकाराः संततं स्युस्त एव ॥२१॥

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ ३२५
२. वही, पृष्ठ ३२८

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से ।
भेदज्ञान मूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥२१॥

जो पुरुष अपने आप ही अथवा पर के उपदेश से किसी भी प्रकार से भेदविज्ञान है मूल जिसका, ऐसी अपने आत्मा की अविचल अनुभूति प्राप्त करते हैं, वे पुरुष ही दर्पण की भांति अपने में प्रतिबिम्बित हुए अनन्तभावों के स्वभावों से निरन्तर विकाररहित होते हैं; ज्ञान में जो ज्ञेयों के आकार प्रतिभासित होते हैं, उनसे रागादि विकार को प्राप्त नहीं होते ।

उक्त कलश में मूलतः तो टीका की बात को ही कहा है, फिर भी इसमें दो बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। पहली बात तो यह है कि अनुभूति को भेदज्ञानमूलक कहा है और दूसरी यह कि आत्मा के ज्ञानदर्पण में अनन्तपदार्थ झलकें, पर उससे ज्ञानी आत्मविकार को प्राप्त नहीं होते। जिसप्रकार अग्नि के प्रतिबिम्बित होने से दर्पण गर्म नहीं होता, उसीप्रकार रागादि के ज्ञेय बनने से आत्मा रागादिरूप परिणमित नहीं होता ।

यदि आत्मानुभूति प्राप्त करना है तो स्व और पर के बीच भेदविज्ञान करने का प्रयत्न करना चाहिए। यही कारण है कि यहाँ आत्मा और कर्म-नोकर्म के बीच भेदविज्ञान कराया गया है। आत्मानुभूति को भेदविज्ञानमूला कहने का मूल कारण यह है कि अन्य करोड़ों उपाय करो, तो भी भेदविज्ञान के बिना आत्मानुभूति की प्राप्ति नहीं होगा। पूजा-पाठ, जप-तप, तीर्थयात्रा, व्रत-शील, संयम आदि से आत्मानुभूति प्राप्त होने वाली नहीं है। आत्मानुभूति का तो एक ही मार्ग है और वह है भेदविज्ञान। इसलिए इस कलश में प्रेरणा दी जा रही है कि कथमपि स्वतो वा अन्यतो वा कैसे भी करके स्वतः अथवा अन्य से जैसे भी हो, मरपच के भी एक आत्मानुभूति प्राप्त करो; क्योंकि सुखी होने का एकमात्र यही उपाय है ।

यह आत्मानुभूति दो प्रकार से होती है। - यह बताना मूल प्रयोजन नहीं है; मूलप्रयोजन तो यह है कि इस पर बहस मत करो कि वह स्वतः प्राप्त

होगी या पर से, जैसे भी हो, उसे प्राप्त करने का उग्र पुरुषार्थ करो। साधन की दृष्टि से तो अनुभूति को भेदविज्ञानमूला कहा है। साधन तो एकमात्र भेदविज्ञान ही है, कोई अन्य नहीं। 'अन्यतो वा' कहकर तो मात्र निमित्त का ज्ञान कराया है ।

प्राप्त करने योग्य तो एकमात्र आत्मानुभूति ही है और उसका उपाय एकमात्र भेदविज्ञान है। यही कारण है कि आगे संवर अधिकार के एक कलश में तो यहाँ तक कहेंगे कि –

"भेदविज्ञानतः सिद्धाः सिद्धाः ये किल केचन ।
अस्यैवाभावतो बद्धा बद्धा ये किल केचन ॥१३१॥

जितने भी जीव आज तक सिद्ध हुए हैं, वे सब भेदविज्ञान से ही हुए हैं और जितने भी संसार में बंधे हैं, वे सब भेदविज्ञान के अभाव से ही बंधे हैं ।"

और भी अनेक स्थानों पर भेदविज्ञान की महिमा विविध प्रकार से गाई गई है; जिसे जानकर पूरी शक्ति लगाकर भेदविज्ञान प्राप्त करने का पुरुषार्थ करना चाहिए ।

दूसरी बात यह है कि परपदार्थों के जानने से न तो लाभ है और न हानि ही है। उनके नहीं जानने से तो हमारा कुछ बिगड़नेवाला है ही नहीं; परन्तु अपने ज्ञान में उनके ज्ञेय बनने से भी कुछ बिगड़नेवाला नहीं है; क्योंकि जिसप्रकार दर्पण में अनन्त पदार्थ झलकते हैं, पर उससे दर्पण विकृत नहीं होता; उसीप्रकार अनन्त ज्ञेयों के जानने से भी हमारा ज्ञानदर्पण विकृत होनेवाला नहीं है। बिगड़ता तो उन्हें अपना जानने से है, अपना मानने से है, उनमें ही जमने-रमने से है, उनका ही ध्यान करने से हैं; अकेले जाननेमात्र से कुछ भी बिगाड़-सुधार नहीं है। अतः न उन्हें जानने का हट करना चाहिए और न नहीं जानने का भी हट करना चाहिए। सहजभाव से जैसे जो ज्ञात हो जावे, हो जाने दें; न होवे तो, न होने दें; उनके प्रति सहजभाव धारण करना ही श्रेयस्कर है ।

इस कलश में इन्हीं दो बातों पर वजन दिया गया है ।

इस कलश के भाव को बनारसीदासजी ने निम्नांकित छन्द में इसप्रकार व्यक्त किया है –

(सवैया तेईसा)

कै अपनौं पद आप संभारत, कै गुरु के मुख की सुनि वानी ।
भेदविग्यान जग्यो जिन्हि कै, प्रगटी सुविवेक कला रजधानी ॥
भाव अनंत भये प्रतिबिम्बित जीवन मोख दसा ठहरानी ।
ते नर, दर्पण ज्यौं अविकार रहैं थिररूप सदा सुखदानी ॥

इसप्रकार इस कलश में यही प्रेरणा दी गई है कि जैसे भी हो स्वतः या पर से, परन्तु भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभूति को अवश्य प्राप्त करना चाहिए; क्योंकि यह भेदविज्ञानमूलक आत्मानुभूति की ही महिमा है कि जिसके कारण अनन्त ज्ञेयों को जानने पर भी ज्ञान अविकारी ही रहता है ।

इसके बाद दो गाथाएँ आचार्य जयसेन की तात्पर्यवृत्ति में प्राप्त होती हैं, जो आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति में नहीं हैं ।

वे दोनों गाथाएँ इसप्रकार हैं –

जीवे व अजीवे वा संपदि समयह्मि जत्थ उवजुत्तो ।
तत्थेव बंध मोक्खो होदि समासेण णिद्दिट्ठो ॥
जं कुणदि भावमादा कत्ता सो होदि तस्स भावस्स ।
णिच्छयदो ववहारा पोग्गलकम्माण कत्तारं ॥

जब जीव में उपयोग लगता है तो मोक्ष होता है और अजीव में उपयोग लगता है तो बंध होता है। बंध और मोक्ष की संक्षेप में यही प्रक्रिया है ।

निश्चयनय से आत्मा जिस भाव को करता है, उसी भाव का कर्त्ता होता है और व्यवहारनय से पुद्गलकर्म का कर्त्ता होता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र की टीका में तो ये गाथाएँ हैं ही नहीं, आचार्य जयसेन ने भी इनका सामान्य अर्थ ही लिखा है, विशेष कुछ नहीं कहा है। उन्होंने इनके बारे में जो कुछ कहा है उसका सार इसप्रकार है –

''शुद्धजीव में उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि से परिणत हुआ तो मोक्ष होता है और देहादिक अजीव में उपयोग तन्मय हुआ, उपादेयबुद्धि से

परिणत हुआ तो बंध होता है – ऐसा संक्षेप में सर्वज्ञ भगवान ने कहा है। इसलिए सहजानन्दस्वभावी निजात्मा में रति करना चाहिए और परद्रव्य में रति नहीं करना चाहिए ।

यह आत्मा अशुद्धनिश्चयनय से अशुद्धभावों का और शुद्धनिश्चयनय से शुद्धभावों कर्ता है तथा अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय से पौद्गलिक कर्मों का कर्त्ता है। अतः संसार से भयभीत मुमुक्षुओं के द्वारा रागादि से रहित निज शुद्धात्मा की भावना करना चाहिए ।"

सबकुछ मिलाकर सार यह है कि देहादि परपदार्थों से एकत्व, ममत्व छोड़कर, उनके कर्तृत्व से भी मुख मोड़कर निज शुद्धात्मा की आराधना करना ही श्रेयस्कर है।

दूसरी गाथा की प्रथम पंक्ति कर्ता-कर्म अधिकार में दो स्थानों पर हूबहू प्राप्त होती है। आत्मख्याति के अनुसार उनकी क्रम संख्या ९१ एवं १२६ है और तात्पर्यवृत्ति के अनुसार उनकी संख्या क्रमशः ९८ एवं १३४ है। उक्त गाथा में जो विषयवस्तु है, वह भी कर्ता-कर्म भाव से संबंधित है; अतः इसपर विस्तृत मीमांसा कर्ता-कर्म अधिकार में करना ही उचित प्रतीत होता है ।

आगामी गाथाओं की संधि भी १९वीं गाथा से ही मिलती है ।

भगवान ने यदि 'भव्य' कहा तो इससे महान अभिनन्दन और क्या होगा ? भगवान की वाणी में 'भव्य' आया तो मोक्ष प्राप्त होने की गारंटी हो गई। पर इस मूर्ख जगत ने यदि भगवान भी कह दिया तो उसकी क्या कीमत ? स्वभाव से तो सभी भगवान हैं, पर जो पर्याय से भी वर्त्तमान में हमें भगवान कहता है, उसने हमें भगवान नहीं बनाया वरन् अपनी मूर्खता व्यक्त की है ।

विनय बहुत ऊँची चीज है, उसे इतने नीचे स्तर पर नहीं लाना चाहिए। भाई साहब ! विनय तो वह तप है जिससे निर्जरा और मोक्ष होता है, वह क्या चापलूसी से हो सकता है ? नहीं, कदापि नहीं ।

– धर्म के दशलक्षण, पृष्ठ १०८

समयसार गाथा २० से २२

१९वीं गाथा में यह कहा था कि जबतक यह आत्मा कर्म और नोकर्म में एकत्व-ममत्व रखेगा, तबतक अप्रतिबुद्ध रहेगा, अज्ञानी रहेगा; अतः अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि हम कैसे पहिचाने कि यह व्यक्ति अप्रतिबुद्ध है, अज्ञानी है ? तात्पर्य यह है कि अज्ञानी की पहिचान के चिन्ह क्या हैं ?

इसी प्रश्न के उत्तरस्वरूप आगामी २० से २२ तक की गाथायें लिखी गई हैं; जो इसप्रकार हैं -

अहमेदं एदमहं अहमेदस्सम्हि अत्थि मम एदं ।
अण्णं जं परदव्वं सच्चित्ताचित्तमिस्सं वा ॥२०॥
आसि मम पुव्वमेदं एदस्स अहं पि आसि पुव्वं हि ।
होहिदि पुणो ममेदं एदस्स अहं पि होस्सामि ॥२१॥
एयं तु असब्भूदं आदवियप्पं करेदि संमूढो ।
भूदत्थं जाणंतो ण करेदि दु तं असंमूढो ॥२२॥

(हरिगीत)

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब परद्रव्य ये ।
हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ वे ही ॥२०॥
हम थे सभी के या हमारे थे सभी गतकाल में ।
हम होंयगे उनके हमारे वे अनागत काल में ॥२१॥
ऐसी असंभव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें ।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें ॥२२॥

जो पुरुष अपने से भिन्न परद्रव्यों में - सचित स्त्री-पुत्रादिक में, अचित्त धन-धान्यादिक में, मिश्र ग्राम-नरगादिक में - ऐसा विकल्प करता है, मानता है कि मैं ये हूँ, ये सब द्रव्य मैं हूँ; मैं इनका हूँ, ये मेरे हैं; ये मेरे

पहले थे, इनका मैं पहले था; तथा ये सब भविष्य में मेरे होंगे, मैं भी भविष्य में इनका होऊँगा – वह व्यक्ति मूढ़ है, अज्ञानी है; किन्तु जो पुरुष वस्तु का वास्तविक स्वरूप जानता हुआ ऐसे झूठे विकल्प नहीं करता है, वह ज्ञानी है ।

तात्पर्य यह है कि पर में अपनापन अनुभव करनेवाले अज्ञानी हैं और अपने आत्मा में अपनापन अनुभव करनेवाले ज्ञानी हैं। ज्ञानी-अज्ञानी की मूलतः यही पहिचान है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस बात को अग्नि और ईंधन का उदाहरण देकर आत्मख्याति में इसप्रकार समझाते हैं –

"जिसप्रकार कोई पुरुष ईंधन और अग्नि को मिला हुआ देखकर ऐसा झूठा विकल्प करे कि जो अग्नि है, वही ईंधन है और जो ईंधन है, वही अग्नि है; अग्नि का ईंधन है और ईंधन की अग्नि है; अग्नि का ईंधन पहले था और ईंधन की अग्नि पहले थी; अग्नि का ईंधन भविष्य में होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य में होगी, तो वह अज्ञानी है; क्योंकि इसप्रकार के विकल्पों से अज्ञानी पहिचाना जाता है ।

इसीप्रकार परद्रव्यों में – मैं ये परद्रव्य हूँ, ये परद्रव्य मुझरूप हैं; ये परद्रव्य मेरे हैं, मैं इन परद्रव्यों का हूँ; ये पहले मेरे थे, मैं पहले इनका था; ये भविष्य में मेरे होंगे और मैं भी भविष्य में इनका होऊँगा – इसप्रकार के झूठे विकल्पों से अप्रतिबुद्ध अज्ञानी पहिचाना जाता है ।

अग्नि है, वह ईंधन नहीं है और ईंधन है, वह अग्नि नहीं है; अग्नि है, वह अग्नि ही है और ईंधन है, वह ईंधन ही है। अग्नि का ईंधन नहीं है और ईंधन की अग्नि नहीं है; अग्नि की अग्नि है और ईंधन का ईंधन है। अग्नि का ईंधन पहले नहीं था, ईधन की अग्नि पहले नहीं थीं; अग्नि की अग्नि पहले थी, ईंधन का ईंधन पहले था, अग्नि का ईंधन भविष्य में नहीं होगा और ईंधन की अग्नि भविष्य में नहीं होगी; अग्नि की अग्नि ही भविष्य में होगी और ईंधन का ईंधन ही भविष्य में होगा ।

इसप्रकार जैसे किसी को अग्नि में ही सत्यार्थ अग्नि का विकल्प हो, तो वह उसके प्रतिबुद्ध होने का लक्षण है ।

इसीप्रकार मैं ये परद्रव्य नहीं हूँ और ये परद्रव्य मुझस्वरूप नहीं हैं; मैं तो मैं ही हूँ और परद्रव्य हैं, वे परद्रव्य ही हैं; मेरे ये परद्रव्य नहीं हैं और इन परद्रव्यों का मैं नहीं हूँ; मैं मेरा हूँ और परद्रव्य के परद्रव्य हैं; ये परद्रव्य पहले मेरे नहीं थे और इन परद्रव्यों का मैं पहले नहीं था; मेरा ही मैं पहले था और परद्रव्यों के परद्रव्य ही पहले थे। ये परद्रव्य भविष्य में मेरे नहीं होंगे और न मैं भविष्य में इनका होऊँगा; मैं भविष्य में अपना ही रहूँगा और ये परद्रव्य भविष्य में इनके ही रहेंगे ।

इसप्रकार जो व्यक्ति स्वद्रव्य में ही आत्मविकल्प करते हैं, स्वद्रव्य को निज जानते-मानते हैं, वे ही प्रतिबुद्ध हैं, ज्ञानी हैं। ज्ञानी का यही लक्षण है और इन्हीं लक्षणों से ज्ञानी पहिचाना जाता है ।''

उक्त कथन में अनेकप्रकार से एक ही बात कही गई है कि परद्रव्यों में एकत्व-ममत्व करना ही अज्ञान है और परद्रव्यों से एकत्व-ममत्व तोड़कर अपने आत्मा में एकत्व-ममत्व करना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन है। अतः इस एकत्व-ममत्व के आधार पर ही ज्ञानी-अज्ञानी की पहिचान होती है ।

यहाँ एकत्व-ममत्व को अग्नि व ईंधन के उदाहरण से तीनों कालों की अपेक्षा घटित करके समझाया गया है। गाथा में व टीका में उसी को सर्वांग घटित करके स्पष्ट किया है। अतः कुछ पिष्टपेषण-सा लगता है, पर यह तो मूल बात है और अपने अन्तर में गहराई से उतारने की बात है। अतः इसमें पिष्टपेषण दोष नहीं, गुण माना जाता है; क्योंकि आखिर हमें पर से एकत्व-ममत्व तोड़ना है और अपने में एकत्व-ममत्व जोड़ना है। इसलिए इसप्रकार की भावना अनवरतरूप से भाना ही होगी ।

आचार्य जयसेन की टीका में और सब बातें तो आत्मख्याति के समान ही हैं, पर एक बात विशेष है। वह यह कि उन्होंने सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यों को गृहस्थ की अपेक्षा, तपोधन मुनिराजों की अपेक्षा एवं निर्विकल्प समाधिस्थ पुरुष की अपेक्षा पृथक्-पृथक् घटित करके समझाया है ।

उनके मूल कथन का भाव इसप्रकार है -

"उनमें गृहस्थ की अपेक्षा छात्रादि स्त्री आदि सचित्त, स्वर्णादि अचित्त एवं वस्त्राभूषण सहित स्त्री आदि मिश्र हैं। तपोधन की अपेक्षा छात्रादि सचित्त; पीछी-कमण्डलु पुस्तक आदि अचित्त और उपकरण सहित छात्रादि मिश्र हैं अथवा रागादि भावकर्म सचित्त, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म अचित्त एवं द्रव्यकर्म और भाव - दोनों मिलाकर मिश्र हैं। विषय-कषाय रहित निर्विकल्प समाधि में स्थित पुरुष की अपेक्षा सिद्धपरमेष्ठी का स्वरूप सचित्त, पुद्गल आदि पाँच द्रव्य अचित्त और गुणस्थान, जीवसमास, मार्गणादिरूप परिणत संसारीजीव का स्वरूप मिश्र है ।"

यहाँ प्रकरण यह चल रहा है कि अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) की पहिचान का चिन्ह क्या है ? हम कैसे जाने कि यह अप्रतिबुद्ध है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जो व्यक्ति सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यों में अपनेपन का विकल्प करता है, वह अज्ञानी है और जो भूतार्थ को जानते हुए परपदार्थों में इसप्रकार के आत्मविकल्प नहीं करता है, वह ज्ञानी है, प्रतिबुद्ध है ।

उक्त गाथा की टीका में सचित्त, अचित्त और मिश्र परद्रव्यों की व्याख्या में आचार्य अमृतचन्द्र तो एकदम मौन है; क्योंकि उनकी दृष्टि में यह अत्यन्त सरल बात है, जिसे सभी अच्छी तरह समझते हैं। अतः उन्होंने इनकी व्याख्या में कुछ लिखने की आवश्यकता ही नहीं समझी, पर आचार्य जयसेन ने उक्त व्याख्या की है ।

उक्त व्याख्या में गृहस्थ, तपोधन, परमसमाधि में स्थित - इन तीनों की अपेक्षा बताकर वे क्या कहना चाहते हैं ? - इस बात को गहराई से समझना चाहिए; क्योंकि गृहस्थों में तो ऐसा अज्ञान संभव है कि वे स्त्री-पुत्रादि, धन-धान्यादि परद्रव्यों में आत्मविकल्प करें। उन्हें अपना माने; पर तपोधन तो ज्ञानी धर्मात्मा होते हैं; वे इसप्रकार की मान्यता छात्रादि में कैसे कर सकते हैं ? यदि यह भी मान लें कि कोई वेशधारी ऐसा करे, उसकी अपेक्षा

यह बात है; तो भी जो निर्विकल्पसमाधि में स्थित हैं वे तो ऐसा मान ही नहीं सकते। वे तो किसी परद्रव्य को न तो अपना मान ही सकते हैं और न उन्हें इसप्रकार के विकल्पों की उत्पत्ति संभव है; क्योंकि वे तो निर्विकल्पसमाधि में रत हैं ।

अतः यहाँ ऐसा समझना चाहिए कि गृहस्थ की अपेक्षावाला जो उदाहरण है, वह तो ज्ञानी-अज्ञानी सभी पर घटित होगा और शुभोपयोगी तपोधन एवं निर्विकल्पसमाधि में स्थित तपोधनवाला उदाहरण मात्र ज्ञानी पर ही घटित होगा। तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ शरीरादि परद्रव्यों में आत्मविकल्प करते हैं, वे अज्ञानी हैं और जो गृहस्थ एवं शुभोपयोग में प्रवर्तमान तपोधन व निर्विकल्पसमाधिरत तपोधन शरीरादि परद्रव्यों में आत्मविकल्प न करके अपने आत्मा को ही निज जानते-मानते हैं; वे ज्ञानी धर्मात्मा है, प्रतिबुद्ध हैं ।

अब आचार्य अमृतचन्द्र कलश के माध्यम से प्रेरणा देते हैं कि हे जगतजनो ! पर से एकत्व का मोह अब तो छोड़ो; क्योंकि यह आत्मा, अनात्मा के साथ कभी भी एकत्व को प्राप्त नहीं होता ।

कलश मूलतः इसप्रकार है -

(मालिनी)

त्यजतु जगदिदानीं मोहमाजन्मलीनं
रसयतु रसिकानां रोचनं ज्ञानमुद्यत् ।
इह कथमपि नात्मानात्मना साकमेकः
किल कलयति काले क्वापि तदात्म्यवृत्तिम् ॥ २२॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो ।
रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ॥
तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ॥ २२॥

हे जगत के जीवो ! अनादि से लेकर आजतक अनुभव किये गये मोह को कम से कम अब तो छोड़ो और रसिकजनों को रुचिकर उदित ज्ञान का आस्वादन करो; क्योंकि आत्मा इस लोक में किसी भी स्थिति में अनात्मा के साथ तादात्म्य को धारण नहीं करता, पर के साथ एकमेक नहीं होता ।

'रसिकजन' शब्द का अर्थ कलशटीकाकार ने शुद्धस्वरूप का अनुभव करनेवाले सम्यग्दृष्टि पुरुष किया है। सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा जीवों की रुचि तो एकमात्र ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा में होती है, वे तो निरन्तर उसी में रहना चाहते हैं, उसी में रमना चाहते हैं; क्योंकि उनका अपनापन तो अपने त्रिकालीध्रुव ज्ञायकभाव में ही स्थापित हो गया है ।

यहाँ आचार्यदेव जगत के जीवों को सम्बोधित करते हुए समझा रहे हैं कि तुम भी सम्यग्दृष्टि ज्ञानी धर्मात्माओं के समान निज ज्ञानानन्दस्वभाव का ही आस्वादन करो, उसमें ही अपनापन स्थापित करो, उसमें ही जम जावों, रम जावों; क्योंकि परके साथ तुम्हारा कोई भी सम्बन्ध नहीं है। ये शरीरादि परपदार्थ न तो आजतक तुम्हारे हुए हैं और न कभी होंगे ही ।

अरे भाई, तुमने अनादि से आज तक परपदार्थों में ही अपनापन स्थापित किया है, निजभगवान आत्मा को कभी जाना ही नहीं; इसकारण अनंत दुःख उठाये हैं। फिर भी उन्हीं परपदार्थों से एकत्व स्थापित किये हो और अनन्त दुःखी हो रहे हो। अरे भाई, अब तो इस एकत्व के मोह को छोड़ो और अपने त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा में एकत्व स्थापित करो ।

शरीरादि परपदार्थों में, रागादि विकारी भावों में एकत्व स्थापित करना ही दर्शनमोह है, मिथ्यात्व है। यहाँ उस एकत्व छोड़ने की ही प्रेरणा दी जा रही है ।

इस कलश की महिमा से विभोर होते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"अहो। अमृतचन्द्राचार्य के कलश बहुत गंभीर हैं। टीका भी बहुत गंभीर है। जिसप्रकार ग्वाला गाय के स्तनों में से दोहन करके दूध निकालता

है, उसीप्रकार शास्त्रों में भरे हुयें भावों को अमृतचन्द्र ने तर्क की ताकत लगाकर निकाला है और टीका में भर दिया है ।

भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है और राग अचेतन है। चाहे दया, दान, व्रतादि का विकल्प हो या गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो; ये सब विकल्प अचेतन है; इनमें ज्ञानस्वभाव की किरण नहीं हैं। इसलिए उस राग का स्वाद छोड़कर इस ज्ञानस्वरूप आत्मा को आस्वादो। भगवान आत्मा में आनन्द का स्वाद है। अनादिकाल से राग का स्वाद लिया, वह दुःख का, आकुलता का स्वाद था; उसमें कुछ नया नहीं है। यदि कुछ नया करना हो तो ज्ञान को आस्वादो। - ऐसा कहते हैं ।[१]"

इसप्रकार इस कलश में पर के साथ एकत्व के मोह को तोड़ने एवं अपने में एकत्व स्थापित करने की प्रेरणा देकर आचार्यदेव अब आगामी गाथा में तर्क से, युक्ति से इसी बात को समझाते हैं । •

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ ३४८

एक ही भूमिका के ज्ञानियों के संयोगों और संयोगीभावों में महान अन्तर हो सकता है। कहाँ क्षायिकसम्यग्दृष्टि सौधर्म इन्द्र और कहाँ सर्वार्थसिद्धि के क्षायिकसम्यग्दृष्टि अहमिन्द्र। सौधर्म इन्द्र तो जन्मकल्याणक में आकर नाभिराय के दरबार में ताण्डव नृत्य करता है और सर्वार्थसिद्धि के अहमिन्द्र दीक्षाकल्याणक, ज्ञानकल्याणक और मोक्षकल्याणक में भी नहीं आते, दिव्यध्वनि सुनने तक नहीं आते ।

संयोग और संयोगीभावों में महान अन्तर होने पर भी दोनों की भूमिका एक ही है, एक-सी ही है। अतः संयोगीभावों के आधार पर राग या वैराग्य का निर्णय करना उचित नहीं है, ज्ञानी-अज्ञानी का निर्णय भी संयोग और संयोगीभावों के आधार पर नहीं किया जा सकता ।

- पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव, पृष्ठ ३८

समयसार गाथा २३ से २५

अण्णाणमोहिदमदी मज्झमिणं भणदि पोग्गलं दव्वं ।
बद्धमबद्धं च तहा जीवो वहुभावसंजुत्तो ॥२३॥
सव्वण्हुणाणदिट्ठो जीवो उवओगलक्खणो णिच्चं ।
कह सो पोग्गलदव्वीभूदो जं भणसि मज्झमिणं ॥२४॥
जदि सो पोग्गलदव्वीभूदो जीवत्तमागदं इदरं ।
तो सक्को वत्तुं जे मज्झमिणं पोग्गलं दव्वं ॥२५॥

(हरिगीत)

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय ।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहे ॥२३॥
सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह ।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे ? ॥२४॥
जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब ।
'ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं' - यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥

जिसकी मति अज्ञान से मोहित है और जो मोह-राग-द्वेष आदि अनेक भावों से युक्त है; ऐसा जीव कहता है कि ये शरीरादि बद्ध और धनधान्यादि अबद्ध पुद्गलद्रव्य मेरे हैं ।

उसे समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि सर्वज्ञ के ज्ञान द्वारा देखा गया जो सदा उपयोगलक्षणवाला जीव है, वह पुद्गलद्रव्यरूप कैसे हो सकता है कि जिससे तू कहता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

यदि जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो जाय और पुद्गलद्रव्य जीवत्व को प्राप्त करे तो तू कह सकता है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

पर यह तो संभव नहीं है; अतः तुम्हारा यह कहना ठीक नहीं है कि शरीरादि बद्ध और धनधान्यादि अबद्ध परपदार्थ मेरे हैं ।

गाथा और आत्मख्याति टीका का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"यह अज्ञानी जीव पुद्गलद्रव्य को अपना मानता है। यहाँ उसे उपदेश देकर सावधान किया है कि जड़ और चेतन द्रव्य - दोनों सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; कभी भी किसी भी प्रकार से एक नहीं होते - ऐसा सर्वज्ञ भगवान ने देखा है। इसलिए हे अज्ञानी ! तू परद्रव्य को एकरूप मानना छोड़ दे; व्यर्थ की मान्यता से बसकर ।

आचार्य जयसेन भी इन तीनों गाथाओं के शब्दार्थ को स्पष्ट करने के उपरान्त निष्कर्ष के रूप में कहते हैं -

"जिसप्रकार बरसात में नमक जलरूप हो जाता है और गर्मियों में वही जल फिर नमकरूप हो जाता है; उसीप्रकार यदि जीव चेतनता छोड़कर पुद्गलद्रव्यरूप हो जावे और पुद्गल मूर्तपने को छोड़कर चेतनरूप हो जावे तो तेरा कहना सत्य हो सकता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

किन्तु हे दुरात्मन् ! ऐसा कभी होता नहीं है; क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष ही विरोध भासित होता है अर्थात् प्रत्यक्षप्रमाण से ही विरोध आता है। हम तो स्पष्ट देख रहे हैं कि शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाववाला अमूर्तजीव इस जड़ देह से एकदम भिन्न ही है ।"

गाथा की भावना को आत्मसात करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अनेक उदाहरणों से गाथा के मर्म को खोलते हुए कहते हैं -

"जिसप्रकार स्फटिक पाषाण में अनेक प्रकार के रंगों की निकटता के कारण अनेकरूपता दिखाई देती है, स्फटिक का निर्मलस्वभाव दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार एक ही साथ अनेकप्रकार की बंधन की उपाधि की अतिनिकटता से वेगपूर्वक बहते हुए अस्वभावभावों के संयोगवश अपने स्वभावभाव के तिरोभूत हो जाने से, जिसकी भेदज्ञानज्योति पूर्णतः अस्त हो गई है और अज्ञान से विमोहित है हृदय जिसका; - ऐसा अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) जीव स्वपर का भेद न करके उन अस्वभावभावों को अपना मानता हुआ पुद्गलद्रव्य में अपनापन स्थापित करता है ।

ऐसे अज्ञानीजीव को समझाते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि हे दुरात्मन् ! घास और अनाज को परम–अविवेकपूर्वक एकसाथ खानेवाले हाथी के समान तू स्व और पर को मिलाकर एक देखने के इस स्वभाव को छोड़ ! छोड़ !! संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से संपूर्णतः रहित एवं विश्व की एकमात्र अद्वितीय ज्योति – ऐसे सर्वज्ञ के ज्ञान में जाना गया नित्य उपयोगलक्षण जीवद्रव्य पुद्गल कैसे हो गया, जो तू कहता है, अनुभव करता है कि पुद्गलद्रव्य मेरा है ।

यदि किसी भी प्रकार से जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप हो और पुद्गलद्रव्य जीवरूप हो; तभी 'नमक के पानी' के अनुभव की भाँति तेरी यह अनुभूति ठीक हो सकती है कि यह पुद्गलद्रव्य मेरा है; किन्तु ऐसा तो किसी भी प्रकार से बनता नहीं है ।

अब इसी बात को और अधिक स्पष्ट करते हैं। जिसप्रकार खारापन है लक्षण जिसका, ऐसा नमक पानीरूप होता दिखाई देता है और प्रवाहीपन *है लक्षण जिसका ऐसा पानी नमकरूप होता दिखाई देता है; क्योंकि खारेपन* और प्रवाहीपन में एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है, कोई बाधा नहीं है। किन्तु नित्य उपयोगलक्षणवाला जीवद्रव्य पुद्गलद्रव्यरूप होता दिखाई नहीं देता और नित्य अनुपयोगलक्षणवाला पुद्गलद्रव्य जीवद्रव्यरूप होता हुआ दिखाई नहीं देता; क्योंकि प्रकाश और अंधकार की भाँति उपयोग और अनुपयोग का एक ही साथ रहने में विरोध है। इसकारण जड़ और चेतन कभी एक नहीं हो सकते ।

इसलिए तू सर्वप्रकार प्रसन्न हो, अपने चित्त को उज्ज्वल करके सावधान हो और स्वद्रव्य को ही 'यह मेरा है' इसप्रकार अनुभव कर ।"

इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव का हृदय आन्दोलित हो उठा है। तभी तो वे एक ओर 'हे दुरात्मन्' इस शब्द का उपयोग करते हैं वहीं दूसरी ओर 'प्रसीद' 'विबुध्यस्व' इन प्रेरणादायक कोमल शब्दों का उपयोग करते हैं, जिसका अर्थ होता है प्रसन्न होवो, चित्त को शान्त करो; समझो, सावधान होवो; नादानी न करो ।

इसके तत्काल बाद जो कलश उन्होंने लिखा है, उसमें भी अत्यन्त कोमल शब्दों में समझाया है ।

टीका में गाथा का भाव एकदम स्पष्ट हो गया है; क्योंकि इसमें स्फटिक पाषाण, हाथी आदि पशु, नमक के पानी तथा प्रकाश और अंधकार का उदाहरण देकर बात को एकदम सरल एवं बोधगम्य बना दिया गया है ।

यद्यपि स्फटिक पाषाण एकदम निर्मल होता, स्वच्छ होता है; तथापि अनेक पदार्थों के संयोग के कारण अनेक रंगोंमय दिखाई देता है; उसका मूल-स्वभाव तिरोहित हो जाता है, दिखाई नहीं देता है; इसकारण स्फटिक के स्वभाव को न जाननेवाले लौकिकजन उसे अनेक वर्णवाला ही मान लेते हैं। उसीप्रकार भेदविज्ञान की ज्योति से रहित अज्ञानीजन भी आत्मा के मूलस्वभाव को निर्मल - स्वच्छस्वभाव को न जानने के कारण अनादिबंधन की उपाधि से होनेवाले विभावभावों को ही आत्मा का स्वभाव मान लेते हैं और इसीकारण पुद्‌गलद्रव्य में अपनापन स्थापित कर लेते हैं ।

जिसप्रकार हाथी आदि पशु अनाज मिश्रित घास खाते हैं; पर उस मिश्रितस्वाद में यह भेद नहीं कर पाते हैं कि इसमें घास का स्वाद क्या है और अनाज का स्वाद क्या है। वे उस मिश्रितस्वाद को घास का ही स्वाद समझते हैं; इसीप्रकार आत्मा और पुद्‌गल को एक साथ जाननेवाले अज्ञानीजन भेदविज्ञान के अभाव में दोनों की भिन्न पहिचान नहीं कर पाते हैं और पुद्‌गल में अपनापन स्थापित कर लेते हैं ।

खारा पानी जमकर नमक बन जाता है और वह नमक घुलकर पानी हो जाता है; क्योंकि प्रवाहीपन और नमक के खारेपन का एकसाथ रहने में कोई विरोध नहीं है; परन्तु आत्मा चेतन है और पुद्‌गल अचेतन है तथा चेतन और अचेतन का एकसाथ होने में प्रकाश और अंधकार के समान प्रत्यक्ष विरोध है। अतः पुद्‌गल को आत्मा और आत्मा को पुद्‌गल नहीं माना जा सकता है ।

ऐसी स्थिति में पुद्‌गलद्रव्य को अपना कहना युक्तिसंगत नहीं है, शास्त्रसंमत भी नहीं है; अपितु प्रत्यक्षादि प्रमाणों से असिद्ध है, विरुद्ध है।

इसलिए पुद्‌गलद्रव्य में अपनापन स्थापित करना अज्ञान है, मिथ्यात्व है, अनंतसंसार का कारण है ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की आत्मख्याति नामक टीका में पुद्‌गल का लक्षण अनुपयोग बताते हैं। इसका रहस्य उद्‌घाटित करते हुए स्वामीजी समझाते हैं -

"यहाँ पुद्‌गल का अर्थ जड़ (स्पर्श, रस, गंध, वर्णवाला पुद्‌गल) नहीं; अपितु अन-उपयोगस्वरूप दया, दान, व्रतादिक परिणाम हैं। ये स्वयं को अथवा पर को नहीं जानते; इसकारण इन्हें जड़, अचेतन या पुद्‌गल कहा है। ये रागादि परिणाम चैतन्य - उपयोगस्वरूप से भिन्न चीज हैं ।

यहाँ कहते हैं कि भगवान ने तो तुझे उपयोगस्वरूप देखा है, पर तू यह झूठी मान्यता कहाँ से लाया कि मैं तो रागस्वरूप हूँ। वर्तमान पर्याय ने उपयोग में दया, दान, व्रतादि के राग को लक्ष्य में लेकर 'यह राग मेरा अस्तित्व' - ऐसा माना तो यह तो पुद्‌गल का ही अनुभव हुआ, भगवान आत्मा का अनुभव तो रह ही गया ।[१]

जो ज्ञानपर्याय जिस आत्मद्रव्य की है, उस ज्ञानपर्याय ने उसी आत्मद्रव्य को ज्ञेय न बनाकर जो राग उसमें नहीं है, उस राग को ज्ञेय बनाया और उसी में एकत्वबुद्धि की - यही मिथ्यात्व है। ऐसी मान्यतावाले जीव मिथ्यादृष्टि हैं। पूर्णानन्द के नाथ त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को दृष्टि में लेकर 'यह आत्मा मैं हूँ' - ऐसा जिस पर्याय ने स्वीकार किया, वह पर्याय सत्य हुई; क्योंकि उस पर्याय में सत्य की स्वीकृति है; और यही पर्याय सम्यग्दर्शन है, धर्म है ।[२]

यह शरीर, स्त्री, लड़का, ग्राम और देश तो कितने दूर हैं, प्रगट पर हैं; जो इनको भी अपना माने, उनकी मूर्खता का तो कोई ठिकाना नहीं। प्रभु! यह तो तेरी मूल में ही भूल है। यहाँ तो सूक्ष्म बात की है। यह जीव-अधिकार है; इसलिए कहते हैं कि ये व्रत-तप आदि के विकल्प अजीव हैं, जीव नहीं;

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ ३६०
२. वही, पृष्ठ ३६२

क्योंकि यदि ये जीव हों तो भिन्न नहीं हो सकते, किन्तु ये तो भिन्न हो जाते हैं; अतः ये दोनों सर्वथा जुदे-जुदे हैं, किसी भी प्रकार एक नहीं हैं ।[1]"

आचार्यदेव सर्वज्ञ भगवान की साक्षी देकर समझाते हैं कि सर्वज्ञभगवान के ज्ञान में तो यह आया है कि जीव सदा ही उपयोगलक्षणवाला है और पुद्गल में, रागादि में ज्ञानदर्शन-उपयोग है ही नहीं; फिर तू उसे अपना कैसे कह सकता है ? अतः अब तू पुद्गल को, रागादि को अपना मानना छोड़ और उससे भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी निज भगवान आत्मा का अनुभव कर ।

यही बात आगामी कलश में भी कही जा रही है कि कैसे भी हो, मरपच कर भी; देह से भिन्न निज भगवान आत्मा का अनुभव कर ।

आत्मानुभव की पावन प्रेरणा देनेवाला वह कलश मूलतः इसप्रकार है -

(मालिनी)

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भवमूर्तेः पार्श्ववर्ती मुहूर्तम् ।
पृथगथ विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम् ॥ २३ ॥

(हरिगीत)

निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का ।
हे आत्मन् ! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का ॥
जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही ।
तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को ॥ २३ ॥

अरे भाई ! किसी भी प्रकार महाकष्ट से अथवा मरकर भी निजात्मतत्त्व का कौतूहली होकर इन शरीरादि मूर्त द्रव्यों का एक मुहूर्त को पड़ोसी बनकर आत्मा का अनुभव कर; जिससे तू अपने आत्मा के विलास को सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इन शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्यों के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग १, पृष्ठ ३६९

आचार्यदेव करुणा से अत्यन्त विगलित हो मर्मस्पर्शी कोमल शब्दों में समझा रहे हैं कि अरे भाई ! मरणतुल्य कष्ट हो तो भी एकबार पर से भिन्न अपने आत्मा को समझने का उग्र पुरुषार्थ करो। आत्मा के समझने में न तो कोई कष्ट ही होनेवाला है और न मृत्यु होने की बात ही है; तथापि आचार्यदेव ऐसा कहकर आत्मज्ञान की महिमा बता रहे हैं, उपयोगिता बता रहे हैं; यह कह रहे हैं कि मृत्यु की कीमत पर भी यदि आत्मज्ञान प्राप्त होता हो तो भी करना; क्योंकि उसके बिना दुख दूर होनेवाला नहीं है और आत्मज्ञान होने पर कोई कष्ट रहनेवाला नहीं है। अतः जैसे भी बने आत्मा का अनुभव करने का उग्र पुरुषार्थ करना चाहिए।

जगत के पदार्थों को जानने का कौतूहल तो लोक में सर्वत्र पाया जाता है, पर उनके जानने से आत्मा को कोई लाभ नहीं होता, संसारसागर की एक बूंद भी कम नहीं होती और अपने आत्मा को अनुभवपूर्वक जानने से सम्पूर्ण संसारसागर सूख जाता है। अतः हे भव्यजीवो ! कौतूहल में ही सही एकबार आत्मा को जानने का पुरुषार्थ तो करो। आत्मतत्त्व का कौतूहली बनकर और शरीरादि परपदार्थों का पड़ौसी बनकर एकबार आत्मा का अनुभव करके तो देखो, तुम्हारा जीवन बदल जावेगा।

अबतक तो तुमने देह में एकत्वबुद्धि की है, अहंबुद्धि की है, ममत्वबुद्धि की है, स्वामित्वबुद्धि की है; पर इससे अनन्तदुखों के अलावा तुम्हें क्या मिला ? एकबार इस बात पर गंभीरता से विचार करो और एकबार इस देह के पड़ौसी बनकर देखो तो तुम्हारा इसमें जो एकत्व का मोह है, वह अवश्य ही टूट जावेगा, छूट जावेगा और अतीन्द्रिय आनन्द की कणिका जगेगी, जो आगे जाकर आनन्द के सागर में परिणमित हो जावेगी।

जिसप्रकार हम पड़ौसी को अपना भी नहीं मानते और उससे असद्व्यवहार भी नहीं करते; उसीप्रकार इस देह में एकत्वबुद्धि भी नहीं रखना और इससे असद्व्यवहार भी नहीं करना। इससे पड़ौसी धर्म तो निभाना, पर इसे अपने घर में नहीं बिठा लेना। हमें पक्का विश्वास है कि

यदि तुम एकबार भी परद्रव्यों से भिन्न अपने भगवान आत्मा का विलास देखोगे, वैभव देखोगे, तो अवश्य ही पर से एकत्व के मोह को छोड़ दोगे। अतः भाई ! तुम हमारी बात सुनो और एकबार आत्मतत्त्व के कौतूहली बनकर उसे देह से भिन्न अनुभव करो; तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा ।

यदि पड़ौसी का जीवन खतरे में हो तो हम उसकी सुरक्षा करते हैं, उसे जीवनयापन में सहज सहयोग करते हैं; पर उसके लिए अपना जीवन बरबाद नहीं करते; उसके लिए भोगसामग्री नहीं जुटाते। इसीप्रकार इस देह की सुरक्षा के लिए शुद्धसात्विक आहार का ग्रहण अवश्य करो; पर इसके पीछे अभक्ष्यादि का भक्षण कर नर्क-निगोद जाने की तैयारी मत करो। इसे शत्रु भी मत मानो, इससे शत्रु जैसा व्यवहार भी मत करो और घरवाला भी मत मानो, घरवालों जैसा भी व्यवहार न करो। बस, पड़ौसी जैसा व्यवहार करो - यही उचित है ।

इसके लिए जीवन का सर्वस्व समर्पण करना उचित नहीं है, सर्वस्व समर्पण तो निज भगवान आत्मा पर ही करना है ।

इसमें एक मुहूर्त अर्थात् दो घड़ी आत्मा का अनुभव करने की बात कही है; क्योंकि एक अन्तर्मुहूर्त तक आत्मध्यान करने से केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इसी बात को ध्यान में रखकर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इसी कलश के भावार्थ में लिखते हैं -

"यदि यह आत्मा दो घड़ी पुद्‌गलद्रव्य से भिन्न अपने शुद्धस्वरूप का अनुभव करे (उसमें लीन हो) परीषह आने पर भी डिगे नहीं, तो घातियाकर्म का नाश करके, केवलज्ञान उत्पन्न करके मोक्ष को प्राप्त हो। जब आत्मनुभूति की ऐसी महिमा है, तब मिथ्यात्व का नाश करके सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होना तो सुगम ही है। इसलिए श्रीगुरु ने प्रधानता से यही उपदेश दिया है ।"

प्रश्न – केवलज्ञान तो अन्तर्मुहूर्त में होता है, किन्तु यहाँ एक मुहूर्त तक अनुभव करने की बात कही है। ऐसा क्यों है ?

उत्तर – अन्तर्मुहूर्त माने मुहूर्त के भीतर ही। जब एक मुहूर्त के भीतर ही केवलज्ञान होता है तो फिर जो एक मुहूर्त लगातार आत्मध्यान करेगा, उसके तो होना ही है। अतः इसप्रकार के कथन में कोई दोष नहीं है ।

ध्यान रहे, एक घड़ी २४ मिनट की होती है और दो घड़ियों का एक मुहूर्त होता है ।

प्रश्न – कलश टीका में तो अनुभव को सहजसाध्य कहा है और यहाँ आचार्य उग्र पुरुषार्थ करने की बात कह रहे हैं ?

उत्तर – इसी कलश की टीका में कलशटीकाकार उक्त शंका का समाधान इसप्रकार करते हैं –

"भावार्थ इसप्रकार है कि शुद्धचैतन्य का अनुभव तो सहजसाध्य है, यत्नसाध्य तो नहीं; पर इतना कहकर यहाँ अत्यन्त उपादेयपने को दृढ़ किया है ।"

वस्तुतः बात यह है कि सहजसाध्य और पुरुषार्थ में कोई विरोध नहीं है; क्योंकि आत्मानुभव का पुरुषार्थ भी सहज ही होता है अथवा सहज होना ही आत्मानुभूति का सम्यक्पुरुषार्थ है। जब हमारी दृष्टि में आत्मानुभव अत्यन्त उपादेयपने स्थापित हो जावेगा तो अन्तर में रुचि की तीव्रता से अन्तरोन्मुखी पुरुषार्थ सहज ही स्फुरित होगा। 'रुचि अनुयायी वीर्य' इस उक्ति के अनुसार वीर्य रुचि के अनुसार ही स्फुरायमान होता है ।

उक्त कलश के भाव को कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने नाटक समयसार में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

(सवैया इकत्तीसा)

"बानारसी कहै भैया भव्य सुनो मेरी सीख,
कैहूँ भाँति कैसे हूँ कै ऐसौ काजु कीजिए ।
एकहू मुहूरत मिथ्यात कौ विधुंस होइ,
ग्यान कौं जगाइ अंस हंस खोजि लीजिए ॥
वाही कौ विचार वाकौ ध्यान यहै कौतूहल,
यौं ही भरि जनम परम रस पीजिए ।
तजि भव-वास कौ विलास सविकाररूप,
अंतकरि मोह कौ अनन्तकाल जीजिए ॥२४॥

पण्डित बनारसीदासजी कहते हैं कि हे भाई ! हे भव्यजीवो !! तुम मेरी सीख ध्यान से सुनो। किसी भी तरह कुछ भी करके ऐसा कार्य अवश्य करो कि एक मुहूर्त को मिथ्यात्व का नाश होकर ज्ञान का अंश जागृत हो जावे और आत्मरूपी हंस की प्राप्ति हो जावे ।

एकबार ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाने पर फिर जन्मभर उस ही का विचार करते रहो, उस ही का ध्यान करते रहो, उसी में क्रीड़ा करते रहो; - इसप्रकार सम्पूर्ण जीवन भर अतीन्द्रिय आनन्दरूपी परमरस का पान करते रहो। राग-द्वेष रूप विलास एवं संस्कार का वास छोड़कर तथा मोह का नाश कर अनन्तकाल तक सच्चा जीवन जीते रहो। सच्चा जीवन तो आत्मानुभवी ज्ञानी धर्मात्माओं का ही है, शेष सब तो भवभ्रमण ही है ।

मोहभाव की उत्पत्ति ही मरण है, भावमरण है और मोह का अभाव ही जीवन है, सुखी जीवन है, शान्त जीवन है। इसीलिए यहाँ कहा गया है कि मोह का नाश कर अनन्तकाल तक अनन्त-आनन्दमय जीवन जीने का सौभाग्य प्राप्त करो ।

प्रश्न – मोह का नाश किसप्रकार करें ? मोह के नाश का उपाय क्या है, सम्यक्पुरुषार्थ क्या है ?

उत्तर – शरीरादि परपदार्थों और उनके लक्ष्य से होने वाले मोह-राग-द्वेषादि भावों में अपनापन ही मोह है, उनमें एकत्वबुद्धि और ममत्वबुद्धि ही मोह है। इस मोह के नाश का उपाय किसी प्रकार का कोई क्रियाकाण्ड नहीं है, व्रत-शील संयमादि भी नहीं है, जप-तप तीर्थयात्रा भी नहीं है, किसी की सेवा-चाकरी आदि भी नहीं है। इस मोह के नाश का उपाय तो पर से भिन्न, राग से भिन्न, पर्याय से पार एवं सर्वपर्यायों में एकाकार तथा गुणभेद से भिन्न, प्रदेशभेद से भिन्न अनन्तगुणात्मक असंख्यातप्रदेशी एक भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित करना, उसी का विचार करना, उसी का मंथन करना, घोलन करना, उसी का ध्यान करना; - इसीप्रकार जीवन भर उसी का रसपान करते रहना है ।

इसलिए हे भाई ! तुम अपने ज्ञान के परमशुद्धनिश्चयनयरूप अंश को जगाकर निज भगवान आत्मा, त्रिकाली शुद्धज्ञायकभावरूपी हंस को खोज लो। अरे भाई ! अब जग जाइये, उसी के रस में पग जाइये, उसी में समा जाइये; क्योंकि मिथ्यात्व के नाश का एक यही सम्यक्पुरुषार्थ है ।

यदि एक मुहूर्त के लिए भी तेरे इस मिथ्यात्व का नाश हो गया तो तेरा कल्याण हुए बिना न रहेगा, तू अनन्तसुखी हुए बिना न रहेगा, तुझे मुक्ति की प्राप्ति होगी, होगी, अवश्य होगी; क्योंकि मार्ग यही है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं ।

अतः हे भाई ! जैसे भी बने मरपच कर भी यह कार्य अवश्य करो, इससे तुम्हारा कल्याण होगा । •

मेरी भावना

भाई ! अनन्त शान्ति और सुख प्राप्त करने का तो एकमात्र यही मार्ग है। अतः मेरी तो यही भावना है कि यह आध्यात्मिक परमसत्य, त्रैकालिक परमसत्य, ज्ञानानन्दस्वभावी, ध्रुव, आत्मतत्त्व - जिन्हें खोजना है, वे खोजें; जानना है, वे जानें; पाना है, वे पावें। जिन्होंने खोज लिया हो, पा लिया हो, वे उसी में जम जावें, रम जावें, समा जावें और अनन्तसुखी हों, शान्त हों ।

- सत्य की खोज, पृष्ठ २२८

समयसार गाथा २६

जदि जीवो ण सरीरं तित्थयरायरिय संथुदी चेव ।
सव्वा वि हवदि मिच्छा तेण दु आदा हवदि देहो ॥२६॥

(हरिगीत)

यदि देह ना हो जीव तो तीर्थंकरों का स्तवन ।
सब असत् होगा इसलिए बस देह ही है आतमा ॥२६॥

अज्ञानी जीव कहता है कि यदि जीव शरीर नहीं है तो तीर्थंकरों और आचार्यों की जिनागम में जो स्तुति की गई है; वह सभी मिथ्या है। इसलिए हम समझते हैं कि देह ही आत्मा है।

पिछली गाथाओं में देह और आत्मा की भिन्नता की बात विस्तार से समझाई गई है और यह प्रेरणा भी दी गई है कि हे भाई तू कैसे भी करके मरपच के भी इस देह से एकत्व के मोह को छोड़ दे ।

उक्त संदर्भ में अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) का कहना यह है कि जैनशास्त्रों में देह के गुणों के आधार पर भी तीर्थंकर भगवन्तों एवं आचार्यों की स्तुति की गई है, ऐसी स्थिति में यदि देह को जीव नहीं मानेंगे तो वह स्तुति मिथ्या सिद्ध होगी। अतः भलाई इसी में है कि हम देह को ही जीव स्वीकार कर लें ।

आचार्य अमृतचन्द्र इस गाथा की आत्मख्याति टीका लिखते हुए एक छन्द के माध्यम से यह स्पष्ट करते हैं कि देह के आश्रय से तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति किसप्रकार की जाती है। वह छन्द इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

कांत्यैव स्नपयन्ति ये दशदिशो धाम्ना निरुंधंति ये ।
धामोद्दाममहस्विनां जनमनो मुष्णंति रूपेण ये ॥
दिव्येन ध्वनिना सुखं श्रवणयोः साक्षात्क्षरन्तोऽमृतं ।
वंद्यास्तेऽष्टसहस्रलक्षणधरास्तीर्थेश्वराः सूरयः ॥ २४॥

(हरिगीत)

लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से ।
जो हरे निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से ॥
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें ।
उन सहसअठ लक्षणसहित जिनसूरि को वन्दन करें ॥ २४॥

वे तीर्थंकर और आचार्यदेव वन्दना करने योग्य हैं जो कि अपने शरीर की कान्ति से दशों दिशाओं को धोते हैं, निर्मल करते हैं; अपने तेज से उत्कृष्ट तेजवाले सूर्यादिक को भी ढक देते हैं; अपने रूप से जन-जन के मन को मोह लेते हैं, हर लेते हैं; अपनी दिव्यध्वनि से भव्यजीवों के कानों में साक्षात् सुखामृत की वर्षा करते हैं तथा एक हजार आठ लक्षणों को धारण करते हैं।

उक्त छन्द में लगभग सभी विशेषण तीर्थंकर अरहंत देव की मुख्यता से ही आये हैं, तथापि 'सूरयः' शब्द से आचार्य भगवन्तों को भी ग्रहण कर लिया गया है । मूल गाथा में भी 'आयरिय' शब्द हैं; किन्तु कलश में जो विशेषण दिये हैं, वे आचार्यों पर घटित नहीं होते हैं । इसीकारण कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी ने 'सूरयः' शब्द को तीर्थंकर अरहंतों का ही विशेषण मानकर उसका अर्थ मोक्षमार्ग के उपदेष्टा किया है। चूंकि नाटक समयसार कलशटीका को आधार बनाकर लिखा गया है; अतः उसमें भी तीर्थंकरों को ही आधार बनाया गया है । नाटक समयसार का छन्द मूलतः इसप्रकार है -

(सवैया इकतीसा)

जाकी देहद्युति सौं दसौं दिसा पवित्र भई,
जाके तेज आगैं सब तेजवन्त रुके हैं ।
जाकौ रूप निरखि थकित महारूपवन्त,
जाकी वपुवास सौं सुवास और लुके हैं ॥
जाकी दिव्यधुनि सुनि श्रवण कौं सुख होत,
जाके तनलच्छन अनेक आइ ढुके हैं ।
तेई जिनराज जाके कहे विवहार गुन,
निहचै निरखि सुद्ध-चेतन सौं चुके हैं ॥

जिसके शरीर की कान्ति से दशों दिशायें पवित्र हो गई हैं, प्रकाशित हो गई हैं; जिसके शरीर के तेज से सभी तेजवंत पदार्थ अवरुद्ध हो गये हैं; जिसके शरीर के रूप को देखकर महारूपवान भी थक गये हैं, हार गये हैं; जिसके शरीर की सुगंध से सभी सुगंधियाँ छिप गई हैं; जिनकी दिव्यध्वनि को सुनकर कानों को सुख प्राप्त होता है, जिनके वचन कर्णप्रिय हैं; जिनके शरीर में अनेक शुभलक्षण प्रगट हो गये हैं; वे जिनराज हैं।

ये शारीरिक गुण जिन जिनराज तीर्थंकर भगवान के व्यवहार से बताये गये हैं; यदि निश्चय से विचार करें तो ये शारीरिक गुण जिनराज के नहीं हैं, तीर्थंकर भगवान के नहीं हैं, भगवान आत्मा के नहीं हैं ।

आचार्य जयसेन इस बात को स्पष्ट करने के लिए न तो किसी स्वतंत्र छन्द की रचना करते हैं और न आचार्य अमृतचन्द्र के उक्त छन्द को ही उद्धृत करते हैं; अपितु तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति में स्तुति-साहित्य में प्रसिद्ध छन्द और गाथा के आरंभिक अंशों को उद्धृत कर अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। तीर्थंकरों की स्तुति के लिए जिस छन्द का आरंभिक अंश उद्धृत किया है, चौबीस तीर्थंकरों के शरीर के रंग का वर्णन करनेवाला वह छन्द मूलतः इसप्रकार है –

(शार्दूलविक्रीड़ित)

"द्वौ कुन्देन्दुतुषारहारधवलौ द्वाविन्द्रनीलप्रभौ ।
द्वौ बन्धूकसमप्रभौ जिनवृषौ द्वौ च प्रियङ्गुप्रभौ ॥
शेषाः षोडश जन्ममृत्युरहिताः संतप्तहेमप्रभा ।
स्ते संज्ञानदिवाकराः सुरनुताः सिद्धिं प्रयच्छन्तु नः ॥[१]

दो तीर्थंकर कुन्दपुष्प, चन्द्रमा, बर्फ एवं मुक्ताहार के समान श्वेत वर्ण वाले हैं; दो तीर्थंकर इन्द्रनीलमणि के समान नीलवर्ण के हैं; दो तीर्थंकर बन्धूक पुष्प के समान लाल वर्णवाले हैं; दो तीर्थंकर प्रियंगु पुष्प के समान हरे रंग के हैं और शेष सोलह तीर्थंकर स्वर्ण के समान वर्णवाले हैं ।

---

१. मंगलाष्टक : ज्ञानपीठ पूजान्जली, पृष्ठ ६७

ये सभी तीर्थंकर जन्म-मृत्यु से रहित हैं, सम्यग्ज्ञानरूपी सूर्य हैं और देवों से वन्दनीय हैं। ये सभी हमें सिद्धि प्रदान करें ।"

उक्त छन्द का लोकप्रचलित हिन्दी भावानुवाद इसप्रकार है –

(दोहा)

दो गौरे दो लाल हैं दो हरियल दो श्याम ।
सोलह कंचनवरण हैं बन्दों आठों याम ॥

आचार्यों की स्तुति से सम्बन्धित वह गाथा मूलतः इसप्रकार है –

"देसकुलजाइसुद्धा विसुद्धमणवयणकाय संजुत्ता ।
तुम्हं पायपयोरुहमिह मंगलमत्थु मे णिच्चं ॥[१]

देश, कुल और जाति से शुद्ध; मन, वचन और काय की विशुद्धता से संयुक्त हे आचार्यदेव ! आपके चरणकमल इस लोक में मेरे लिए नित्य मंगलमय हों ।"

उक्त दोनों उद्धरणों में तीर्थंकर अरहंत एवं आचार्यदेव की स्तुति शरीराश्रित गुणों के आधार पर ही की गई है । और भी अनेक उद्धरण इसप्रकार के उपलब्ध होते हैं। ये सभी स्तुतियाँ भी समर्थ मुनिराजों और ज्ञानी विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। यदि देह को ही आत्मा नहीं माना गया तो ये सभी स्तुतियाँ गलत सिद्ध होगी। अतः यह ठीक ही है कि हम यह स्वीकार कर लें कि शरीर ही आत्मा है। हमारा तो एकान्त से यही निश्चय है – ऐसा अप्रतिबुद्ध का कहना है ।

नयविभाग से अपरिचित अप्रतिबुद्ध शिष्य ने अद्यावधि उपलब्ध स्तुति साहित्य को आधार बनाकर देह में अनादिकालीन एकत्वबुद्धि का ही पोषण किया है। नयविभाग से अपरिचित अज्ञानीजन जिनागम का अभ्यास करके भी

१. दशभक्ति : आचार्यभक्ति : धर्मध्यान दीपक; पृष्ठ ३१० (प्रकाशक- शान्तिवीरनगर, महावीरजी – राजस्थान)

इसीप्रकार अनादिकालीन अगृहीत मिथ्यात्व का पोषण करते हैं; इसीकारण जैन होकर भी, जैन शास्त्रों को पढ़कर भी गृहीत मिथ्यादृष्टि ही रहते हैं। इन्हीं को लक्ष्य में रखकर पण्डित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक में सातवाँ अधिकार लिखा है। इस सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिए मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें-आठवें अधिकार का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए। •

व्यवहार की वास्तविकता

यहाँ व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय ही को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसही को जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादिक को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है, परमार्थ से शरीरादिक जीव होते नहीं – ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किये, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के अर्थ किये हैं। निश्चय से आत्मा अभेद ही है; उस ही को जीव वस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं, – ऐसा ही श्रद्धान करना।

तथा परद्रव्य का निमित्त मिटाने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादिक को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना; क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा परद्रव्य का कर्त्ता-हर्ता हो जाये। परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; इसलिये आत्मा जो अपने भाव रागादिक हैं उन्हें छोड़कर वीतरागी होता है; इसलिये निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्ष्मार्ग है। वीतरागभावों के और व्रतादिक के कदाचित् कार्य-कारणपना है, इसलिये व्रतादि को मोक्षमार्ग कहे सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से वाह्यक्रिया मोक्षमार्ग नहीं है – ऐसा ही श्रद्धान करना।

– मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २५२

समयसार गाथा २७

अप्रतिबुद्ध के उक्त कथन के उत्तर में आचार्य अमृतचन्द्र की लेखनी से एक ही वाक्य प्रस्फुटित होता है कि – "ऐसा नहीं है, तुम नयविभाग से अनभिज्ञ हो – नयविभाग को नहीं जानते हो" – इसकारण ही ऐसी बातें करते हो । मूल समस्या नयविभाग से अनभिज्ञता की ही है । नयविभाग को समझे बिना देह में एकत्वबुद्धि जैसे अज्ञान का, अगृहीत मिथ्यात्व का पोषण हो जाता है। अतः नयों का स्वरूप जानना अत्यन्त आवश्यक है ।

'द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र' में तो यहाँ तक लिखा है कि –

"जे णयदिट्ठिविहीणा ताण ण वत्थूसहावउवलद्धि ।
वत्थुसहावविहूणा सम्मादिट्ठी कहं हुंति ॥ १८१ ॥

जो व्यक्ति नयदृष्टि से विहीन हैं, उन्हें वस्तुस्वरूप का सही ज्ञान नहीं हो सकता और वस्तु स्वरूप को नहीं जाननेवाले सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं ?"

अतः नयविभाग का जानना अत्यन्त आवश्यक है ।

वह नयविभाग क्या है ? – इसके उत्तर में ही २७वीं गाथा का अवतार हुआ है, जो इसप्रकार है –

ववहारणओ भासदि जीवो देहो य हवदि खलु एक्को ।
ण दु णिच्छयस्स जीवो देहो य कदा वि एक्कट्ठो ॥२७॥

(हरिगीत)

'देह-चेतन एक हैं' – यह वचन है व्यवहार का ।
'ये एक हो सकते नहीं' – यह कथन है परमार्थ का ॥२७॥

व्यवहारनय तो यह कहता है कि जीव और शरीर एक ही है; किन्तु निश्चयनय के अभिप्राय से जीव और शरीर कभी भी एक पदार्थ नहीं है ।

उक्त कथन के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि देह के गुणों के आधार पर की गई तीर्थंकरों और आचार्यों की स्तुति व्यवहारनय से सत्यार्थ है; क्योंकि व्यवहारनय से तो जीव और देह एक ही हैं । इसप्रकार वह स्तुति मिथ्या सिद्ध नहीं होगी । साथ ही यह बात भी है कि वह स्तुति मात्र व्यवहार से ही सत्यार्थ है। यदि कोई व्यक्ति निश्चय से भी उसे सत्य समझ ले तो वह मिथ्यादृष्टि ही रहेगा; क्योंकि फिर तो वह उसके आधार पर देह और जीव को निश्चय से भी एक ही मान लेगा और ऐसा मानने को तो जैनदर्शन में मिथ्यात्व कहा गया है। छहढाला में तो साफ-साफ कहा गया है कि -

''**देह जीव को एक गिने बहिरातम तत्त्वमुधा है ।** - देह और जीव को एक माननेवाला जीव बहिरात्मा है, तत्त्व के बारे में मूढ़ है।''

आत्मख्याति में सोने और चाँदी का उदाहरण देकर इस गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है-

''जिसप्रकार लोक में सोने और चाँदी को गलाकर एक कर देने से एक पिण्ड का व्यवहार होता है; उसीप्रकार आत्मा और शरीर की एकक्षेत्र में एक साथ रहने की अवस्था होने से एकपने का व्यवहार होता है। इसप्रकार मात्र व्यवहार से ही आत्मा और शरीर का एकपना है, परन्तु निश्चय से एकपना नहीं है; क्योंकि निश्चय से तो पीले स्वभाववाला सोना और सफेद स्वभाववाली चाँदी के परस्पर अत्यन्त भिन्नता होने से उनमें एक पदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः उनमें अनेकत्व ही है। इसीप्रकार उपयोगस्वभावी आत्मा और अनुपयोगस्वभावी शरीर में अत्यन्त भिन्नता होने से एकपदार्थपने की असिद्धि ही है; अतः अनेकत्व ही है। - ऐसा यह प्रगट नयविभाग है; अतः यह सुनिश्चित ही है कि व्यवहारनय से ही शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन होता है, निश्चयनय से नहीं ।''

आगे की तीन गाथाओं में इसी बात को सतर्क व सोदाहरण स्पष्ट किया गया है। अतः यहाँ विशेष विस्तार की आवश्यकता नहीं है । •

समयसार गाथा २८–२९

इणमण्णं जीवादो देहं पोग्गलमयं थुणित्तु मुणी ।
मण्णदि हु संथुदो वंदिदो मए केवलीभयवं ॥२८॥
तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणो थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

(हरिगीत)

इस आतमा से भिन्न पुद्गल रचित तन का स्तवन ।
कर मानना कि हो गया है केवली का स्तवन ॥२८॥
परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन ।
केवलि–गुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन ॥२९॥

जीव से भिन्न इस पुद्गलमय देह की स्तुति करके साधु ऐसा मानते हैं कि मैंने केवली भगवान की स्तुति की और वन्दना की ।

किन्तु वह स्तवन निश्चयनय से योग्य नहीं है; क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं होते। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है, वह परमार्थ से केवली की स्तुति करता है ।

आचार्य अमृतचन्द्र २७वीं गाथा की टीका में दिये गये चांदी के संयोगवाले सोने के उदाहरण को ही आगे बढ़ाकर इन गाथाओं के भाव को स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है –

"यद्यपि परमार्थ से सोना तो पीला ही होता है; तथापि उसमें मिली हुई चांदी की सफेदी के कारण सोने को भी सफेद सोना कह दिया जाता है; पर यह कथन व्यवहार मात्र ही है। उसीप्रकार सफेदी और लालिमा अथवा खून का सफेद होना आदि शरीर के ही गुण हैं। उनके आधार पर तीर्थंकर केवलीभगवान को सफेद, लाल कहकर अथवा सफेद खून वाला कहकर स्तुति

करना, मात्र व्यवहार स्तुति ही है । परमार्थ से विचार करें तो लाल-सफेद होना या सफेद खूनवाला होना तीर्थंकर केवली का स्वभाव नहीं है। इसलिए निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन नहीं होता ।

जिसप्रकार चाँदी की सफेदी का सोने में अभाव होने से निश्चय से सफेद सोना कहना उचित नहीं है, सोना तो पीला ही होता है; अतः सोने को पीला कहना ही सही है । इसीप्रकार शरीर के गुणों का केवली में अभाव होने से श्वेत-लाल कहने से अथवा सफेद खूनवाले कहने से केवली का स्तवन नहीं होता; केवली के गुणों के स्तवन करने से ही केवली का स्तवन होता है ।"

यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि तीर्थंकर केवली के शारीरिक गुणों के सन्दर्भ में आत्मख्याति टीका में 'शुक्ललोहित' शब्द का प्रयोग किया गया है, जिसका अर्थ टीकाकारों ने या तो सफेद और लाल रंग किया है या कि शुक्लरक्त लिखकर छोड़ दिया है । चूंकि दो तीर्थंकर सफेद रंग के हैं और दो लाल के; अतः यह अर्थ भी ठीक ही है । यद्यपि उक्त अर्थ में कोई आपत्ति नहीं हो सकती है; तथापि 'शुक्ललोहित' शब्द का अर्थ सफेद खून भी होता है, जो अरहंत के ४६ गुणों में आता है, जन्म के दश अतिशयों में आता है; अतः भगवान की स्तुति के रूप में यह अर्थ अधिक वजनदार हो सकता है। एक तो यह चौबीसों ही तीर्थंकरों में घटित हो सकता है और दूसरे सफेद-लाल रंग तो अन्य सामान्य पुरुषों के भी हो सकते हैं, पर सफेद खून का होना तो तीर्थंकरों के शरीर की असाधारण विशेषता है । यह विचारकर मैंने यहाँ दोनों अर्थों को स्थान दिया है। प्रथम स्थान तो परम्परागत अर्थ को ही दिया है, पर अथवा के रूप में सफेद खून वाला अर्थ भी दिया है ।

गाथाओं और टीका के अध्ययन से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि शरीर के रूपादि गुणों के आधार पर जो केवली भगवान का स्तवन शास्त्रों में पाया जाता है; वह सब असद्भूतव्यवहारनय का ही कथन है; परमार्थ से तो वह असत्यार्थ ही है ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यदि व्यवहार असत्यार्थ है तो फिर शास्त्रों में इसप्रकार की स्तुतियाँ क्यों पाई जाती हैं ?

इस प्रश्न के समाधान के लिए जयचन्दजी छाबड़ा द्वारा लिखित भावार्थ देखना उपयोगी रहेगा, जो इसप्रकार है –

"यहाँ कोई प्रश्न करे कि व्यवहारनय को तो असत्यार्थ कहा है और शरीर जड़ है, तब व्यवहाराश्रित स्तुति का क्या फल है ?

उसका उत्तर यह है कि व्यवहारनय सर्वथा असत्यार्थ नहीं है, उसे निश्चय को प्रधान करके असत्यार्थ कहा हैं। और छद्मस्थ को अपना और पर का आत्मा साक्षात् दिखाई नहीं देता है, शरीर दिखाई देता है; उसकी शान्तरूप मुद्रा देखकर अपने को भी शान्त भाव होते हैं । ऐसा उपकार समझकर शरीर के आश्रय से भी स्तुति की जाती है तथा शान्तमुद्रा को देखकर अन्तरंग में वीतरागभाव का निश्चय होता है – यह भी उपकार है ।"

यद्यपि यह बात सत्य है कि शरीर आत्मा नहीं है, तथापि यह भी सत्य ही है कि अरहंत अवस्था में भगवान आत्मा शरीर में ही विराजता है, एकप्रकार से वह शरीर का अधिष्ठाता ही है। देहादि संबंधी अतिशयों में भी आत्मा का पुण्योदय निमित्त होता है। अतः देहादि के आधार पर की गई स्तुति को सर्वथा नकारना संभव नहीं है ।

दूसरी बात यह है कि भव्यजनों को अमूर्तिक आत्मा तो दिखाई देता नहीं है; उन्हें तो उस देह के ही दर्शन होते हैं, जिसमें वह भगवान आत्मा विराजमान है। अतः व्यवहार से उस देहदर्शन को ही देवदर्शन कहते हैं ।

अरहंत भगवान की दिव्यध्वनि से भी भव्यजीवों को धर्मलाभ होता है, देशना प्राप्त होती है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में देशनालब्धि आवश्यक मानी गई है ।

अतः देवदर्शन और दिव्यध्वनिश्रवण के लाभ को ध्यान में रखकर ही देहादि को आधार बनाकर देवाधिदेव अरहंत देव की स्तुति की जाती है; पर वह है तो पराश्रित व्यवहार ही, उसे निश्चय के समान सत्यार्थ स्वीकार नहीं किया जा सकता है । •

समयसार गाथा ३०

यहाँ एक प्रश्न यह भी संभव है कि जब शरीर में ही भगवान आत्मा विराजता है, एकप्रकार से जब वह शरीर का अधिष्ठाता ही है; तब निश्चय से शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन क्यों नहीं हो सकता ?

इसी प्रश्न के उत्तर में ३०वीं गाथा का जन्म हुआ है; जो इसप्रकार है –

णयरम्मि वण्णिदे जह ण वि रण्णो वण्णणा कदा होदि ।
देहगुणे थुव्वंते ण केवलिगुणा थुदा होंति ॥ ३० ॥

(हरिगीत)

वर्णन नहीं है नगरपति का नगर-वर्णन जिसतरह ।
केवली-वन्दन नहीं है देह-वन्दन उसतरह ॥ ३० ॥

जिसप्रकार नगर का वर्णन करने पर भी, वह वर्णन राजा का वर्णन नहीं हो जाता; उसीप्रकार शरीर के गुणों का स्तवन करने पर केवली के गुणों का स्तवन नहीं हो जाता ।

उक्त गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने विशेष कुछ नहीं लिखा है; पर नगर वर्णन और जिनेन्द्र वर्णन के सन्दर्भ में नमूने के रूप में दो आर्या छन्द अवश्य लिखे हैं और अन्त में लिख दिया है कि जिसप्रकार नगर का वर्णन करने से उसके अधिष्ठाता राजा का वर्णन नहीं हो जाता, उसीप्रकार शरीर की स्तुति करने से उसके अधिष्ठाता तीर्थंकर भगवान की स्तुति भी नहीं हो सकती है ।

(आर्या)

प्राकारकवलितांबरमुपवनराजीनिगीर्णभूमितलम् ।
पिबतीव हि नगरमिदं परिखावलयेन पातालम् ॥ २५ ॥

नित्यमविकारसुस्थितसर्वांगमपूर्वसहजलावण्यम् ।
अक्षोभमिवसमुद्रं जिनेन्द्ररूपं परं जयति ॥ २६ ॥

(हरिगीत)

प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को ।
अर गोल गहरी खाई से हैं पी लिया पाताल को ॥
सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौन्दर्य से ।
अद्‌भुत अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से ॥ २५ ॥

गंभीर सागर के समान महान मानस मंगमय ।
नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंगमय ॥
सहज ही अद्‌भुत् अनूपम अपूरव लावण्यमय ।
क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवरचन्द हैं ॥ २६ ॥

उक्त कलशों एवं सम्पूर्ण प्रकरण के भाव को स्पष्ट करते हुए कविवर पण्डित बनारसीदासजी लिखते हैं –

(सवैया इकतीसा)

ऊँचे-ऊँचे गढ़ के कंगूरे यौं विराजत हैं,
मानौं नभ लोक गीलिवे कौं दांत दीयौ है ।
सोहै चहुँ ओर उपवन की सघनताई,
घेरा करि मानौ भूमिलोक घेरि लीयौ है ॥
गहिरी गंभीर खाई ताकी उपमा बनाई,
नीचौ करि आनन पताल जल पीयौ है ।
ऐसो है नगर यामैं नृप कौ न अंग कोऊ,
यौं ही चिदानन्द सौं सरीर भिन्न कीयौ है ॥

जामैं बालपनौ तरुनापौ वृद्धपनौ नाहिं,
आयु परजंत महारूप महाबल है ।
बिना ही जतन जाकै तन मैं अनेक गुन,
अतिसै विराजमान काया निर्मल है ॥
जैसैं बिनु पवन समुद्र अविचलरूप,
तैसैं जाकौ मन अरु आसन अचल है ।
ऐसौ जिनराज जयवंत होउ जगत मैं,
जाकी सुभगति महा सुकृत कौ फल है ॥

(दोहा)

जिनपद नांहि शरीर कौ, जिनपद चेतन माँहि ।
जिनवर्णन कछु और है, यह जिनवर्णन नांहि ॥

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि नगर की सुन्दरता एवं सुव्यवस्था राजा का ही तो कार्य है; सुयोग्य राजा के बिना नगर का सुव्यवस्थित होना संभव नहीं है । अतः नगर की प्रशंसा एक प्रकार से राजा की ही प्रशंसा है। इसीप्रकार देह का सुन्दर होना, सुगठित होना, सुव्यवस्थित होना भी तो उसमें रहनेवाले आत्मा के पुण्योदय का सूचक है; अतः देह के आधार पर की गई स्तुति को सर्वथा अस्वीकार कैसे किया जा सकता है ?

अरे भाई, हमने सर्वथा अस्वीकार कहाँ किया है ? व्यवहार से तो उसे तीर्थंकर केवली की स्तुति माना ही है । हाँ, निश्चयनय से, परमार्थ से अवश्य अस्वीकार किया है और वह सबप्रकार से ठीक ही है; क्योंकि निश्चय से तो शरीर के गुण आत्मा के गुण हो ही नहीं सकते। अतः निश्चय से शरीर के आधार पर की गई स्तुति को तीर्थंकर केवली की स्तुति कैसे माना जा सकता है ?

प्रश्न – यदि यह बात है तो फिर निश्चयस्तुति क्या है, निश्चयस्तुति का वास्तविक स्वरूप क्या है ?

उत्तर – इसी के उत्तर में ३१,३२ और ३३वीं गाथाएं लिखी गई हैं । अतः निश्चय स्तुति की विस्तृत चर्चा उनकी चर्चा के अवसर पर होगी ही; यहाँ तो इतना समझना ही पर्याप्त है कि देह के आधार पर की गई तीर्थंकरों की स्तुति को आधार बनाकर देह और आत्मा को निश्चय से भी एक मानना उचित नहीं है, अज्ञान है, मिथ्यात्व है। इस बात को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए ।

इस सम्पूर्ण प्रकरण में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यह प्रकरण भेदविज्ञान का है, देह से एकत्व के व्यामोह को छुड़ाने का है; स्तुति की चर्चा तो बीच में उदाहरण के रूप में आई है, शिष्य के प्रश्न के आधार पर आई है और नयविभाग के आधार पर उसका समाधान कर दिया गया है ।

निष्कर्ष के रूप में कविवर पंडित बनारसीदासजी का निम्नांकित छन्द पठनीय है –

(कवित्त)

तन चेतन विवहार एक से, निहचै भिन्न-भिन्न हैं दोइ ।
तनकी थुति विवहार जीवथुति, नियतदृष्टि मिथ्याथुति सोइ ॥
जिन सो जीव जीव सो जिनवर तन जिन एक न मानै कोइ ।
ता कारण तन की संस्तुति सौं जिनवर की संस्तुति नहिं होइ ॥

यद्यपि स्तुति साहित्य में देह को आधार बनाकर तीर्थंकर भगवान का अपरिमित गुणानुवाद किया गया है, तथापि यह बात भी हाथ पर रखे आँवले के समान स्पष्ट है कि देह और आत्मा परमार्थतः भिन्न-भिन्न ही हैं । अतः देह के आधार पर की गई स्तुति मात्र उपचार ही है, व्यवहार ही है; उसके आधार पर देह और आत्मा को एक मानने की बात करना नयविभाग के अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है ।

भक्तामर स्तोत्र में भगवान आदिनाथ की स्तुति करते हुए मानतुंगाचार्य तो यहाँ तक लिखते हैं कि –

(वसंततिलका)

"यैः शान्त-राग-रुचिभिः परमाणुभिस्त्वं
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ॥

हे तीनलोक में सर्वश्रेष्ठ आदिनाथ भगवान ! राग उत्पन्न करने वाले, रुचिकर जिन शान्त परमाणुओं से आपका निर्माण हुआ है; वे परमाणु सम्पूर्ण पृथ्वी में मात्र उतने ही थे । यही कारण है कि आपके समान शान्त, सुन्दर और रुचिकर रूपवाला कोई अन्य व्यक्ति दिखाई नहीं देता ।"

उक्त छन्द में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखा गया है कि आपका निर्माण शान्त, रुचिकर और रागोत्पादक सुन्दर परमाणुओं से हुआ है। तो क्या हम

इसके आधार पर यह मान सकते हैं कि आदिनाथ भगवान पुद्‌गल परमाणुओं से बने थे ? अरे भाई, पुद्‌गल परमाणुओं से तो उनकी देह बनी थी, वे तो ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा ही है । – यह बात बिना समझाये ही बच्चे-बच्चे की समझ में आ जाती है। यही कारण है कि जब इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया गया तो अनुवादक ने स्पष्ट लिख दिया कि –

''जिन जितने जैसे अणुओं से निर्मापित प्रभु तेरी देह ।
थे उतने वैसे अणु जग में शान्त रागमय निस्सन्देह ॥
है त्रिभुवन के शिरोभाग के अद्वितीय आभूषणरूप ।
इसलिए तो आप सरीखा नहीं दूसरों का है रूप ॥

संस्कृत भाषा के मूल छन्द के समान इस छन्द में यह नहीं लिखा कि भगवान परमाणुओं से बने हैं, अपितु यही लिखा है कि भगवान की देह शान्त परमाणुओं से बनी है ।

अरे भाई, जिनागम का प्रत्येक वाक्य नय की भाषा में ही निबद्ध है। अतः जिनागम का मर्म समझने के लिए नयविभाग जानना अत्यन्त आवश्यक हैं ।

यद्यपि उक्त छन्द का प्रयोजन आदिनाथ भगवान के शरीर की सुन्दरता का निरूपण ही है, उनके आत्मगुणों का निरूपण करना नहीं; तथापि देह और आत्मा के अभेद को लक्ष्य में लेकर भाषा का प्रयोग तो इसीप्रकार किया गया है कि जैसे भगवान स्वयं भी उनकी मूर्ति के समान परमाणुओं से बने हों।

इसप्रकार के प्रयोग व्यवहारनय में होते हैं। अतः हमें भ्रमित नहीं होना चाहिए। इसप्रकार की जितनी भी स्तुतियाँ उपलब्ध हों, उन्हें व्यवहारनयोपजनित मानकर निशंक रहना चाहिए । •

समयसार गाथा ३१

अब प्रश्न उठता है कि यदि यह व्यवहारस्तुति है तो निश्चयस्तुति क्या है ? इसी प्रश्न के उत्तर में ३१-३२-३३ गाथा का जन्म हुआ है; जिनमें प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति का स्वरूप बतानेवाली ३१वीं गाथा इसप्रकार है –

जो इन्दिये जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं खलु जिदिंदियं ते भणन्ति जे णिच्छिदा साहू ॥ ३१॥

(हरिगीत)

जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा ॥ ३१॥

जो इन्द्रियों को जीतकर आत्मा को अन्य द्रव्यों से अधिक (भिन्न) जानते हैं; वे वस्तुतः जितेन्द्रिय हैं – ऐसा निश्चयनय में स्थित साधुजन कहते हैं ।

यह निश्चयस्तुति का निरूपण है। यह प्रथम निश्चयस्तुति है, जो ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष के परिहारपूर्वक होती है। ज्ञायक माने जानने-देखने के स्वभाववाला भगवान आत्मा और ज्ञेय माने जानने में आने वाले पदार्थ। जाननेवाला भगवान आत्मा अलग है और जानने में आने वाले परपदार्थ अलग हैं; पर अज्ञानीजीव उन्हें भिन्न-भिन्न न जानकर दोनों को एक ही मान लेते हैं। उनका यह मानना ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष से दूषित है ।

यद्यपि अपना भगवान आत्मा ज्ञायक के साथ-साथ ज्ञेय भी है; क्योंकि वह जानता भी है और जानने में भी आता है; पर यहाँ निजज्ञेय की बात नहीं है, परज्ञेयों की बात है ।

प्रश्न – ऐसे कौन-कौन से परज्ञेय हैं, जिन्हें ज्ञायक मान लिया जाता है?

उत्तर – इन्द्रियाँ । इन्द्रियाँ ही ऐसे ज्ञेय हैं, जिन्हें ज्ञायक मान लिया जाता है। इसलिए यहाँ कहा गया है कि जो इन्द्रियों को जीतकर अपने भगवान आत्मा को अन्य द्रव्यरूप ज्ञेयों से भिन्न जानते हैं, वे जितेन्द्रियजिन हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इस गाथा का अर्थ करते हुए 'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ द्रव्य-इन्द्रियाँ, भाव-इन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ करते हैं तथा विस्तार से स्पष्ट करते हैं कि इन तीनप्रकार की इन्द्रियों को जीतने का क्या अर्थ है और इन्हें जीतने की विधि क्या है ?

इस गाथा पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखी गई आत्मख्याति टीका का भाव मूलतः इसप्रकार है -

"अनादि अमर्याद बंध पर्याय के वश, जिनमें समस्त स्व-पर का विभाग अस्त हो गया है अर्थात् जो आत्मा के साथ ऐसी एकमेक हो रही है कि भेद दिखाई नहीं देता; ऐसी शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों को निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के अवलम्बन के बल से अपने से सर्वथा अलग करना अर्थात् सर्वथा भिन्न जानना यह तो द्रव्येन्द्रियों का जीतना हुआ ।

भिन्न-भिन्न अपने विषयों में व्यापार से जो विषयों को खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं, ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप बतलाती हैं; ऐसी भावेन्द्रियों को, प्रतीति में आती हुई अखण्ड एक चैतन्यशक्ति के द्वारा अपने से सर्वथा भिन्न करना अर्थात् भिन्न जानना - यह भावेन्द्रियों का जीतना हुआ ।

ग्राह्य-ग्राहकलक्षणवाले संबंध की निकटता के कारण अपने संवेदन के साथ एक जैसे दिखाई देनेवाले भावेन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये इन्द्रियों के विषयभूत स्पर्शादि पदार्थों को अपनी चैतन्यशक्ति से स्वयमेव अनुभव में आनेवाली असंगता के द्वारा अपने से सर्वथा अलग करना अर्थात् सर्वथा अलग जानना - यह इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का जीतना हुआ ।

इसप्रकार द्रव्येन्द्रियों, भावेन्द्रियों और उनके विषयभूत पदार्थों को जीतकर ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष के दूर होने से; एकत्व में टंकोत्कीर्ण, विश्व के ऊपर तिरते हुए, प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतः सिद्ध और परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव के द्वारा परमार्थ से सर्व अन्य द्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का जो अनुभव करते हैं; वे निश्चय से जितेन्द्रियजिन हैं ।"

इस गाथा में जितेन्द्रियजिन, ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का परिहार और निश्चय स्तुति – इन तीन बातों को एक साथ सम्मिलित किया गया है। जो इन्द्रियों को जीतता है, उसे जितेन्द्रियजिन कहते हैं और इन्द्रियों को जीतना ही प्रथम प्रकार की निश्चय स्तुति है तथा वह ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष के परिहारपूर्वक होती है। इसप्रकार ये तीनों बातें एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। इस गाथा का मर्म जानने के लिए उक्त तीनों बातों को गहराई से समझना अत्यन्त आवश्यक है।

इन्द्रियों के जीतने का अर्थ सामान्यतः लोग पंचेन्द्रियों के भोगों को त्यागना मानते हैं; इसकारण जितेन्द्रिय बनने के लिए उन्हें छोड़ने का प्रयत्न करते हैं; पर वे यह नहीं जानते हैं कि यहाँ तो इन्द्रियों से भिन्न ज्ञायकस्वभावी निजभगवान आत्मा को जानना, उसमें अपनत्व स्थापित करना, आत्मानुभूति प्राप्त करना ही इन्द्रियों को जीतना है ।

'इन्द्रिय' शब्द का अर्थ भी मात्र दिखाई देने वाले आँख-कान आदि नहीं हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण – ये पाँच तो मात्र द्रव्येन्द्रियाँ हैं। ये तो शरीर के अंग हैं, इसीकारण इन्हें शरीर परिणाम को प्राप्त कहा गया है। ये तो जड़ हैं, जानने-देखने में असमर्थ हैं। जानने-देखने का काम तो देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा करता है ।

आत्मा के ज्ञान गुण की वह क्षयोपशमदशा, जो इन्द्रियों के माध्यम से जानने-देखने का काम करती है; भावेन्द्रिय कहलाती है। वह भी इन्द्रिय ही है। यह क्षयोपशमरूप भावेन्द्रिय स्पर्शन, रसना आदि द्रव्येन्द्रियों के माध्यम से जिन पदार्थों को जानती है; उन पदार्थों को भी यहाँ इन्द्रिय ही कहा गया है। ध्यान रहे यहाँ इन्द्रियों के माध्यम से दिखाई देने वाले देव, शास्त्र, गुरु; स्त्री, पुत्रादि; मकानादि – सभी पदार्थ इन्द्रिय शब्द में शामिल कर लिये गये हैं।

देखो तो कैसी गजब की टीका है। गाथा तो अद्‌भुत् है ही, आत्मख्याति टीका भी कम नहीं है। वह गाथा के मर्म को खोलने में पूर्णतः समर्थ है ।

देखो, यहाँ क्या कहा जा रहा है ? आँख तो आँख है ही, पर आँखों से दिखाई देनेवाले पदार्थ भी आँख ही हैं; इसीप्रकार कान तो कान हैं ही, कानों

से सुनाई देनेवाले शब्द भी कान ही हैं। इसीप्रकार स्पर्शन, रसना और घ्राण के सम्बन्ध में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि यहाँ इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों को भी इन्द्रिय कहा जा रहा है। है न गजब की बात ?

इसप्रकार यहाँ इन्द्रियों से दिखाई देनेवाले सभी पदार्थ 'इन्द्रिय' शब्द में शामिल हो गये ।

अरे भाई, समयसार में प्रयुक्त होनेवाले शब्दों का अर्थ ही कुछ अलग होता है। अतः यह समयसार ऐसे ही चलते-फिरते समझ में आनेवाला नहीं है। इसे समझने के लिए रुचिपूर्वक गहराई से अध्ययन करने की आवश्यकता है, गुरुगम की आवश्यकता है, सत्समागम की आवश्यकता है ।

हाँ, तो इसप्रकार शरीर परिणाम को प्राप्त स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु, कर्ण और उपचार से मन भी – ये द्रव्येन्द्रियाँ, इनके माध्यम से जाननेवाली ज्ञान की क्षयोपशमदशा रूप भावेन्द्रियाँ और इनके माध्यम से ज्ञात होनेवाले बाह्य ज्ञेय पदार्थ – इन सभी का एक नाम 'इन्द्रिय' है ।

अज्ञानीजीव अनादि से इन इन्द्रियों को आत्मा जानता रहा है, इनमें ही अपनापन स्थापित किये रहा है, इन्हीं में जमा-रमा रहा है; यही इसकी इन्द्रियाधीनता है । ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा इन इन्द्रियों से अत्यन्त भिन्न है, एकत्व में टंकोत्कीर्ण है, अविनश्वर है, प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अन्तर में प्रकाशमान है, स्वतःसिद्ध एवं परमार्थस्वरूप है – यह जानकर, अनुभवपूर्वक जानकर; उस भगवान आत्मा में ही अपनापन हो जाना, उसमें ही जम जाना, रम जाना इन्द्रियों को जीतना है ।

इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ तो ज्ञेय हैं ही, द्रव्येन्द्रियाँ भी ज्ञेय ही हैं। यहाँ तो यह भी कहा जा रहा है कि क्षयोपशमज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ भी ज्ञेय ही हैं। ज्ञायकस्वभावी भगवान आत्मा इन सभी से भिन्न है। – यह न जानकर इन्द्रियों को ज्ञायक जानना और इन्द्रियों के विषयों को ज्ञेय जानना और ज्ञायक को जानना ही नहीं – ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का एक प्रकार तो यह है और दूसरे ज्ञायक भगवान आत्मा और इन तीनों प्रकार की इन्द्रियों को एकमेक मानना, इनमें कोई भेद नहीं कर पाना भी ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष है ।

तीनों प्रकार की इन्द्रियों को ज्ञेय जानकर ज्ञाता भगवान आत्मा को उनसे भिन्न जानना, मानना, अनुभव करना ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का परिहार है तथा इसी को तीर्थंकर भगवान की प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति कहते हैं ।

यहाँ एक प्रश्न संभव है कि यह तो भगवान आत्मा के निर्विकल्प अनुभव की बात है; इसमें तीर्थंकर भगवान की स्तुति कैसे हो गई ? तीर्थंकर भगवान के आत्माश्रित गुणों के माध्यम से उनके स्तवन करने को निश्चय स्तुति कहना चाहिए ।

जैसा कि समयसार में ही कहा गया है –

तं णिच्छये ण जुज्जदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो ।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि ॥२९॥

(हरिगीत)

परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन ।
केवलिगुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन ॥२९॥

अरे भाई, यदि आत्मा के गुणों के आधार पर वचनात्मक स्तुति करते तो वह गुणभेद के आधार पर की गई होने से व्यवहार स्तुति ही कहलाती । शरीर के गुणों के आधार पर की गई स्तुति असद्भूतव्यवहारनयोपजनित स्तुति है और आत्मा के गुणों के कथनपूर्वक की गई स्तुति सद्भूतव्यवहारनयोपजनित स्तुति होती। वहाँ असद्भूतव्यवहारनय के विरुद्ध सद्भूतव्यवहारनय खड़ा होता, निश्चय नय नहीं। यहाँ व्यवहार के विरुद्ध निश्चयनय खड़ा करना था; अतः निर्विकल्प-अनुभूति को निश्चय स्तुति कहा गया ।

प्रश्न – यह तो ठीक, पर इसे अपने आत्मा की स्तुति तो कह सकते हैं, पर तीर्थंकर भगवान की स्तुति कैसे कह सकते हैं ?

उत्तर – आपकी बात तो ठीक है, पर भगवान की आज्ञा भी तो यही है कि तुम आत्मा का अनुभव करो, आत्मा में ही समा जावो; स्वयं पर्याय में भी परमात्मा बन जावो। अतः यह आत्मानुभूति भी उनकी ही आज्ञा का पालन हुआ। सच्ची भक्ति तो आज्ञा का पालन ही है। हम भगवान की आज्ञा का

पालन तो नहीं करें और कोरे गुणानुवाद करें तो उसे सच्ची भक्ति कैसे कहा जा सकता है ? अतः निज भगवान आत्मा का अनुभव ही सच्ची निश्चयस्तुति है ।

प्रश्न – भले ही तीर्थंकर केवली की आज्ञा आत्मानुभव की हो, पर स्तुति तो उनके गुणानुवादरूप ही होना चाहिए ।

उत्तर – नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि निश्चयस्तुति विकल्पात्मक नहीं होती। नियमसार में तो निश्चय से भक्ति, प्रतिक्रमण प्रत्याख्यान आदि सभी को आत्मानुभूति में ही समाहित कर लिया है। मुनिराजों के २८ मूलगुणों में छह आवश्यकों के रूप में स्तुति और वन्दना आते हैं, स्वाध्याय भी आता है; पर बाहुबली तो एक वर्ष तक ध्यान में ही खड़े रहे तो क्या उनके २८ मूलगुण खण्डित हो गये ? क्या वे छह आवश्यक नहीं पालने के दोषी हैं ?

नहीं, कदापि नहीं; क्योंकि निर्विकल्प आत्मध्यान में निश्चय से सभी मूलगुण समाहित हो जाते हैं, सभी आवश्यक आ जाते हैं ।

इसप्रकार यह भगवान आत्मा का अनुभव निश्चयस्तुति भी है, जितेन्द्रियपना भी है और इसमें भगवान आत्मा को ज्ञेयों से भिन्न जाना, अनुभव किया; अतः ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष का परिहार भी हो गया। इसमें इन्द्रियों के भोगों का त्याग तो आ ही गया, साथ में पर को अपना जानने-मानने का त्याग भी आ गया । अतः यह सच्चा जितेन्द्रियपना हुआ; अकेले बाह्य विषय-भोगों को बलात् त्याग कर देना वास्तविक जितेन्द्रियपना नहीं है ।

निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है कि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय एवं इनके विषयभूत पदार्थों – ज्ञेयों से भिन्न ज्ञायकभावरूप निजभगवान आत्मा का अनुभव करना ही जितेन्द्रियपना है, प्रथमप्रकार की निश्चयस्तुति है और इसमें किसी भी प्रकार का ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष भी नहीं है ।

विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि द्रव्येन्द्रियाँ प्रगटरूप से जड़ होने से, उन्हें जीतने के लिए निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव लिया; भावेन्द्रियाँ खण्ड-खण्ड रूप होने से, ज्ञान को

खण्ड-खण्ड रूप करनेवाली होने से, उन्हें जीतने के लिए प्रतीति में आती हुई अखण्ड चैतन्यशक्ति ली और इन्द्रियों के विषयभूत परज्ञेयों रूप इन्द्रियों को जीतने के लिए स्वयं अनुभव में आनेवाला चैतन्यशक्ति का असंगपना लिया; क्योंकि ज्ञेय-ज्ञायक की निकटता के कारण, संग के कारण ही तो उनसे एकता का भ्रम हो जाता है ।

इसप्रकार यह स्पष्ट हो गया कि निर्मल भेदाभ्यास की प्रवीणता से प्राप्त अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव, प्रतीति में आती हुई अखण्ड चैतन्य शक्ति और स्वयं अनुभव में आनेवाला चैतन्यशक्ति का असंगपना - ये ऐसे शस्त्र है कि जिनसे न केवल इन्द्रियों को जीता जा सकता है, अपितु ज्ञेय और ज्ञायक को भिन्न-भिन्न भी किया जा सकता है ।

इस युग में समयसार और आत्मख्याति का मर्म उद्‌घाटित करनेवाले आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी ३१वीं गाथा पर लिखी गई आत्मख्याति टीका का मर्म इसप्रकार उद्‌घाटित करते हैं -

"जिसप्रकार द्रव्येन्द्रियों को और आत्मा को एक मानना अज्ञान है; उसीप्रकार ज्ञान को खण्ड-खण्ड रूप से बतानेवाली भावेन्द्रियों को और ज्ञायक को एक मानना भी मिथ्यात्व है, अज्ञान है। अलग-अलग अपने-अपने विषयों को जो खण्ड-खण्ड ग्रहण करती हैं और अखण्ड एक ज्ञायक को खण्ड-खण्ड रूप बताती हैं, उन भावेन्द्रियों की ज्ञायक आत्मा के साथ एकता स्थापित करना मिथ्यात्व है ।[१]

इस गाथा में ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष के परिहार की बात है। शरीर परिणाम को प्राप्त जड़ इन्द्रियों के परज्ञेय रूप होने पर भी 'वे मेरी हैं' - ऐसी एकत्वबुद्धि मिथ्याभाव रूप संकरदोष है। जिसकी मान्यता ऐसी है, उसने जड़ की पर्याय और चैतन्य की पर्याय को एक माना है। उसीप्रकार शब्द, रूप, रस आदि एक-एक विषय को जानने की योग्यतावाला क्षयोपशमभाव भावेन्द्रिय है। वह भी वस्तुतः परज्ञेय है। परज्ञेय और ज्ञायकभाव की एकताबुद्धि ही संसार है, मिथ्यात्व है ।

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग - २, पृष्ठ ३५-३६

भावेन्द्रिय के विषय जो सारी दुनिया, स्त्री, कुटुम्ब, देव, शास्त्र, गुरु आदि सभी परपदार्थ हैं, वे इन्द्रियों के विषय होने से इन्द्रिय कहे जाते हैं। वे भी परज्ञेय हैं, इनसे लाभ मानना भी मिथ्याभ्रान्ति है ।[१]

द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषय – ये तीनों जानने लायक है और ज्ञायक आत्मा स्वयं जाननेवाला है। ये तीनों ही परज्ञेयरूप से और भगवान आत्मा स्वज्ञेयरूप से जानने लायक है। चाहे भले ही भगवान सर्वज्ञ परमात्मा हों, उनकी वाणी हो या उनका समवशरण हो – वे सभी अतीन्द्रिय आत्मा की अपेक्षा इन्द्रियाँ हैं, परज्ञेय रूप जानने लायक हैं और आत्मा ग्राहक-जाननेवाला है ।

ऐसा होते हुए भी ग्राह्य-ग्राहक लक्षणवाले संबंध की निकटता के कारण अज्ञानी ऐसा मानता है कि वाणी से ज्ञान होता है। ज्ञेयाकाररूप ज्ञान की पर्याय ज्ञान का परिणमन है, ज्ञेय का नहीं, ज्ञेय के कारण भी नहीं; तथापि ज्ञेय-ज्ञायक संबंध की अतिनिकटता है; इसलिए ज्ञेय से ज्ञान हुआ – ऐसा अज्ञानी भ्रम से मानता है ।[२]

देखो, द्रव्येन्द्रियों के समक्ष अंतरंग में प्रगट अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव लिया, भावेन्द्रियों के समक्ष एक अखण्ड चैतन्यशक्ति ली और यहाँ तीसरे बोल में ज्ञेय-ज्ञायकता की निकटता के समक्ष चैतन्यशक्ति का असंगपना लिया ।[३]

इसप्रकार जो कोई मुनि द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय और उनके विषयभूत पदार्थों को जीतता है, उसका सब ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष दूर हो जाता है। 'जानने योग्य वस्तु ज्ञायक की है और जाननेवाला ज्ञायक जाननेयोग्य वस्तु का है' – ऐसा जानना अज्ञान है, ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष है ।

जड़ इन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ तथा भगवान और भगवान की वाणी इत्यादि इन्द्रियों के विषय पररूप होने से स्व से भिन्न है; – ऐसा होते हुए भी अज्ञानी उन्हें अपनी मानता है। कारण कि जिससे लाभ हुआ माने, उसे अपनी माने बिना रह नहीं सकता ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – २, पृष्ठ ३६
२. वही, पृष्ठ ३७-३८
३. वही, पृष्ठ ३९

यदि वे अज्ञानी अपने सूक्ष्म चैतन्यस्वभाव का अवलम्बन लें, अखण्ड एक ज्ञायक का आश्रय लें, असंगस्वभावी निज चैतन्य का अनुभव करें तो यह सम्पूर्ण दोष दूर हो सकता है ।

समझाने के लिए कथन करें तो कथन में क्रम पड़ता है, किन्तु जब आत्मा का आश्रय लिया जाता है, तब एक साथ सभी इन्द्रियाँ (द्रव्येन्द्रियाँ, भावेन्द्रियाँ और इनके विषयभूत पदार्थ) जीत ली जाती हैं । जब अतिसूक्ष्म चैतन्यस्वभाव के बल से द्रव्येन्द्रियों को जीतता है, तब भावेन्द्रियों और इन्द्रियों के विषय का लक्ष्य भी छूट जाता है। इसीप्रकार जब परविषयों को जीतता है, तब भी द्रव्य का ही लक्ष्य होने से जड़-इन्द्रियाँ व भावेन्द्रियाँ जीत ली जाती हैं ।[१]

शरीर परिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियाँ, खण्ड-खण्डज्ञानरूप भावेन्द्रियाँ और इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थ कुटुम्ब-परिवार, देव-शास्त्र-गुरु आदि सभी परज्ञेय हैं और ज्ञायक स्वयं भगवान आत्मा स्वज्ञेय है। विषयों की आसक्ति से उन दोनों का एक जैसा अनुभव होता था, निमित्त की रुचि से ज्ञेय-ज्ञायक का एक जैसा अनुभव होता था; किन्तु जब भेदविज्ञान से भिन्नता का ज्ञान हुआ, तब ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष दूर हुआ। तब मैं तो एक अखण्ड ज्ञायक हूँ, ज्ञेय के साथ मेरा कोई संबंध नहीं है – ऐसा अन्दर में स्वसंवेदन ज्ञान हुआ ।

इसप्रकार यह प्रथम प्रकार की स्तुति का कथन हुआ ।[२]"

स्वामीजी के उक्त कथन में सभी बात पूरी तरह स्पष्ट हो गई है ।

मूलतः प्रकरण देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा देह से अत्यन्त भिन्न है – यह चल रहा था । बीच में अप्रतिबुद्ध शिष्य ने स्तुतिसाहित्य का आधार देकर देह और आत्मा को एक बताने का प्रयास किया। इसकारण स्तुति की बात चल पड़ी। जब आचार्यदेव ने नयविभाग द्वारा उसे समझाने का प्रयास किया तो व्यवहार स्तुति की बात स्पष्ट हुई। तब यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यदि देह के आधार पर की गई स्तुति व्यवहारस्तुति है तो फिर निश्चयस्तुति

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – २, पृष्ठ ४०
२. वही, पृष्ठ ४३

क्या है? परिणामस्वरूप ३१,३२ एवं ३३वीं गाथा में निश्चयस्तुति का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है; जिसमें ३१वीं गाथा में प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति की बात जितेन्द्रियजिन के रूप में सामने आई। पर मूल बात दृष्टि से ओझल नहीं हो जावे; अतः ज्ञेय-ज्ञायकसंकरदोष के परिहार की बात सामने आई और उसके माध्यम से ज्ञेय और ज्ञायक की भिन्नता की चर्चा आ गई ।

इसप्रकार यहाँ देह ज्ञेय के प्रतिनिधि के रूप में तथा देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा ज्ञायक के रूप में उपस्थित है। इसप्रकार यह काया और आत्मा की भिन्नता की मूल बात न केवल चल ही रही है, अपितु विस्तार से स्पष्ट हो रही है ।

काया और आत्मा की भिन्नता की मूल बात के साथ-साथ इस गाथा में तीन बातें स्पष्ट हुई हैं; जो इसप्रकार हैं -

(१) अपने आत्मा को शरीरपरिणाम को प्राप्त द्रव्येन्द्रियों, क्षयोपशमज्ञानरूप भावेन्द्रियों एवं इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों से भिन्न जानकर उसे निजरूप अनुभव करना ही इन्द्रियों को जीतना है, जितेन्द्रियपना है ।

(२) द्रव्येन्द्रिय, भावेन्द्रिय एवं इनके माध्यम से जाने जानेवाले पदार्थ ज्ञेय हैं और निज भगवान आत्मा ज्ञायक है। वह ज्ञायक भगवान आत्मा इन ज्ञेयों से भिन्न है - यह जानकर निज आत्मा में एकत्व का अनुभव करना ही ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष का परिहार है ।

(३) इसप्रकार की निर्विकल्प-आत्मानुभूति ही प्रथम प्रकार की निश्चय स्तुति है, जो सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा के ही होती है ।

इसप्रकार इस ३१वीं गाथा में ज्ञेय-ज्ञायक संकरदोष के परिहारपूर्वक होनेवाली जितेन्द्रियजिनरूप प्रथमप्रकार की निश्चयस्तुति का स्पष्टीकरण हुआ ।

•

समयसार गाथा ३२-३३

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि इसे प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति क्यों कहा जा रहा है, क्या कोई दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति भी होती है ?

हाँ, होती है। निश्चयस्तुति तीन प्रकार की होती है। प्रथम प्रकार की निश्चयस्तुति का दिग्दर्शन तो ३१वीं गाथा में हो चुका है और अब ३२वीं व ३३वीं गाथा में दूसरी व तीसरी निश्चयस्तुति की बात होगी ।

वे गाथाएँ मूलतः इसप्रकार हैं –

जो मोहं तु जिणित्ता णाणसहावाधियं मुणदि आदं ।
तं जिदमोहं साहुं परमट्ठवियाणया बेंति ॥ ३२॥
जिदमोहस्स दु जइया खीणो मोहो हविज्ज साहुस्स ।
तइया हु खीणमोहो भण्णदि सो णिच्छयविदूहिं ॥ ३३॥

(हरिगीत)

मोह को जो जीत जाने ज्ञानमय निज-आतमा ।
जितमोह जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥ ३२॥
सब मोह क्षय हो जाय जब जितमोह सम्यक्श्रमण का ।
तब क्षीणमोही जिन कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥ ३३॥

जो मुनि मोह को जीतकर अपने आत्मा को ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यभावों से अधिक जानता है, भिन्न जानता है; उस मुनि को परमार्थ के जाननेवाले जितमोह कहते हैं ।

जिसने मोह को जीत लिया है, ऐसे साधु के जब मोह क्षीण होकर सत्ता में से नष्ट हो, तब उस साधु को निश्चयनय के जानकार क्षीणमोह कहते हैं।

यह दूसरी व तीसरी निश्चयस्तुति का कथन है। दूसरी स्तुति भाव्य-भावकसंकर दोष के परिहारपूर्वक होती है और तीसरी स्तुति भाव्य-भावक भाव के अभावपूर्वक होती है ।

चारित्रमोहनीय कर्म के उदय का निमित्त पाकर संसारी आत्मा राग-द्वेषरूप परिणमित होते हैं। इसकारण उदय को प्राप्त चारित्रमोहनीय कर्म हुआ भावक और उसके उदयानुसार राग-द्वेषरूप परिणमित आत्मा हुआ भाव्य। ध्यान रहे, सत्ता में पड़ा हुआ सामान्य मोहनीय कर्म भावक नहीं है और न ही सामान्य राग-द्वेष भाव्य ही हैं। उदय या उदीरणा में आये हुये मोहनीय कर्म की ही भावक संज्ञा है और राग-द्वेषरूप परिणमित आत्मा की भाव्य संज्ञा है। अकेले राग-द्वेष तो भाव हैं, भाव्य नहीं; उदयागत मोहकर्मरूप भावक का भाव्य तो राग-द्वेपरूप परिणमित आत्मा ही है। ये भाव्य-भावक शब्द एक-दूसरे की अपेक्षा रखते हैं। जिसप्रकार ज्ञेय-ज्ञायक शब्द परस्पर सापेक्ष हैं, उसीप्रकार ये भाव्य-भावक शब्द भी परस्पर सापेक्ष हैं ।

इस बात को स्पष्ट करते हुये आचार्य जयसेन लिखते हैं -

"भाव्यो रागादिपरिणत आत्मा, भावको रंजक उदयागतो मोहस्तयोर्भाव्यभावकयोः शुद्धजीवेन सह संकरः संयोगः संबंधः स एव दोषः । तं दोषं स्वसंवेदनज्ञानबलेन योऽसौ परिहरति सा द्वितीया स्तुतिरिति भावार्थः ।

रागादिरूप परिणत आत्मा भाव्य है और उदय में आया हुआ मोहकर्म भावक है, रंजक है। इन भाव्य और भावक-दोनों का शुद्धजीव के साथ जो संकर अर्थात् संयोग है, संयोग संबंध है; वह ही भाव्य-भावकसंकर दोष है। उस दोष का जो पुरुष स्वसंवेदन ज्ञान के बल से परिहार करता है; वह दूसरी स्तुति है। - यह भावार्थ है ।"

उक्त पंक्तियाँ समयसार की ३२वीं गाथा की आचार्य जयसेन द्वारा की गई तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीका की हैं। इसीप्रकार का भाव ३३वीं गाथा की टीका में भी व्यक्त किया गया है ।

आचार्य जयसेन के उक्त कथन से यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि उदयागत मोहकर्म भावक है और उसके अनुसार राग-द्वेष परिणत आत्मा भाव्य है, भावकरूप द्रव्यकर्म और भाव्यरूप राग-द्वेषमय अशुद्ध आत्मा - इन दोनों का

शुद्ध आत्मा के साथ संबंध या एकत्व होना ही भाव्य-भावक संकरदोष है और स्वसंवेदन ज्ञान के बल से, स्वानुभूति के बल से, शुद्धोपयोग के बल से भावकरूप द्रव्यमोह को और भाव्यरूप भावमोह को उपशमित कर देना द्वितीय निश्चयस्तुति है और क्षयकर देना तृतीय निश्चयस्तुति है ।

ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष के परिहार में श्रद्धा संबंधी दोष तो निकल गया है, मिथ्यात्व तो चला गया है; भूमिकानुसार अनन्तानुबंधी आदि कषायें भी चली गई हैं; पर अभी भूमिकानुसार शेष राग-द्वेष होते हैं। ज्ञानस्वभाव के आश्रय से उन्हें उपशमित करना भाव्य-भावकसंकर दोष का परिहार है, जितमोहपना है, मोह को जीतना है; दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति है ।

भाव्य-भावक दोष के परिहार में राग-द्वेष का उपशम तो हुआ है; पर उनका पूर्णतः अभाव नहीं हुआ है, आत्यन्तिक क्षय नहीं हुआ है, जड़मूल से नाश नहीं हुआ है, उनकी सत्ता का नाश नहीं हुआ है। ज्ञानस्वभाव के अत्यन्त उग्र आश्रय से उन्हें जड़मूल से उखाड़ देना, नष्ट कर देना, क्षय कर देना भाव्य-भावक भाव का अभाव है, क्षीणमोहपना है, मोह का नाश करना है; तीसरे प्रकार की निश्चय स्तुति है ।

पहले प्रकार की निश्चयस्तुति को जघन्य निश्चयस्तुति, दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति को मध्यम निश्चयस्तुति और तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति को उत्कृष्ट निश्चयस्तुति भी कहते हैं ।

जिन तीन प्रकार के होते हैं – (१) जितेन्द्रिय जिन, (२) जितमोह जिन और (३) क्षीणमोह जिन ।

सम्यग्दृष्टि जितेन्द्रिय जिन हैं, उपशणश्रेणीवाले जितमोह जिन हैं और क्षपकश्रेणीवाले क्षीणमोह जिन हैं। वीतरागी सर्वज्ञ भगवान जिनवर हैं, जिनेश्वर हैं ।

ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष के परिहारपूर्वक होनेवाली जितेन्द्रिय जिनरूप प्रथम निश्चयस्तुति चौथे गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान के स्वस्थान-अप्रमत्तभाग तक होती है। भाव्य-भावकसंकर दोष के परिहारपूर्वक होनेवाली जितमोह जिनरूप दूसरी निश्चयस्तुति उपशमश्रेणीवालों के होती है और भाव्य-भावक

भाव के अभावपूर्वक होनेवाली क्षीणमोहजिनरूप तृतीय निश्चयस्तुति क्षपकश्रेणीवालों के होती है। इसप्रकार चौथे गुणस्थान से बारहवें गुणस्थान तक निश्चयस्तुति होती है। तेरहवाँ गुणस्थान निश्चयस्तुति का फल है ।

प्रश्न – जितमोह तो ग्यारहवें गुणस्थान का नाम है और क्षीणमोह बारहवें गुणस्थान का नाम है। अतः जितमोहजिनरूप दूसरी स्तुति ग्यारहवें गुणस्थान में होनी चाहिये और क्षीणमोहजिनरूप तीसरी स्तुति बारहवें गुणस्थान में होनी चाहिये ।

उत्तर – तुम ठीक कहते हो, बात तो ऐसी ही है; क्योंकि मोह का पूर्ण उपशम ग्यारहवें गुणस्थान में होता है और मोह का पूर्ण नाश बारहवें गुणस्थान में होता है; पर मोह की विभिन्न प्रकृतियों का उपशम और क्षय आठवें, नौवें और दशवें गुणस्थान में भी होता जाता है; अतः वहाँ भी यथास्थान जितक्रोधजिन, जितमानजिन, क्षीणक्रोधजिन, क्षीणमानजिन आदि कहा जा सकता है। चूँकि ये सभी प्रकृतियाँ मोहकर्म की ही हैं; अतः उनकी अपेक्षा जितमोहजिन और क्षीणमोहजिन कहने में भी कोई आपत्ति नहीं होना चाहिये ।

दूसरी बात यह भी तो है कि यदि चौथे से सातवें के स्वस्थान-अप्रमत्तभाग तक जितेन्द्रियजिनरूप प्रथमस्तुति, ग्यारहवें गुणस्थान में जितमोहजिनरूप द्वितीयस्तुति और बारहवें गुणस्थान में क्षीणमोहजिनरूप तृतीयस्तुति कहेंगे तो फिर सातवें के सातिशय-अप्रमत्तभाग से दशवें गुणस्थान तक कोई भी स्तुति नहीं मानी जायेगी। अतः मोटे तौर पर यही ठीक है कि चौथे से सातवें के स्वस्थान-अप्रमत्तभाग तक प्रथमस्तुति, उपशम श्रेणीवालों को द्वितीयस्तुति और क्षपकश्रेणीवालों को तृतीयस्तुति कहा जाय ।

प्रश्न – मोह की किन-किन प्रकृतियों का किन-किन गुणस्थानों में उपशम व क्षय होता है ?

उत्तर – इस सम्बंध में विस्तृत कथन करणानुयोग के गोम्मटसारादि ग्रंथों से जानना चाहिये; वहाँ इन सबका विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ इस अध्यात्म के प्रकरण में उनकी विस्तृत चर्चा संभव नहीं है, उचित भी नहीं है।

उक्त सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"यह स्तुति साधकभाव है और वह बारहवें गुणस्थान तक ही होती हैं। तेरहवें गुणस्थान में स्तुति नहीं होती; क्योंकि तेरहवाँ गुणस्थान, केवलज्ञान तो स्तुति का फल है ।[१]

राग से भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव होने पर सम्यग्दर्शन होता है – वह पहली स्तुति है। ऐसा होते हुए भी सम्यग्दृष्टि के कर्म के उदय की ओर के झुकाव से स्वयं के कारण भावकर्म के निमित्त से विकारी भाव्य होता है। यह भाव्य-भावकसंकर दोष है तथा कर्म के उदय का लक्ष्य छोड़कर अखण्ड, एक चैतन्यघन प्रभु के सन्मुख होकर उसमें अपने उपयोग का जुड़ान करने से उपशमभाव द्वारा ज्ञानी उस मोह को जीतता है । – यह दूसरे प्रकार की निश्चयस्तुति है ।

प्रथम प्रकार की स्तुति में सम्यग्दर्शन सहित आनन्द का अनुभव है और दूसरे प्रकार की निश्चय स्तुति में भावक मोहकर्म के उदय के निमित्त से जो विकारी भाव्य हुआ; उसे स्वभाव के आश्रय से दबा दिया व उपशमभाव प्रगट किया। इसप्रकार की स्तुति में स्वभाव-सन्मुखता का पुरुषार्थ है, परन्तु वह मंद है। तीसरे प्रकार की स्तुति में प्रबल पुरुषार्थ से अन्दर एकाग्र होने से राग का नाश होता है। दूसरे प्रकार की स्तुति में जो उपशमश्रेणी थी, उससे पीछे हटकर क्षपकश्रेणी में जाने से रागादि का क्षय होता है। उपशमश्रेणी में रागादि का क्षय नहीं होता । इसकारण पीछे हटकर सातवें गुणस्थान में आकर पश्चात् उग्रपुरुषार्थ द्वारा क्षपकश्रेणी मांडने पर रागादि का अभाव होता है ।[२]

आत्मा तो मात्र अकषायस्वभावी आनन्दकंद है। उसकी दृष्टि करके अनुभव करना प्रथमप्रकार से आत्मा की स्तुति है। तत्पश्चात् राग के उदय में अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से पर में उपयोग का जुड़ान होता था, उसे भी अपने स्वरूप की ओर के पुरुषार्थ से रोककर राग को दबाया, राग का उपशम किया। यह उपशमश्रेणी दूसरे प्रकार की स्तुति है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – २, पृष्ठ ५८

२. वही, पृष्ठ ६०-६१

ग्यारहवें गुणस्थान में उपशमभाव होता है, वहाँ क्षायिकभाव नहीं होता। इसकारण वहाँ से पीछे हटकर, सातवें गुणस्थान में आकर फिर पुरुषार्थ की अति उग्रता से जो राग का नाश किया जाता है, वह तीसरे प्रकार की निश्चयस्तुति है।[१]"

प्रश्न – आचार्य जयसेन तो प्रथमप्रकार की निश्चयस्तुति में भी 'परमसमाधि' शब्द का प्रयोग करते हैं। क्या परमसमाधि चौथे गुणस्थान में संभव है, जो आप प्रथम निश्चयस्तुति को चौथे गुणस्थान से बताते हैं ?

उत्तर – सम्यग्दर्शन की प्राप्ति करणलब्धिपूर्वक ही होती है। करणलब्धि के परिणामों का स्वरूप जो शास्त्रों में बताया गया है, वह भी समाधिरूप ही है, ध्यानरूप ही है। आत्मानुभूति की दशा एक प्रकार से समाधि ही है, अतः चौथे गुणस्थान से यथास्थान यथायोग्य होनेवाली आत्मानुभूति को ही वहाँ 'परमसमाधि' शब्द से अभिहित किया गया है। – ऐसा जानना चाहिए ।

दूसरी व तीसरी स्तुति क्रमशः उपशम और क्षपकश्रेणीवालों के होती है। उक्त दोनों श्रेणियों में क्रमशः चारित्रमोह का उपशम और क्षय होता है। चारित्रमोह का अभाव इन दोनों में यथायोग्य होता है। इसीकारण इनके नाम भी जितमोह जिन और क्षीणमोह जिन हैं। अब मोह में दर्शनमोह ही शेष रहा, जिसका अभाव प्रथम निश्चयस्तुति में होना सुसंगत ही है। इसप्रकार यही ठीक है कि जितेन्द्रियजिनरूप प्रथम निश्चय स्तुति दर्शनमोह का क्षय, क्षयोपशम एवं उपशम करनेवाली है और जितमोहरूप द्वितीय निश्चयस्तुति चारित्रमोह का उपशम करनेवाली तथा क्षीणमोहरूप तृतीय निश्चयस्तुति चारित्रमोह का क्षय करनेवाली है। इसप्रकार सम्पूर्ण मोह का नाश हो जाने से आत्मा पूर्ण वीतरागी हो जाता है। वीतरागी हो जाना ही वीतराग भगवान की निश्चय स्तुति का फल है ।

जहाँ-जहाँ भक्ति को मुक्ति का कारण कहा गया हो, वहाँ यही निश्चयस्तुति/निश्चयभक्ति लेना चाहिए। देह के आश्रय से की गई भगवान की

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – २, पृष्ठ ६१

विकल्पात्मक स्तुति पुण्यबंध का कारण तो हो सकती है, मुक्ति का कारण नहीं। मुक्ति का कारण तो यह निश्चयस्तुति ही है, जो परमसमाधिस्वरूप ही है ।

अज्ञानीजन निश्चयभक्ति का तो सच्चा स्वरूप समझते ही नहीं हैं; व्यवहारभक्ति को भी सही रूप में नहीं जानते हैं। भक्ति का सच्चा स्वरूप ख्याल में न होने से आज की भक्ति में अनंत विकृतियां समाहित हो गई हैं; जिनका विस्तृत विवेचन पंडित टोडरमलजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के सातवें अधिकार में व्यवहाराभासी के प्रकरण में किया है; जिज्ञासु पाठकों को उक्त प्रकरण का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। लेखक की अन्य कृति "तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ" में भी देव-शास्त्र-गुरु के स्वरूप पर विचार करते हुए आधुनिक भक्ति में समागत विकृतियों पर प्रकाश डाला गया है। जिज्ञासा शान्त करने के लिए उसका अध्ययन भी उपयोगी है ।

जितमोहजिन और क्षीणमोहजिन के स्वरूप का प्रतिपादन करनेवाली इन गाथाओं के भाव को आत्मख्याति टीका में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है -

"जो मुनि फल देने की सामर्थ्य से उदयरूप होकर भावकपने से प्रगट होते हुए मोहकर्म के अनुसार प्रवृत्तिवाले भाव्यरूप अपने आत्मा को भेदज्ञान के बल से दूर से ही अलग करके - इसप्रकार मोह का बलपूर्वक तिरस्कार करके, समस्त भाव्य-भावकसंकर दोष दूर करके एकत्व में टंकोत्कीर्ण, विश्व के ऊपर तिरते हुए, प्रत्यक्ष उद्योतपने से सदा अंतरंग में प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्ध और परमार्थरूप भगवान ज्ञानस्वभाव के द्वारा परमार्थ से सर्व अन्यद्रव्यों से भिन्न अपने आत्मा का अनुभव करते हैं; वे निश्चय से जितमोहजिन हैं। - यह दूसरी निश्चयस्तुति है ।

पूर्वोक्तविधान से आत्मा में से मोह का तिरस्कार करके, पूर्वोक्त ज्ञानस्वभाव के द्वारा अन्य द्रव्यों से भिन्न आत्मा का अनुभव करने से जो आत्मा जितमोह हुआ है; जब वही आत्मा अपने स्वभाव की भावना का भलीभाँति अवलम्बन करके मोह की संतति का ऐसा आत्यन्तिक विनाश करता है कि फिर उसका उदय ही न हो, - इसप्रकार भावकरूप मोह पूर्णतः क्षीण हो; तब भाव्य-भावक

भाव का अभाव होने से एकत्व में टंकोत्कीर्ण परमात्मा को प्राप्त हुआ। वह आत्मा क्षीणमोहजिन कहलाता है। - यह तीसरी निश्चयस्तुति है ।

गाथाओं में जहाँ 'मोह' पद का प्रयोग हुआ है, उसके स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय, शब्दों को रखकर ग्यारह-ग्यारह गाथायें बनाकर; उनका भी इसीप्रकार व्याख्यान करना तथा कर्ण, चक्षु, घ्राण, रसना और स्पर्शन - इन पाँच इन्द्रियों को भी 'मोह' पद के स्थान पर रखकर इन्द्रियसूत्र के रूप में पाँच-पाँच गाथायें पृथक् से बनाना और उनका भी पूर्ववत् व्याख्यान करना ।

इसप्रकार इन गाथाओं के अनुसार १६-१६ गाथायें बनाकर विस्तार से व्याख्यान करना ।

इसीप्रकार इन १६-१६ सूत्रों के अलावा भी विचार कर लेना ।"

यहाँ आचार्यदेव ३२वीं और ३३वीं गाथा के आधार १६-१६ गाथायें बनाकर उनकी व्याख्या भी इसीप्रकार करने का आदेश दे रहे हैं, जिससे हमें जितमोहजिन के समान जितरागजिन, जितद्वेषजिन, जितक्रोधजिन, जिनमानजिन आदि का तथा क्षीणमोहजिन के समान क्षीणरागजिन, क्षीणद्वेषजिन, क्षीणक्रोधजिन, क्षीणमानजिन आदि का स्वरूप भी ख्याल में आयेगा ।

नमूने के रूप में गाथाओं में परिवर्तन इसप्रकार किया जा सकता है -

(हरिगीत)

राग को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
जितरागजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
द्वेष को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
जितद्वेष जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
क्रोध को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
जितक्रोधजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
मान को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
जितमानजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥

उक्त गाथाएँ ३२वीं गाथा का रूपान्तरण है। ३३वीं गाथा का रूपान्तरण इसप्रकार होगा –

(हरिगीत)

सब रागक्षय हो जाय जब जितराग सम्यक् श्रमण का ।
तब क्षीणरागी जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
सब द्वेष क्षय हो जाय जब जितद्वेष सम्यक् श्रमण का ।
तब क्षीणद्वेषी जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
सब क्रोधक्षय हो जाय जब जितक्रोध सम्यक् श्रमण का ।
तब क्षीणक्रोधी जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥
सब मानक्षय हो जाय जब जितमान सम्यक् श्रमण का ।
तब क्षीणमानी जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥

नमूने के रूप में यहाँ ३२वीं व ३३वीं गाथा के हिन्दी पद्यानुवाद की चार-चार गाथायें बनाकर बताई गई हैं। इन्हीं के अनुसार अन्य गाथाएँ भी बनाई जा सकती हैं। व्याख्या भी जिसप्रकार ३२वीं व ३३वीं गाथा की की गई है, उसीप्रकार इनकी भी की जा सकती है। आध्यात्मरुचि सम्पन्न प्रत्येक अभ्यासी को यह सब करना चाहिए, आलस्य नहीं करना चाहिए; क्योंकि इसप्रकार करने से ज्ञान में स्पष्टता होती है, विषय-वस्तु समझने में सुविधा रहती है, बात धारणा में बैठती है, परिणामों में निर्मलता होती है, आचार्यदेव की आज्ञा का पालन होता है ।

आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी ने इन गाथाओं पर प्रवचन करते समय इनकी १६ गाथाओं के रूप में व्याख्या की है; जो मूलतः पठनीय है। नमूने के रूप में उसका संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

"गाथा सूत्र में एक मोह का ही नाम लिया है। उसमें 'मोह' पद बदलकर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, कर्म, नोकर्म, मन-वचन-काय – इन पदों को रखकर ग्यारह सूत्रों का भिन्न-भिन्न रूप में व्याख्यान करना चाहिए ।

यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो कर्म में आया; किन्तु सम्यग्दृष्टि ज्ञानी का आत्मा भी उसका अनुसरण करके पर्याय में राग-द्वेषरूप होने की योग्यतावाला

है। इस कारण कर्म के उदय के अनुसार जो पर्याय में राग-द्वेष होते हैं; वह संकरदोष है। जब ज्ञायकस्वभाव के उग्र आश्रय से ज्ञानी का कर्मोदय की ओर का झुकाव छूटकर पर से पृथकता हो जाती है और उससे राग-द्वेष उत्पन्न नहीं होते, बल्कि अरागी-अद्वेषी-वीतरागी परिणाम प्रगट होते हैं, उसे राग-द्वेष का जीतना कहते हैं ।

राग व द्वेष में चारों कषायें आ जाती हैं। क्रोध तथा मान द्वेषरूप हैं तथा माया और लोभ रागरूप हैं। यद्यपि चारित्रमोह का उदय तो जड़ में आता है; तथापि समकिती व मुनि के भी चारित्रमोह के चारों ही प्रकार के कर्मोदय का अनुसरण करके कषायरूप परिणमन करने की योग्यता है। यहाँ कषाय प्रगट हुई, पश्चात् जीतकर छोड़ देता है – ऐसा नहीं समझना; परन्तु कषाय उत्पन्न ही नहीं होने देता है – यह समझना चाहिए। कषाय के उदय की ओर का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव के लक्ष्य से स्वभाव का अनुसरण करते हुए भावक-भाव्य का भेदज्ञान होता है, इसकारण भाव्य कषाय उत्पन्न ही नहीं होती है। उसे ही कषाय का जीतना कहा है।[१]"

उक्त कथन में स्वामीजी ने मोह के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ – इन छह को रखकर इन्हें जीतने की व्याख्या प्रस्तुत की है। इसीप्रकार उन्होंने आगे कर्म, नोकर्म आदि को भी स्पष्ट किया है। कर्म में आठों कर्मों के आधार पर स्पष्टीकरण किया है। पाँच इन्द्रियों की बात को भी समझाया है।

उक्त सम्पूर्ण स्पष्टीकरण से यह अच्छीतरह समझा जा सकता है कि इन गाथाओं के आधार पर १६-१६ गाथायें किसप्रकार बनाना और उनकी व्याख्या कैसे करना ?

प्रश्न – टीका में यह कहा गया था कि इसप्रकार १६-१६ सूत्र बनाकर व्याख्या करना चाहिये तथा और भी विचार लेना चाहिये। इस और भी विचार

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग – २, पृष्ठ ६०-६१

लेने से क्या आशय है ? क्या १६-१६ गाथाओं से अधिक गाथायें बनाई जा सकती हैं ? यदि हाँ तो किसप्रकार ?

उत्तर – हास्यादि नौ नोकषायों के आधार पर भी नौ-नौ गाथायें बनाई जा सकती हैं, वे इसप्रकार होंगी –

(हरिगीत)

हास्य को जो जीत जाने ज्ञानमय निज-आतमा ।
जितहास्यजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥
रती को जो जीत जाने ज्ञानमय निज-आतमा ।
जितरतीजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥
अरति को जो जीत जाने ज्ञानमय निज-आतमा ।
जित-अरतिजिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥

उक्त गाथायें ३२वीं गाथा का रूपान्तरण हैं। ३३वीं गाथा का रूपान्तरण इसप्रकार होगा –

(हरिगीत)

सब हास्य क्षय हो जाय जब जितराग सम्यक् श्रमण का ।
तब क्षीणहास्यी जिन कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥
सब रती क्षय हो जाय जब जितरती सम्यक् श्रमण की ।
तब क्षीणरती जिन कहें परमार्थ ज्ञायक-आतमा ॥
सब अरति क्षय हो जाय जब जित-अरति सम्यक् श्रमण की ।
तब क्षीण-अरति जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥

जिसप्रकार यहाँ हास्यादि कषायों के आधार पर ये तीन-तीन गाथायें बनाई हैं, उसीप्रकार शेष छह-छह भी बना लेना चाहिये। इनके अतिरिक्त और भी गाथायें बनाई जा सकती हैं ।

इसप्रकार २६वीं गाथा में आरंभ हुआ स्तुति का प्रकरण निश्चय-व्यवहार स्तुति की विस्तृत व्याख्या के उपरान्त समाप्त होता है। अतः आचार्य अमृतचन्द्रदेव इस प्रकरण के उपसंहाररूप में दो कलश काव्य लिखते हैं; जिनमें सम्पूर्ण वस्तु का उपसंहार करते हुए निष्कर्ष प्रस्तुत करते हैं ।

(शार्दूलविक्रीडित)

एकत्वं व्यवहारतो न तु पुनः कायात्मनोर्निश्चया-
न्नुः स्तोत्रं व्यवहारतोऽस्ति वपुषः स्तुत्या न तत्तत्त्वतः ।
स्तोत्रं निश्चयतश्चितो भवति चित्स्तुत्यैव सैवं भवे-
न्नातस्तीर्थकरस्तवोत्तरबलादेकत्वमात्मांगयोः ॥२७॥

(हरिगीत)

इस आतमा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से ।
यह शरीराश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार से ॥
परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन ।
परमार्थ से तो भिन्न ही हैं देह अर चैतन्यघन ॥२७॥

शरीर और आत्मा के व्यवहारनय से एकत्व है, किन्तु निश्चयनय से नहीं। इसलिए शरीर के स्तवन से आत्मा का स्तवन व्यवहार से ही कहलाता है, निश्चयनय से नहीं। निश्चयनय से तो चेतन के स्तवन से ही चेतन का स्तवन होता है। और वह चेतन का निश्चय स्तवन यहाँ जितेन्द्रिय, जितमोह और क्षीणमोह रूप से जैसा कहा है, वैसा ही होता है ।

इसप्रकार अज्ञानी ने तीर्थंकरों के व्यवहार स्तवन के आधार पर जो प्रश्न खड़ा किया था; उसका नयविभाग से इसप्रकार उत्तर दिया है; जिसके बल से यह सिद्ध हुआ कि आत्मा और शरीर में निश्चय से एकत्व नहीं है ।

इस कलश में सम्पूर्ण प्रकरण के निष्कर्ष को अत्यन्त सीधी और सपाट भाषा में प्रस्तुत कर दिया गया है कि निश्चय से आत्मा और शरीर किसी भी रूप में एक नहीं हैं; भिन्न-भिन्न ही हैं। अतः इस कलश के सन्दर्भ में कुछ भी कहना आवश्यक प्रतीत नहीं होता ।

(मालिनी)

इति परिचिततत्वैरात्मकायैकतायां ।
नयविभजनयुक्त्याऽत्यन्तमुच्छादितायाम् ॥
अवतरति न बोधो बोधमेवाद्य कस्य ।
स्वरसरभसकृष्टः प्रस्फुटन्नेक एव ॥२८॥

(हरिगीत)

इस आतमा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से ।
निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने ॥
यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सद्बोध हो ।
भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सद्बोध हो ॥२८॥

जब तत्त्व से परिचित मुनिराजों ने आत्मा और शरीर के एकत्व को इसप्रकार नयविभाग की युक्ति द्वारा जड़मूल से उखाड़ फैंका है; तब निजरस के वेग से आकृष्ट हुए प्रस्फुटित किस पुरुष को वह ज्ञान तत्काल ही यथार्थपने को प्राप्त न होगा ?

इस कलश के माध्यम से आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि ज़ब सर्वज्ञदेव ने, तत्त्वमर्मज्ञ आचार्यों ने, ज्ञानी धर्मात्माजनों ने नयविभाग के द्वारा शरीर और आत्मा के एकत्व को जड़मूल से ही उखाड़ फैंका है, पूरीतरह निरस्त कर दिया है तो फिर ऐसा कौन व्यक्ति है कि जिसकी समझ में देह भिन्न है और आत्मा भिन्न है, यह बात नहीं आवे। तात्पर्य यह है कि जिसे निजरस का रस है, जो निजरस के वेग से आकृष्ट है, प्रस्फुटित है, स्फुरायमान है, उत्साहित है, उसे तो यह बात अवश्य ही समझ में आ जावेगी ।

यह कहकर आचार्यदेव ने आत्मरसिकों पर अटूट आस्था व्यक्त की है, साथ ही यह भी कह दिया है कि जिसकी समझ में अब भी न आवे तो समझना चाहिए कि वह आत्मरसिक ही नहीं है, आत्मरस उसे आकर्षित ही नहीं करता है, आत्मा की प्राप्ति के लिए उसका वीर्य उल्लसित ही नहीं होता है, स्फुरायमान ही नहीं होता है ।

यह कहकर आचार्यदेव इस प्रकरण को यही समाप्त करना चाहते हैं; क्योंकि इस कलश के बाद ही आचार्य अमृतचन्द्रदेव तत्काल लिखते हैं कि "इत्यप्रतिबुद्धोक्तिनिरासः - इसप्रकार अप्रतिबुद्ध ने २६वीं गाथा में जो युक्ति रखी थी, उसका निराकरण कर दिया ।"

समयसार गाथा ३४-३५

आत्मख्याति टीका में ३४वीं गाथा की जितनी लम्बी उत्थानिका लिखी गई है, उतनी लम्बी उत्थानिका शायद ही किसी अन्य गाथा की लिखी गई होगी। वह उत्थानिका इसप्रकार है :-

"इसप्रकार यह अज्ञानीजीव अनादिकालीन मोह की संतान से निरूपित आत्मा और शरीर के एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था; अब वह तत्त्वज्ञानरूप ज्योति के प्रगट उदय होने से नेत्र के विकार की भाँति पटलरूप आवरणकर्मों के भलीभाँति उघड़ जाने से प्रतिबुद्ध हो गया और अपने आपको स्वयं से ही साक्षात् दृष्टा जानकर, श्रद्धानकर, उसी का आचरण करने का इच्छुक होता हुआ पूछता है कि इस आत्मा को अन्य द्रव्यों का प्रत्याख्यान क्या है ?"

इसी प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ये (३४वीं और ३५वीं) गाथायें लिखते हैं ।

उक्त उत्थानिका में कहा गया है कि अनादि से तो यह आत्मा शरीर और आत्मा को एक ही मान रहा था, आत्मा और देह के अत्यन्त दृढ़ एकत्व के संस्कार से अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, अज्ञानी था; पर अब इसने तत्त्वज्ञान की ज्योति के प्रभाव से आवरण हट जाने से अपने ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव को जान लिया, पहिचान लिया है; अतः अब उसे आचरण में भी उतारना चाहता है। इसलिए अब यह अन्य द्रव्यों के त्याग का स्वरूप जानना चाहता है, विधि जानना चाहता है; इसकारण अत्यन्त विनयपूर्वक पूछता है कि हे प्रभो ! प्रत्याख्यान का वास्तविक स्वरूप क्या है, प्रत्याख्यान की वास्तविक विधि क्या है ?

यहाँ नेत्र का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की गई है कि जिसप्रकार विकृत आँखों से रंग सही दिखाई नहीं देते; पर नेत्रविकार दूर हो जाने पर सबकुछ

साफ-साफ दिखाई देने लगता है; उसीप्रकार जबतक आत्मा अप्रतिबुद्ध था, तबतक पर में अपनत्व भासित होता था, देह और आत्मा में एकत्व भासित होता था; पर अब वह प्रतिबुद्ध हो गया है, अतः सबकुछ स्पष्ट हो गया है। इसलिए अब वह पर से छुटकारा पाना चाहता है। यही कारण है कि वह प्रत्याख्यान के, त्याग के सही स्वरूप के बारे में जानना चाहता है; प्रत्याख्यान की, त्याग की विधि जानना चाहता है ।

ऐसे शिष्य की जिज्ञासा शान्त करने के लिए आचार्यदेव ३४वीं व ३५वीं गाथा में प्रत्याख्यान का स्वरूप और विधि सोदाहरण स्पष्ट करते हैं, जो इसप्रकार है :-

सव्वे भावे जम्हा पच्चक्खाई परे त्ति णादूणं ।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेदव्वं ॥३४॥
जह णाम कोवि पुरिसो परदव्वमिणं ति जाणिदुं चयदि ।
तह सव्वे परभावे णाऊण विमुञ्चदे णाणी ॥३५॥

(हरिगीत)

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करें ।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥३४॥
जिसतरह कोई पुरुष पर जानकर पर परित्यजे ।
बस उसतरह पर जानकर परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥३५॥

जिसकारण यह आत्मा अपने आत्मा से भिन्न समस्त परपदार्थों का 'वे पर हैं' - ऐसा जानकर प्रत्याख्यान करता है, त्याग करता है; उसी कारण प्रत्याख्यान ज्ञान ही है। - ऐसा नियम से जानना चाहिए। तात्पर्य यह है कि अपने ज्ञान में त्यागरूप अवस्था होना ही प्रत्याख्यान है, त्याग है; अन्य कुछ नहीं ।

जिसप्रकार लोक में कोई पुरुष परवस्तु को 'यह परवस्तु है' - ऐसा जानकर परवस्तु का त्याग करता है; उसीप्रकार ज्ञानी पुरुष समस्त परद्रव्यों के भावों को 'ये परभाव हैं' - ऐसा जानकर छोड़ देते हैं ।

इन गाथाओं में प्रत्याख्यान का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया गया है। प्रत्याख्यान का अर्थ त्याग होता है। वास्तविक त्याग तो परपदार्थों को 'पर' जानना ही है। जब हमने यह जान लिया कि ये पदार्थ मुझसे भिन्न हैं, पर हैं तो उनका त्याग हो ही गया; क्योंकि त्याग करने के लिए यह जानने के अतिरिक्त और क्या करना है ?

प्रश्न – क्या उन्हें छोड़ना नहीं पड़ेगा ?

उत्तर – जब उनका ग्रहण ही नहीं हुआ है तो फिर छोड़ने का प्रश्न ही कहाँ खड़ा होता है। उन्हें तो मात्र अपना जाना गया था, उनका ग्रहण तो संभव ही नहीं है; क्योंकि आत्मा में एक 'त्यागोपादानशून्यत्व' नाम की शक्ति है; जिसके कारण यह भगवान आत्मा पर के ग्रहण-त्याग से शून्य है। यह शक्ति बताती है कि आत्मा में ऐसा कोई स्वभाव ही नहीं है कि जिसके कारण वह परपदार्थों का ग्रहण और त्याग करे। आजतक इस आत्मा ने किसी परपदार्थ का ग्रहण किया ही नहीं है तो फिर त्याग भी किसका करे ? इसने तो अपने अज्ञान से पर को मात्र अपना जाना था, माना था। इसके इस जानने-मानने के कारण यह तो अज्ञानी हो गया, मिथ्यादृष्टि हो गया; पर कोई पदार्थ इसका हुआ नहीं, हो सकता नहीं। अतः पर के त्याग की कोई समस्या नहीं है; मात्र जिन पदार्थों को अज्ञान से अपना जाना-माना है; उन्हें अपना जानना-मानना ही छोड़ना है, यही पर का त्याग है; इसकारण प्रत्याख्यान भी ज्ञान ही है, इससे अन्य कुछ नहीं ।

पर को अपना जानना-मानना त्यागना ही सच्चा त्याग है, प्रत्याख्यान है । यही बताना इन गाथाओं का मूल प्रतिपाद्य है ।

इन गाथाओं के भाव को आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गाया है –

"यह ज्ञाता-दृष्टा भगवान आत्मा अन्यद्रव्यों के स्वभाव से होनेवाले अन्य समस्त परभावों को, अपने स्वभावभाव से व्याप्त न होने के कारण पररूप जानकर त्याग देता है; इसलिए यह सिद्ध हुआ कि जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है; अन्य कोई त्याग करनेवाला नहीं है। – इसप्रकार आत्मा में निश्चय करके प्रत्याख्यान के समय प्रत्याख्यान करने योग्य परभाव की

उपाधिमात्र से प्रवर्तमान त्याग के कर्तृत्त्व का नाम होने पर भी परमार्थ से देखा जाय तो परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम अपने को नहीं है; क्योंकि स्वयं तो ज्ञानस्वभाव से च्युत नहीं हुआ है । इसलिए प्रत्याख्यान ज्ञान ही है – ऐसा अनुभव करना चाहिए ।

जिसप्रकार कोई पुरुष धोबी के घर से भ्रमवश दूसरे का वस्त्र लाकर, उसे अपना समझकर ओढ़कर सो रहा है और अपने आप ही अज्ञानी हो रहा है; किन्तु जब दूसरा व्यक्ति उस वस्त्र का छोर पकड़कर खींचता है, उसे नंगा कर कहता है कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह मेरा वस्त्र बदले में आ गया है; अतः मुझे दे दे' – तब बारम्बार कह गये इस वाक्य को सुनता हुआ वह उस वस्त्र की सर्वचिन्हों से भली-भांति परीक्षा करके 'अवश्य यह वस्त्र दूसरे का ही है' – ऐसा जानकर ज्ञानी होता हुआ उस वस्त्र को शीघ्र ही त्याग देता है।

इसीप्रकार आत्मा भी भ्रमवश परद्रव्य के भावों को ग्रहण करके, उन्हें अपना जानकर, अपना मानकर, अपने में एकरूप करके सो रहा है और अपने आप अज्ञानी हो रहा है। किन्तु जब श्रीगुरु परभाव का विवेक करके, भेदज्ञान करके; उसे एक आत्मभावरूप करते हैं और कहते हैं कि 'तू शीघ्र जाग, सावधान हो, यह तेरा आत्मा एक ज्ञानमात्र ही है, अन्य सब परद्रव्य के भाव हैं'; तब बारम्बार कहे गये इस आगम वाक्य को सुनता हुआ वह समस्त स्व-पर के चिन्हों से भली-भांति परीक्षा करके, 'अवश्य ये भाव परभाव ही हैं, मैं तो एक ज्ञानमात्र ही हूँ' – यह जानकर, ज्ञानी होता हुआ सर्व परभावों को तत्काल ही छोड़ देता है ।"

यहाँ धोबी के घर से भ्रमवश भूल से लाये गये वस्त्र को अपना मानकर सोनेवाले पुरुष और उसे जगाकर वस्तुस्थिति का ज्ञान करानेवाले पुरुष का उदाहरण देकर यह समझाया गया है कि यह आत्मा अनादि से ही परपदार्थों को अपना मानकर स्वयं अज्ञानी हो रहा है, किन्तु जब सद्गुरु समझाते हैं कि हे भाई; ये परभाव तेरे नहीं हैं; तू तो इनसे भिन्न ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा है; तब सद्गुरु के बारम्बार समझाने से सचेत हुआ यह आत्मा समस्त

परपदार्थों से एकत्वबुद्धि छोड़ देता है, अपनापन तोड़ देता है, उससे मुँह मोड़ लेता है और अपने में अपनापन जोड़ लेता है । यह सम्पूर्ण क्रिया-प्रक्रिया ज्ञान में ही सम्पन्न होती है; क्योंकि परपदार्थ तो अपने कभी हुए ही नहीं है, मात्र उन्हें अपना जाना था, और अब उन्हें अपना जानना छोड़ दिया है। अतः सबकुछ ज्ञान में ही घटित हुआ है। अतः ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ।

इस बात को कविवर पण्डित बनारसीदासजी इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ जन गयौ धोबी कै सदन तिन,
पहिर्यो परायौ वस्त्र मेरौ मानि रह्यौ है ।
धनी देखि कह्यौ भैया यह तौ हमारौ वस्त्र,
चीन्हैं पहिचानत ही त्यागभाव लह्यौ है ॥
तैसैं ही अनादि पुद्गल सौं संयोगी जीव,
संग के ममत्व सौं विभावता मैं बह्यौ है ।
भेदज्ञान भयौ जब आपौ पर जान्यौ तब,
न्यारौ परभाव सौं स्वभाव निज गह्यौ है ॥३२॥

उक्त सम्पूर्ण कथन में एक बात पर विशेष बल दिया जा रहा है कि जिसप्रकार यह पता चलते ही कि 'यह वस्त्र मेरा नहीं है', तत्काल ही त्यागभाव आ जाता है; जानने, पहिचानने और त्यागभाव आने में समयभेद नहीं है, तीनों एक काल में ही होते हैं। इसीप्रकार परपदार्थों और उनके भावों को जब पररूप जानते हैं तो उसी समय उनसे अपनापन टूट जाता है और उनके त्याग का भाव आ जाता है। यह बात अलग है कि तत्काल उस वस्त्र को वह व्यक्ति छोड़ न पावे; क्योंकि जबतक दूसरे वस्त्र की व्यवस्था न हो जावे, तबतक लाज की सुरक्षा के लिए कदाचित् उसे ओढ़े रहना पड़े, तो भी उसमें से अपनापन टूट जाता है, त्यागभाव आ जाता है। उसीप्रकार रागादि भावों को पर जान लेने पर भी कुछ कालतक रागादिभावों का संयोग देखा जा सकता

है, पर उनसे अपनापन पूरी तरह टूट जाता है। जब अपनापन छूट गया तो एक दिन वे भी अवश्य छूट जावेंगे ।

हाँ, एक बात यह भी तो है कि उनसे अपनापन टूटते ही अनन्तानुबंधी संबंधी राग भी नियम से छूट जाता है; क्योंकि मिथ्यात्व के साथ अनन्तानुबंधी कषाय भी जाती ही है। अत: यह सुनिश्चित ही है कि श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की शुद्धि एक साथ ही आरंभ होती है। इनकी पूर्णता में कालभेद हो सकता है; पर आरंभ में, उत्पत्ति में कालभेद नहीं होता ।

सम्यग्दर्शन चतुर्थगुणस्थान में ही पूर्ण हो जाता है, क्योंकि किन्हीं-किन्हीं को क्षायिक सम्यग्दर्शन चौथे गुणस्थान में ही हो जाता है। ज्ञान भी सम्यक् तो चौथे गुणस्थान में हो जाता है, पर उसकी पूर्णता तेरहवें गुणस्थान में होती है; क्योंकि क्षायिकज्ञान की प्राप्ति, केवलज्ञान की प्राप्ति, सर्वज्ञता की प्राप्ति तेरहवें गुणस्थान में होती है। इसीप्रकार सम्यक्चारित्र की पूर्णता बारहवें गुणस्थान में होती है; क्योंकि पूर्ण वीतरागता वहीं प्रगट होती है। चारित्रमोहनीय का नाश दशवें गुणस्थान के अन्त में होता है और उसके बाद तत्काल बारहवें गुणस्थान में क्षायिकचारित्र प्रगट हो जाता है ।

इसप्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र इनकी उत्पत्ति, इनका आरंभ तो एकसाथ होता है; पर पूर्णता में कालभेद पड़ता है ।

प्रश्न – यहाँ तो आप कह रहे हैं कि जानने और त्यागने में कालभेद नहीं है और आत्मख्याति में कहा था कि जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है। इन दोनों कथनों में परस्पर विरोध क्यों है ?

उत्तर – कोई विरोध नहीं है; क्योंकि जिस समय पर से भिन्नता का ज्ञान होता है, उसी समय त्यागभाव भी आ जाता है। यहाँ कारण-कार्य संबंध बताने के लिए ही ऐसा कहा है कि जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है ।

इसीप्रकार का प्रश्न उठाकर स्वामीजी उसका समाधान इसप्रकार करते हैं –

"प्रश्न – जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है; दूसरा कोई त्यागनेवाला नहीं है। इसका क्या अर्थ है ?

उत्तर – ज्ञानस्वभाव में विभाव या विकल्प व्यापने योग्य नहीं है – ऐसा जाननेवाला ज्ञातापुरुष विभावरूप नहीं परिणमता, तब उसे ही राग को त्यागनेवाला कहा जाता है ।[१]

जाननेवाला ऐसा जानता है कि मैं तो स्वभाव से देखने-जाननेवाला हूँ। पुण्य-पाप के भाव मेरे स्वभाव नहीं होने से परभाव हैं। अतः उन्हें जानकर उनका त्याग करता है, अर्थात् वहाँ से हटकर स्वरूप में ठहरता है। इसीकारण जो पहले जानता है, वही पीछे त्याग करता है – ऐसा कहा है ।[२]"

आत्मख्याति में जहाँ यह लिखा है कि जो पहले जानता है, वही बाद में त्याग करता है, वहीं अन्त में निष्कर्ष के रूप में यह भी लिखा है कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। जब ज्ञान ही प्रत्याख्यान है तो फिर ज्ञान और प्रत्याख्यान में, जानने और त्यागने में कालभेद कैसे हो सकता है ?

आत्मख्याति की यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम होने पर भी परमार्थ से परभाव के त्याग के कर्तृत्व का नाम भी नहीं है। वस्तुतः बात यह है कि आत्मा ने परभाव को जब ग्रहण ही नहीं किया है, तब त्याग की बात भी कैसे हो सकती है ? अज्ञान से परवस्तु को अपनी जाना था, माना था; इसलिए पर को निज जानने-मानने का ही त्याग होता है । उसमें भी करना क्या है ? मात्र यह जानना ही तो है कि परभाव मेरे नहीं है । यह जानने का नाम ही त्याग है। इसप्रकार जानना ही तो त्याग ठहरा, जानने के अतिरिक्त और क्या करना है, जिसे त्याग करना कहा जाय?

इस बात को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ कहते हैं कि सम्यग्दृष्टि के जो अस्थिरता का रागरूप परिणमन है; उस रागरूप होकर रहने का मेरा स्वरूप नहीं है – ऐसा जानकर अन्दर स्वरूप

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ८१

२. वही, पृष्ठ ८१-८२

में स्थिर हुआ, तब स्वरूप स्थिरता के काल में राग की उत्पत्ति ही नहीं हुई। अतः राग का त्याग किया – ऐसा नाममात्र कथन करने में आता है। परमार्थ से राग के त्याग का कर्ता आत्मा नहीं है अर्थात् परभाव के त्याग के कर्तापने का नाम भी आत्मा के नहीं है ।[१]

परद्रव्य को पररूप से जाना तो परभाव का ग्रहण नहीं हुआ, वही उसका त्याग है। राग की ओर उपयोग के जुड़ान से जो अस्थिरता थी; उस ज्ञानोपयोग के ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा में स्थिर होने पर अस्थिरता उत्पन्न ही नहीं हुई, बस इसे ही प्रत्याख्यान कहते हैं । **इसलिए स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है । ज्ञान के सिवाय दूसरा कोई भाव प्रत्याख्यान नहीं है । ज्ञायक चैतन्यसूर्य में ज्ञान का स्थिर हो जाना ही प्रत्याख्यान है ।**[२]''

आत्मा को जानना ज्ञान है और आत्मा को ही लगातार जानते रहना प्रत्याख्यान है, त्याग है, ध्यान है। प्रत्याख्यान, त्याग और ध्यान – ये सभी चारित्रगुण के ही निर्मल परिणमन हैं; जो ज्ञान की स्थिरतारूप ही हैं। अतः यह ठीक ही कहा है कि स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है ।

जयचन्दजी छाबड़ा ३४वीं गाथा के भावार्थ में लिखते हैं –

''आत्मा को परभाव के त्याग का कर्तृत्व है, वह नाममात्र ही है । वह स्वयं तो ज्ञानस्वभावी है। परद्रव्य को पर जाना और फिर परभाव का ग्रहण नहीं करना ही त्याग है। इसप्रकार स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है, ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई भाव नहीं है ।''

आचार्य जयसेन तो अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि –

''इसलिए निर्विकल्प स्वसंवेदन ज्ञान ही नियम से प्रत्याख्यान है – ऐसा मानना चाहिए, जानना चाहिए, अनुभव करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि परमसमाधिकाल में स्वसंवेदनज्ञान के बल से जो शुद्धात्मा का अनुभव होता है, वह स्वानुभव ही निश्चय प्रत्याख्यान है ।''

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ८३
२. वही, पृष्ठ ८५

अब आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलशकाव्य के रूप में कहते हैं कि दृष्टान्त द्वारा जो यह बात समझाई गई है, उसका प्रभाव क्षीण होने के पहले ही आत्मानुभव प्रगट हो जाता है, हो जाना चाहिए। उग्र पुरुषार्थ से आत्मानुभव करने की प्रेरणा देनेवाला वह कलशकाव्य इसप्रकार है –

(मालिनी)

अवतरित न यावद् वृत्तिमत्यन्तवेगा–
दनवमपरभावत्यागदृष्टान्तदृष्टिः ।
झटिति सकलभावैरन्यदीयैर्विमुक्ता
स्वयमियमनुभूतिस्तावदाविर्बभूव ॥ २९ ॥

(हरिगीत)

परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े ।
अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती ॥
व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अतिशीघ्र ही ।
अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही ॥ २९ ॥

जबतक वृत्ति अत्यन्त वेग से प्रवृत्ति को प्राप्त न हो, अवतरित न हो और परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि पुरानी न पड़े, फीकी न हो जाय; उसके पहले ही सम्पूर्ण अन्यभावों से रहित आत्मा की यह अनुभूति तत्काल स्वयं ही प्रगट हो गई ।

परभाव का त्याग कैसे होता है, आत्मानुभूति प्रगट कैसे होती है – इस बात को आचार्यदेव ने दृष्टान्त देकर बहुत ही अच्छी तरह समझाया है। श्रोताओं और पाठकों की समझ में भी बात आ गई है, उनके हृदय में आत्मानुभूति की भावना भी जग गई है; पर यदि ऐसे में उग्र पुरुषार्थ नहीं हुआ तो थोड़े ही समय में वृत्ति में मलिनता हो सकती है, समझ भी फीकी पड़ सकती है। अतः यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण क्षण है, महान अवसर है; इसे चूकना योग्य नहीं है। इसलिए यहाँ प्रेरणा दी जा रही है कि जबतक वृत्ति मलिन नहीं हो जाती और समझ भी फीकी नहीं हो जाती, उसके पूर्व ही उग्र पुरुषार्थ करके आत्मानुभूति प्रगट कर लेना चाहिए ।

यहाँ भाषा तो ऐसी है कि जबतक वृत्ति मलिन न हो पाई और परभाव के त्याग के दृष्टान्त की दृष्टि फीकी नहीं हो पाई; उसके पहले परभाव से भिन्न आत्मा की अनुभूति प्रगट हो गई; पर यह कहकर आचार्यदेव हमें उग्र पुरुषार्थ करने की प्रेरणा देना चाहते हैं । साथ में यह भी बताना चाहते हैं कि आत्मानुभूति प्राप्त करने के पूर्व की भूमिका इसप्रकार की होती है ।

सभी आत्मार्थी भाई-बहिनों के साथ लगभग प्रतिदिन ही ऐसा होता है कि जब वे स्वाध्याय करते हैं, प्रवचन सुनते हैं तो उनके परिणामों में निर्मलता आती है, वृत्ति में निर्मलता आती है और आत्मा की बात भी समझ में आती है, चित्त में बैठती है; पर वहाँ से हटते ही वृत्ति मलिन हो जाती है, ज्ञानोपयोग भी अन्यत्र भटकने लगता है ।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई ! ऐसा नहीं होना चाहिए । होना तो ऐसा चाहिए कि जबतक वृत्ति में वेग उत्पन्न न हो, परभाव के त्याग की भावना फीकी न पड़े; उसके पहले ही आत्मानुभूति प्रगट हो जाना चाहिए। इसके लिए हमें निरन्तर भेदज्ञान की भावना को भाना चाहिए, नचाना चाहिए। चिन्तन की निरन्तरता में से ही रुचि की तीव्रता होगी, भावना का प्रबल वेग स्फुरायमान होगा और आत्मानुभूति की भूमिका तैयार होगी । •

धर्म का आरम्भ भी आत्मानुभूति से ही होता है और पूर्णता भी इसी की पूर्णता में। इससे परे धर्म की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति ही आत्मधर्म है। साधक के लिए एकमात्र यही इष्ट है। इसे प्राप्त करना ही साधक का मूल प्रयोजन है ।

– मैं कौन हूँ, पृष्ठ १८

समयसार गाथा ३६

णत्थि मम को वि मोहो बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं मोहणिम्ममत्तं समयस्स वियाणया बेंति ॥३६॥

(हरिगीत)

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है मोह निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥३६॥

स्वपर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि 'मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ' – ऐसा जो जानता है, वह मोह से निर्मम है ।

गाथा के चौथे पद में कहा है कि समय को जाननेवाले ऐसा कहते हैं। 'समय' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं। समय माने आत्मा, समय माने सिद्धान्त, समय माने शास्त्र/आगम, समय माने स्व और पर के भेदों में विभाजित होनेवाले छहों द्रव्य। इनके अतिरिक्त भी अनेक अर्थ होते हैं । अतः जहाँ जैसा प्रकरण हो, वहाँ वैसा ही अर्थ करना उचित माना जाता है। चूंकि यहाँ स्व-पर के विभाग की बात चल रही है, जिनसिद्धान्त की बात चल रही है; अतः यहाँ ऐसा अर्थ किया गया है कि स्वपर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में इस गाथा की जो उत्थानिका लिखी, उसमें लिखा है कि इस अनुभूति से परभाव का भेदविज्ञान कैसे होता है – ऐसी आशंका करके पहले भावकभाव से भेदज्ञान कराते हैं ।

यह तो सर्वविदित ही है कि ३१वीं गाथा में ज्ञेय-ज्ञायकसंकर दोष के परिहार की बात की थी और ३२वीं गाथा में भाव्य-भावकसंकर दोष के परिहार की। अब यहाँ ३६वीं गाथा में पहले भावक-भाव से भेदविज्ञान कराते हैं और ३७वीं गाथा में ज्ञेयभावों से भेदविज्ञान करायेंगे ।

इस गाथा के भाव को स्पष्ट करते हुए पंडित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"यह मोहकर्म जड़ पुद्गल द्रव्य है; उसका उदय कलुषभावरूप है। वह भाव भी मोहकर्म का भाव होने से पुद्गल का ही विकार है। यह भावक का भाव जब चैतन्य के उपयोग के अनुभव में आता है; तब उपयोग भी विकारी होकर रागादिरूप मलिन दिखाई देता है। जब उसका भेदज्ञान हो कि 'चैतन्य की शक्ति की व्यक्ति तो ज्ञानदर्शनोपयोग मात्र है और यह कलुषता राग-द्वेष-मोहरूप है; वह द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गल द्रव्य की है' – तब भावकभाव जो द्रव्यकर्मरूप मोह का भाव है, उससे अवश्य भेदभाव होता है और आत्मा अवश्य अपने चैतन्य के अनुभवरूप स्थित होता है।"

उक्त भावार्थ में यह बात अत्यन्त स्पष्ट है कि जानने-देखनेरूप परिणमन तो चैतन्यशक्ति की व्यक्तता है और राग-द्वेषरूप कलुषता भावकभाव होने से द्रव्यकर्मरूप जड़ पुद्गलद्रव्य की है। जब यह कलुषता ज्ञान में ज्ञात होती है तो ज्ञान भी मलिन दिखाई देता है, पर ज्ञान मलिन हो नहीं जाता। यदि इस ज्ञान की और राग की भिन्नता जान ली जावे तो आत्मा अपने अनुभव में अवश्य स्थित होता है।

इस गाथा के अभिप्राय को आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"निश्चय से फलदान की सामर्थ्य से प्रगट होकर भावकरूप होनेवाले पुद्गलद्रव्य से रचित मोह मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावभाव का परमार्थ से पर के भाव द्वारा भाया जाना (भाव्यरूप करना) अशक्य है।

दूसरी बात यह है कि स्वयं ही निरन्तर विश्व को प्रकाशित करने में चतुर और विकासरूप शास्वत प्रताप संपत्ति सहित वह भगवान आत्मा ही चैतन्यशक्तिमात्र स्वभावभाव के द्वारा जानता है कि 'परमार्थ से मैं एक हूँ।' यद्यपि समस्त द्रव्यों के परस्पर साधारण अवगाह का निवारण करना अशक्य होने से मेरा आत्मा और जड़पदार्थ श्रीखण्ड की भाँति एकमेक हो रहे हैं;

तथापि श्रीखण्ड की ही भांति स्पष्ट अनुभव में आनेवाले स्वादभेद के कारण 'मैं मोह के प्रति निर्मम ही हूँ'; क्योंकि सदा अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है। इसप्रकार भावक-भाव से भेदज्ञान हुआ।"

यहाँ श्रीखण्ड का उदाहरण देकर समस्त द्रव्यों का परस्पर एक क्षेत्रावगाह भी समझाया और परस्पर की भिन्नता भी स्पष्ट कर दी गई है। श्रीखण्ड दही और चीनी मिलाकर बनाया जाता है। श्रीखण्ड में दही और चीनी एक जैसे ही दिखाई देते हैं; पर चखने पर दही की खटास और चीनी की मिठास अलग-अलग जानने में आती है; इससे पता चलता है कि मिले हुए दिखाई देने पर भी वस्तुतः वे मिले हुए नहीं हैं; क्योंकि यदि पूर्णतः मिल जाते, मिलकर एक हो जाते तो उनका भिन्न-भिन्न स्वाद आना संभव नहीं था।

इसीप्रकार जाननेवाली ज्ञातृता और जानने में आनेवाला मोह यद्यपि अज्ञानी को अभेद ही अनुभव में आते हैं; तथापि स्वादभेद के कारण उनकी भिन्नता जानी जा सकती है। निराकुलस्वादवाला ज्ञान और आकुलतास्वादवाला मोह ज्ञान में पृथक्-पृथक् ही भासित होते हैं। इससे ज्ञानी आत्मा निर्णय कर लेते हैं कि 'आकुलतास्वादवाला मोह मेरा कुछ भी नहीं है, मैं तो निराकुलस्वादवाला ज्ञान ही हूँ।' – इसी को ज्ञानीजन मोह से निर्ममता कहते हैं।

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"यहाँ कहते हैं कि पुद्गलद्रव्य भावकरूप होकर मोह की रचना करता है। यहाँ जो मोह की बात है, वह चारित्रमोह की अपेक्षा से है; सम्यग्दर्शन के बाद की बात है, मिथ्यात्व की बात नहीं है। पर की ओर झुकनेवाला भाव (राग-द्वेष) ही मोह है। वह मोह मेरा कोई भी संबंधी नहीं है। पर की ओर सजग रहने का जो भाव है, वह मेरा नहीं है; परन्तु अपने स्वभाव की ओर सजग रहने का भाव मेरा है। भावकरूप मोहकर्म और उसकी ओर झुकनेवाले भावों के साथ मेरा कोई भी संबंध नहीं है; क्योंकि एक चैतन्यधातु ज्ञायकस्वभाव का परमार्थ से परभावरूप होना या भाव्यरूप होना अशक्य है।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १०७

जिसप्रकार कर्म भावकरूप होता है, तब मोह होता है; उसीप्रकार मैं ज्ञानदर्शन-उपयोगस्वभावी तत्त्व हूँ, जिससे मेरी पर्याय में ज्ञान-दर्शन शक्ति की व्यक्तता होती है। यह व्यक्ततारूप उपयोग मेरी चीज है; किन्तु मोह मेरी चीज नहीं है। कर्म के निमित्त से हुआ राग-द्वेष का परिणाम जो उपयोग में झलकता है, वह मैं नहीं हूँ; क्योंकि एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक- स्वभावभावरूप शुद्धचैतन्य उपयोगस्वभावी वस्तु का विकाररूप (भाव्यपने) होना अशक्य है।

मैं तो चैतन्यशक्ति स्वभाववाला तत्त्व हूँ, इसलिए मेरा जो विकास होता है, वह भी जानने-देखने के परिणामरूप से ही होता है । भावकर्म के निमित्त से जो विकार होता है, वह भी मेरा विकास नहीं है। पर्याय में भी विकार न हो – ऐसा मेरा स्वरूप है। शक्तिरूप से तो आत्मा ज्ञायक है ही, किन्तु उसकी जो व्यक्तता/प्रगटता होती है, वह भी ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप ही होती है ।[१]"

आचार्य जयसेन कहते हैं कि एक विशेष बात यह है कि पूर्व गाथा में जिस स्व-संवेदनज्ञान को प्रत्याख्यान कहा था, उसे ही यहाँ निर्ममत्व या निर्मोहत्व कहते हैं ।

जिसप्रकार जितमोह और क्षीणमोह में मोह पद के स्थान पर राग, द्वेष, क्रोध, मान आदि पद रखकर १६-१६ गाथायें बनाकर व्याख्यान करने की बात कही थी; उसीप्रकार यहाँ भी १६ गाथायें बनाकर व्याख्यान करने की बात आचार्य अमृतचन्द्र व जयसेन – दोनों कहते हैं। वे गाथायें इसप्रकार बनाई जा सकती हैं ।

(हरिगीत)

रागादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है राग निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
द्वेषादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है द्वेष निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
क्रोधादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है क्रोध निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १०८

इसीप्रकार अन्य गाथायें भी बना लेना चाहिए ।

इनकी व्याख्या भी इसप्रकार की जा सकती है कि कर्म भावक हैं और राग उसका भाव्य है। वह राग मैं नहीं हूँ; क्योंकि मैं तो एक ज्ञायकभाव हूँ। यद्यपि वह राग मेरे ज्ञान में ज्ञात होने योग्य है; तथापि वह राग मेरे ज्ञान में तद्रूप हो जावे – ऐसा मेरा स्वभाव नहीं है। इसीप्रकार द्वेष, क्रोध, मानादि पर भी लगा लेना चाहिए ।

प्रश्न – यहाँ सोलह गाथायें ही बनानी हैं या और भी बनाई जा सकती हैं ?

उत्तर – हाँ, हाँ; और भी बनाई जा सकती हैं। आचार्य अमृतचन्द्र का ऐसा ही आदेश है। आचार्य जयसेन तो यहाँ तक कहते हैं कि विभावभाव असंख्यात लोकप्रमाण है, अतः असंख्यात गाथायें बनाई जा सकती हैं; पर असंख्यात बनाना तो सम्भव नहीं है। अतः जितनी आपकी सामर्थ्य है, उतनी तो बनाई ही जानी चाहिये ।

प्रश्न – दो-चार गाथायें बनाकर बताइये न ?

उत्तर – जिसप्रकार पहले हास्यादि नोकषायों के आधार पर गाथायें बनाई थी; उसीप्रकार यहाँ भी बनाई जा सकती हैं ।

(हरिगीत)

हास्यादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है हास्य निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
रति आदि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है रती निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
अरति आदि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है अरति निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥
शोकादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है शोक निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥

इसीप्रकार और भी बना लेना चाहिये ।

अब इसी भावना को पुष्ट करनेवाला कलशकाव्य लिखते हैं :-

(स्वागता)

सर्वतः स्वरसनिर्भरभावं चेतये स्वयमहं स्वमिहैकम् ।
नास्ति नास्ति मम कश्चन मोहः शुद्धचिद्घनमहोनिधिरस्मि ॥३०॥

(हरिगीत)

सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ ।
मैं स्वयं ही इस लोक में निजभाव का अनुभव करूँ ॥
यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ ॥३०॥

इस लोक में मैं स्वयं ही अपने एक आत्मस्वरूप का अनुभव करता हूँ, जो चारों ओर से अपने चैतन्यरस से भरपूर है । यह मोह मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं तो शुद्ध चैतन्य के समूहरूप तेजपुंज का निधान हूँ ।

इस छन्द का भावानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार किया गया है -

(अडिल्ल)

कहैं विचच्छन पुरुष सदा मैं एक हौं ।
अपने रस सौं भर्यौ आपनी टेक हौं ॥
मोहकर्म मम नांहि नांहि भ्रमकूप है ।
सुद्धचेतना सिन्धु हमारौ रूप है ॥३३॥

कलश में 'नास्ति' शब्द दो बार आया है। जब कोई शब्द दो बार आता है तो उसका अर्थ मात्र दो बार ही नहीं होता, अनेक बार होता है। जैसे कोई कहे कि 'तू बार-बार यही बात करता है' तो इसका अर्थ दो बार नहीं होता, अपितु अनेक बार होता है । आचार्य कहते हैं कि भाई तुम बारंबार यह विचार करो कि मोह मेरा कुछ भी नहीं है। दो बार 'नास्ति' शब्द का प्रयोग करके आचार्यदेव इस बात पर वजन डालना चाहते हैं। वे यह कहना चाहते हैं कि चाहे एकबार कहो या हजारबार कहो; बात तो यही है कि मोहादि विकारीभाव और परपदार्थ मेरे कुछ भी नहीं हैं ।

प्रश्न – गाथा और कलश में तो अकेले मोह के बारे में ही कहा है और आपने उसके साथ परपदार्थ भी जोड़ दिये ?

उत्तर – अरे भाई, आचार्यदेव ने 'मोह' पद बदलकर उसके स्थान पर राग आदि १६ पद जोड़कर १६ गाथायें बनाने का आदेश दिया है न। उनमें कर्म, नोकर्म, मन, वचन, काय और पाँच इन्द्रियाँ भी आ गई हैं न। ये सब परपदार्थ ही तो हैं। अतः ये सभी मेरे कुछ भी नहीं हैं, मैं तो एक शुद्धचिद्घन की महानिधि हूँ, ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ, अपने अतीन्द्रिय आनन्द के रस से भरा हुआ हूँ। मैं तो अपने में ही अपनापन अनुभव करता हूँ, इन मोहादि में मेरा रंचमात्र भी अपनापन नहीं है।

कलश में तो 'चिद्घन' शब्द ही है, पर इसका विस्तार इसप्रकार किया जा सकता है कि मैं ज्ञानघन हूँ, दर्शनघन हूँ, आनंदघन हूँ, शक्तिघन हूँ। इसीप्रकार और भी अनेक गुणों का घनपिण्ड मैं हूँ; क्योंकि मैं तो अनन्तगुणों का घनपिण्ड हूँ और मोहादि विकारीभाव और शरीरादि परपदार्थ मेरे में रंचमात्र भी नहीं हैं। – ऐसी भावना तबतक भाना, जबतक कि इस चिद्घन आत्मा का अनुभव न हो जाय, हमारा उपयोग भी चिद्घनमय न हो जाय।

●

बन्धन क्या है ?

बन्धन तभी तक बन्धन है, जबतक बन्धन की अनुभूति है। यद्यपि पर्याय में बन्धन है, तथापि आत्मा तो अबन्धस्वभावी ही है। अनादिकाल से यह अज्ञानी प्राणी अबन्धस्वभावी आत्मा को भूलकर बन्धन पर केन्द्रित हो रहा है। वस्तुतः बन्धन की अनुभूति ही बन्धन है। वास्तव में 'मैं बँधा हूँ' – इस विकल्प से यह जीव बँधा है। लौकिक बन्धन से विकल्प का बन्धन अधिक मजबूत है, विकल्प का बन्धन टूट जावे तथा अबन्ध की अनुभूति सघन हो जावे तो बाह्यबन्धन भी सहज टूट जाते हैं। बन्धन के विकल्प से, स्मरण से, मनन से दीनता-हीनता का विकास होता है। अबन्ध की अनुभूति से, मनन से, चिन्तन से शौर्य का विकास होता है; पुरुषार्थ सहज जागृत होता है, पुरुषार्थ की जागृति में बन्धन कहाँ ?

– तीर्थंकर महावीर और उनका सर्वोदय तीर्थ, पृष्ठ ७०

समयसार गाथा ३७

णत्थि मम धम्मआदी बुज्झदि उवओग एव अहमेक्को ।
तं धम्मणिम्ममत्तं समयस्य वियाणया बेंति ॥ ३७॥

(हरिगीत)

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है धर्मनिर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥ ३७॥

स्वपर और सिद्धान्त के जानकार आचार्यदेव ऐसा कहते हैं कि ये धर्म आदि द्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं; मैं तो एक उपयोगमय ही हूँ; – ऐसा जो जानता है, वह धर्म आदि द्रव्यों से निर्मम है ।

३६वीं गाथा में भावकभाव से भेदज्ञान की बात की थी। अब इस ३७वीं गाथा में ज्ञेयभाव से भेदविज्ञान कराते हैं ।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अपने आत्मा को छोड़कर अन्य सभी जीव, जिनमें अरहंत, सिद्ध आदि पंचपरमेष्ठी भी आ जाते हैं, शेष संसारीजीव तो हैं ही; – ये सभी ज्ञेय हैं । हमारे शरीर, मन, वाणी भी ज्ञेय ही हैं । इन सभी से मेरा भगवान आत्मा भिन्न है, उपयोगमय है । वह उपयोगमय निजभगवान आत्मा ही मैं हूँ और धर्मादि पदार्थ मेरे कुछ भी नहीं हैं। यह परमसत्य बात उन लोगों ने ही बताई है, जो आत्मा के अनुभवी हैं, सिद्धान्त के पारगामी, स्वमत और परमत के विशेषज्ञ हैं अथवा सर्वज्ञ परमात्मा हैं ।

इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"निजरस से प्रगट, अनिवार्य विस्तार और समस्त पदार्थों को ग्रसित करने के स्वभाववाली, प्रचण्ड चिन्मात्र शक्ति के द्वारा कवलित (ग्रासीभूत) किये जाने से मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे

हों – इसप्रकार आत्मा में प्रकाशमान – ये धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीव – ये समस्त परद्रव्य मेरे कुछ भी नहीं हैं; क्योंकि टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायकस्वभावत्व से परमार्थतः अन्तरंग तत्त्व तो मैं हूँ और वे परद्रव्य मेरे स्वभाव से भिन्न स्वभाववाले होने से परमार्थतः बाह्यतत्त्वरूपता को छोड़ने में पूर्णतः असमर्थ हैं ।

दूसरे चैतन्य में स्वयं ही नित्य उपयुक्त और परमार्थ से एक अनाकुल आत्मा का अनुभव करता हुआ भगवान आत्मा ही जानता है कि मैं प्रगट निश्चय से एक ही हूँ; इसलिए ज्ञेय-ज्ञायकभावमात्र से उत्पन्न परद्रव्य के साथ परस्पर मिले होने पर भी, प्रगट स्वाद में आते हुए स्वभाव के कारण धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और अन्य जीवों के प्रति मैं निर्मम हूँ; क्योंकि सदा ही अपने एकत्व में प्राप्त होने से समय ज्यों का त्यों ही स्थित रहता है, अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता । – इसप्रकार ज्ञेयभावों से भेदज्ञान हुआ ।"

आत्मख्याति के भाव को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"चैतन्य की परिणति ऐसी प्रकाशमय है कि उसका फैलाव – विस्तार किसी से रोका नहीं जा सकता। समस्त पदार्थों को ग्रसने का अर्थात् जानने का इसका स्वभाव है; चाहे वह शरीर हो, भगवान हो, मूर्ति हो, गुरु हो, शास्त्र हो, – सभी ज्ञेयों को अपने स्वभाव से ही जानने का उसका स्वभाव है। ग्रसने का स्वभाव है अर्थात् ज्ञान में जान लेने का स्वभाव है। ज्ञान का स्वभाव समस्त पदार्थों को जानने का है, तथापि ज्ञान का परिणमन ज्ञेय के कारण नहीं होता।

जैसे दर्पण में परवस्तु का जो प्रतिबिम्ब ज्ञात होता है, वह परवस्तु नहीं; दर्पण में वह परवस्तु आई भी नहीं है । तथा दर्पण में जो प्रतिबिम्ब पड़ा है, वह भी पर के कारण नहीं, किन्तु दर्पण की स्वच्छता के कारण है। परवस्तु मानो दर्पण में आ गई हो – ऐसा मालूम पड़ता है; तथापि वह दर्पण की स्वच्छता की ही दशा है, वह कोई परवस्तु नहीं है। तथा सामने परवस्तु है, उसके कारण दर्पण की स्वच्छता की परिणति हुई है – ऐसा भी नहीं है ।

उसीतरह इस ज्ञानस्वरूप भगवान आत्मा का अपनी दशा में परवस्तु को जानने का, ग्रहण करने का, ग्रसने का, प्रवेश करने का स्वभाव है। समस्त

पदार्थों को जानने का ज्ञान परिणति का स्वभाव है। चाहे सर्वज्ञ परमेश्वर हो, समवशरण हो या मन्दिर हो – इन सभी को अपने चैतन्यप्रकाश की सामर्थ्य से जानने का स्वभाव है। – ऐसी प्रचण्ड चिन्मात्रशक्ति से ग्रासीभूत होने से मानो अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हैं – इसप्रकार समस्त पदार्थ आत्मा में प्रकाशमान हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय पदार्थ हैं। ये जगत की वस्तुएं हैं। इन्हें केवलीभगवान ने प्रत्यक्ष देखा-जाना है। सर्वज्ञ परमेश्वर के सिवाय इन्हें अन्य किसी ने प्रत्यक्ष नहीं देखा।[१]

समयसार गाथा ३२० में तो यहाँ तक आता है कि भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूप है, वह बंध को भी जानता है, मोक्ष को भी जानता है, उदय को भी जानता है, निर्जरा को भी जानता है; वह तो मात्र जानता है। लो अब क्या बाकी रहा ? स्वयं ज्ञानस्वभावी प्रभु है न ? उसके लिए उदय भी परज्ञेय, बन्ध भी परज्ञेय, निर्जरा भी परज्ञेय और कर्म का छूटना भी परज्ञेय है; इसलिए आत्मा उदय, बन्ध, निर्जरा व मोक्ष को मात्र जानता है, करता नहीं।[२]

अनादि से आत्मा का स्वभाव स्वपरप्रकाशक की सामर्थ्यवाला है। इसकारण जो ज्ञान पर को प्रकाशित करता है, वह पर के अस्तित्व के कारण प्रकाशित नहीं करता। वास्तव में तो परसंबंधी अपना जो ज्ञान है, उसे ही वह प्रकाशित करता है।[३]

भाई ! चैतन्य की स्वपरप्रकाशक सामर्थ्य को जिसने जाना नहीं, जिसने अनुभव में उसकी सत्ता को स्वीकार किया नहीं, उसे धर्म भी कहाँ से हो, कैसे हो ?[४]

प्रश्न – यहाँ 'ज्ञेयज्ञायक भावमात्र से' – ऐसा जो कहा, उसका क्या तात्पर्य है ?

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ११८-११९
२. वही, पृष्ठ १२१
३. वही, पृष्ठ १२१
४. वही, पृष्ठ १२३

उत्तर – तात्पर्य यह है कि 'मैं ज्ञायक हूँ और ये परज्ञेय हैं' – यह तो कहनेमात्र का संबंध है। ऐसा ज्ञेय-ज्ञायक संबंध होने से परद्रव्यों का जैसा स्वरूप है, वैसा ज्ञान होता है। परन्तु प्रगट स्वाद में आने पर स्वभावभेद के कारण 'वे मुझसे भिन्न हैं' – ऐसा ज्ञान भी होता है । मेरी आत्मा का स्वाद अतीन्द्रिय आनन्द है, जबकि धर्मास्तिकाय आदि परज्ञेय मुझसे भिन्न हैं ।

अहाहा ! भगवान के द्वारा देखे-जाने गये धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाश, काल, अन्यजीव व कर्म आदि पुद्‌गलद्रव्य – ये सब परज्ञेय हैं और मैं तो ज्ञानस्वभाव में स्थित ज्ञायक अतीन्द्रिय आनन्द से भरा हुआ भगवान हूँ ।[१]"

वस्तुतः बात यह है कि आत्मा स्वभाव से ही स्व-परप्रकाशक है। अतः वह स्वभाव से ही स्व को भी जानता है और पर को भी जानता है । वह पर को पर के कारण नहीं जानता है, अपितु अपने स्वभाव के कारण ही जानता है । ऐसा होने पर भी जो पदार्थ सहजभाव से ज्ञान में ज्ञात होते हैं, अज्ञानी जीव उन्हें भी अपना मान लेता है, उनमें अपनत्व स्थापित कर लेता है, उनमें ममत्व कर लेता है; वह उनसे निर्ममत्व नहीं रह पाता है । किन्तु ज्ञानी धर्मात्मा यह अच्छी तरह जानते हैं कि ये धर्मादिद्रव्यरूप परपदार्थ मेरे नहीं हैं; क्योंकि ये मेरे स्वभाव से भिन्न हैं । मैं टंकोत्कीर्ण ज्ञायकस्वभावी हूँ, स्वयं के लिए अन्तरंगतत्त्व हूँ और ये मुझसे भिन्न बहिरंगतत्त्व हैं। आचार्यदेव कहते हैं कि भले ही ये ज्ञान में तदाकार होकर डूब रहे हों, अत्यन्त अन्तर्मग्न हो रहे हों, तथापि ये मेरे नहीं हैं ।

दूसरी बात यह है कि यद्यपि स्व और पर दोनों एकसमय ही ज्ञान में ज्ञात हो रहे हैं; तथापि दोनों का स्वाद भिन्न-भिन्न है। भिन्न-भिन्न स्वाद के कारण मैं धर्मादि अजीवद्रव्यों एवं मेरे से भिन्न जीव द्रव्यों के प्रति पूर्णतः निर्मम हूँ; क्योंकि मैं एकत्व को प्राप्त होने से सदा ही ज्यों का त्यों स्थिर रहता हूँ। अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १२५

पर में से अपनापन टूटना, एकत्व टूटना और अपने में अपनापन आना, एकत्व आना ही ज्ञेयभाव से भेदविज्ञान होना है ।

परपदार्थ के पास जाये बिना और परपदार्थ भी पास में आये बिना ही ज्ञान का स्वभाव पर को जानने का है । पर इस जानने का पर के साथ कोई संबंध नहीं है; क्योंकि पर को जानना भी तो आत्मा का स्वयं का ही स्वभाव है ।

प्रश्न – यह क्या बात हुई, जब हमने पर को जाना और परपदार्थ हमारे जानने में आया तो ज्ञेय-ज्ञायक संबंध तो हो ही गया । आप इस ज्ञेय-ज्ञायक संबंध से क्यों इन्कार करते हो ?

उत्तर – भाई, समझने की कोशिश करो ! यद्यपि इसे ज्ञेय-ज्ञायक संबंध कहा जाता है; पर इसमें संबंध की क्या बात है ? ज्ञेय ज्ञेय में रहा, ज्ञान ज्ञान में रहा; ज्ञान ज्ञेय में नहीं गया और ज्ञेय ज्ञान में नहीं आया । जब दोनों पूर्ण स्वतंत्र ही रहे तो फिर किस बात का संबंध ? केवली भगवान का लोकालोक से क्या संबंध है ? यही न कि लोकालोक केवलज्ञान में झलकते हैं और केवलज्ञान लोकालोक को जानता है; पर इतने मात्र से केवली भगवान किसी के संबंधी तो नहीं हो जाते; वे तो जगत से पूर्णतः असंबंधित ही रहते हैं; उन्हें जगत से असंयुक्त ही माना जाता है। केवली के समान सभी ज्ञानी जगत से असंयुक्त ही हैं । यद्यपि ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को संबंध कहा जाता है, पर यह कोई संबंध नहीं है; क्योंकि इसमें कोई बन्धन नहीं है । ज्ञेय भिन्न हैं और ज्ञान भिन्न हैं – यह जानना ही ज्ञेयभाव से भेदविज्ञान है । बस यही भाव इस गाथा का मूल प्रतिपाद्य है ।

अब ३६वीं एवं ३७वीं गाथा की विषयवस्तु को समेटते हुए आचार्य अमृतचन्द्रदेव कलशरूप काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

इति सति सह सर्वैरन्यभावैर्विवेके
स्वयमयमुपयोगो बिभ्रदात्मानमेकम् ।
प्रकटितपरमार्थैर्दर्शनज्ञानवृत्तैः
कृतपरिणतिरात्माराम एव प्रवृत्तः ॥३१॥

(हरिगीत)

बस इसतरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता ।
तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया ॥
प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञान वृत परिणत हुआ ।
तब आतमा के बाग में आतम रमण करने लगा ॥३१॥

इसप्रकार भावकभाव और ज्ञेयभावों से भेदज्ञान होने पर जब सर्व अन्य भावों से भिन्नता भासित हुई, विवेक जागृत हुआ; तब यह उपयोग स्वयं ही एक अपने आत्मा को ही धारण करता हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप से परिणत होता हुआ, परमार्थ को प्रकट करता हुआ अपने आत्माराम में ही प्रवृत्ति करता है, आत्मारूपी बाग में ही रमण करता है, अन्यत्र नहीं भटकता ।

इस कलश का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"सर्व परद्रव्यों से तथा उनसे उत्पन्न हुए भावों से जब भेद जाना; तब उपयोग के रमण के लिए अपना आत्मा ही रहा, अन्य ठिकाना नहीं रहा । इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र के साथ एकरूप हुआ वह आत्मा में ही रमण करता है - ऐसा जानना ।"

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव यह कहना चाहते हैं कि जब भावकभावों और ज्ञेयपदार्थों से आत्मा की भिन्नता भली-भाँति भासित हो गई; तब उपयोग को अन्यत्र भटकने का अवकाश ही नहीं रहा। इसकारण उपयोग अपने आप ही अपने में स्थिर हो गया। पर-पदार्थों से अपनापन टूट गया, अपने में अपनापन आ गया और उपयोग अपने में ही समा गया। इसप्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो गया, भगवान आत्मा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत हो गया ।

३४ व ३५वीं गाथा में प्रत्याख्यान (त्याग) का स्वरूप सोहादरण स्पष्ट किया था। उसके बाद ३६ व ३७वीं गाथा में भावकभावों और ज्ञेयभावों से भिन्नता की भावना को भरपूर नचाया। परिणामस्वरूप परमार्थ प्रगट हो गया,

आत्मा दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हो गया; स्वयं को जानकर, स्वयं में ही अपनापन स्थापित कर, स्वयं में ही समा गया; आत्माराम में ही प्रवृत्त हो गया। - यह बात इस कलश में स्पष्ट कर दी गई है ।

अब आगामी गाथा में यह स्पष्ट करेंगे कि इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित ज्ञानी धर्मात्मा अपने आत्मा के सन्दर्भ में क्या सोचता है, क्या विचारता है ?

•

सौ बात की एक बात

अहो ! दिगम्बर संतों का कोई भी शास्त्र लो; उसमें मूलभूत एक ही धारा चली जाती है कि तू 'सर्वत्र अपने ज्ञायक चिदानन्दस्वरूप के सन्मुख हो;' पर को बदलने की बुद्धि मिथ्या है ।

स्वोन्मुख होने से ही हित है, इस बात को मुख्य रखकर कोई भी बात कही हो - सर्वज्ञता की बात हो या क्रमबद्धपर्याय की बात हो; छहद्रव्य, नवतत्त्व, निश्चय-व्यवहार या उपादान-निमित्त की बात हो; द्रव्य-गुण-पर्याय की बात हो या बारह भावनाओं की बात हो; - सभी बातों में संतों का मूल तात्पर्य तो यही बतलाना है कि हे जीव ! अपने ज्ञानस्वभाव का निर्णय करके उसकी ओर उन्मुख हो !

'मैं तो ज्ञानपिण्ड हूँ, ज्ञान के अतिरिक्त अन्य पदार्थों का किंचित्मात्र कर्तृत्व मुझमें नहीं है;' - जबतक जीव ऐसा निर्णय न करे तबतक हित का मार्ग हाथ नहीं आता, और दिगम्बर संतों ने क्या कहा है - इसकी भी उसे खबर नहीं पड़ती ।

- आध्यात्मिकसत्पुरुष पूज्य श्रीकानजीस्वामी

वीतराग-विज्ञान, दिसम्बर-८४

समयसार गाथा – ३८

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि इसप्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा को स्वरूपसंचेतन कैसा होता है ? तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को प्राप्त आत्मा, मोक्षमार्ग में स्थित आत्मा स्वयं के सम्बन्ध में क्या सोचता है, अपने आत्मा के बारे में क्या सोचता है; उसकी चिन्तन-प्रक्रिया कैसी होती है ?

इसी प्रश्न के उत्तर में ३८वीं गाथा का जन्म हुआ है, जो इसप्रकार है -

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइओ सदारूवी ।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि ॥ ३८॥

(हरिगीत)

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥ ३८॥

दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं सदा ही एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, अरूपी हूँ और अन्य द्रव्य किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं, परमाणुमात्र भी मेरे नहीं हैं।

ज्ञानी आत्मा के इसप्रकार के निरन्तर चिन्तन से उपशमित मोह के पुनः उत्पन्न होने के अवसर समाप्त हो जाते हैं। इस बात को जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"आत्मा अनादिकाल से मोह के उदय से अज्ञानी था, वह श्रीगुरुओं के उपदेश से और स्वकाललब्धि से ज्ञानी हुआ तथा अपने स्वरूप को परमार्थ से जाना कि मैं एक हूँ, शूद्ध हूँ, अरूपी हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ । ऐसा जानने से मोह का समूल नाश हो गया, भावकभाव और ज्ञेयभाव से भेदज्ञान हुआ, अपनी स्वरूपसम्पदा अनुभव में आई; तब फिर पुनः मोह कैसे उत्पन्न हो सकता है ?"
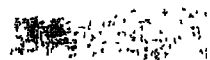
इस गाथा के भाव को आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जिसप्रकार कोई पुरुष अपनी मुट्ठी में रखे सोने को भूल गया हो, पर किसी के ध्यान दिलाने पर या स्वयं स्मरण आ जाने पर उसे देखे और आनन्दित हो; उसीप्रकार (उसी न्याय से) अनादि मोहरूप अज्ञान से उन्मत्तता के कारण जो आत्मा अत्यन्त अप्रतिबुद्ध था, अपने परमेश्वर आत्मा को भूल गया था; विरक्त गुरु के द्वारा निरन्तर समझाये जाने पर, किसीप्रकार समझकर, सावधान होकर; अपने आत्मा को जानकर, उसका श्रद्धान कर और उसका आचरण करके, उसमें तन्मय होकर, जो सम्यक्प्रकार एक आत्माराम हुआ, दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणमित हुआ; अतीन्द्रिय आनन्द को प्राप्त हुआ; वह मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि - मैं चैतन्यमात्र ज्योतिरूप आत्मा हूँ और मेरे अनुभव से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ ।

मैं एक हूँ; क्योंकि चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता ।

मैं शुद्ध हूँ; क्योंकि नर, नारकादि जीव के विशेष और अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध तथा मोक्ष स्वरूप व्यवहारिक नवतत्वों से टंकोत्कीर्ण एक ज्ञायक स्वभावरूप भाव के द्वारा अत्यन्त भिन्न हूँ ।

मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ; क्योंकि चिन्मात्र होने से सामान्य-विशेष उपयोगात्मकता का उल्लंघन नहीं करता ।

मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ; क्योंकि स्पर्श, रस, गंध और वर्ण जिसके निमित्त हैं - ऐसे संवेदनरूप परिणमित होने पर भी स्पर्शादिरूप स्वयं परिणमित नहीं होता ।

- इसप्रकार सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ ।

इसप्रकार प्रतापवन्त वर्तते हुए मुझमें मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा के द्वारा यद्यपि बाह्य समस्त परद्रव्य स्फुरायमान हैं; तथापि मुझे कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझरूप भासते नहीं कि जो भावकरूप और ज्ञेयरूप से मेरे साथ

होकर मुझमें पुनः मोह उत्पन्न करें; क्योंकि निजरस से ही मोह को पुनः अंकुरित न हो - इसप्रकार मूल से ही उखाड़कर, नाश करके; महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है ।"

यहाँ आचार्य अमृतचन्द्रदेव उत्तमपुरुष में बात करते हैं। सो ठीक ही है; क्योंकि मूल गाथा में भी उत्तमपुरुष में ही बात की गई है ।

"इसप्रकार सबसे भिन्न निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त हूँ। निजरस से ही मोह को मूल से उखाड़कर महान ज्ञानप्रकाश मुझे प्रगट हुआ है ।"

वाक्यों का प्रयोग तो देखो, भाषा का जोर तो देखो। कितने आत्मविश्वास से भरे हुए वाक्य हैं और कितनी जोरदार प्रस्तुति है ।

उक्त कथन में प्रबल आत्मविश्वास भरा हुआ है। ज्ञानी जानता है कि अनन्त बाह्य पदार्थ मेरे ज्ञान में झलकते हैं - तो इसमें क्या है ? यह तो मेरी विचित्र स्वरूपसम्पदा है, इससे मुझे कोई भय नहीं है, इससे मुझे इन्कार भी नहीं; क्योंकि यह तो मेरे स्वभाव की ही विचित्रता है; इसमें कुछ भी ऐसा नहीं, जो मेरे लिए अहितकारी हो। मेरी स्वरूपसम्पदा में झलकने वाले परपदार्थ मेरा कुछ भी नहीं बिगाड़ते। हाँ, जब मैं उनमें अपनापन करता हूँ, उन्हें अपना जानता हूँ; तभी मोह उत्पन्न होता है; परन्तु मुझे तो ज्ञानप्रकाश प्रगट हो गया है; अतः मुझमें झलकते हुए भी वे पदार्थ मुझे मुझरूप भासित नहीं होते। अतः मुझमें मोह भी उत्पन्न नहीं करते ।

परपदार्थों को जानने मात्र से उनसे मोह उत्पन्न नहीं होता, मोह तो उन्हें अपना जानने से; उन्हें अपना मानने से, उनमें जमने-रमने से उत्पन्न होता है। किन्तु मैंने पर में, ज्ञेयभावों में, भावकभावों में अपनेपन की मान्यता को निजरस के बल से जड़मूल से उखाड़ फेंका है और महान ज्ञानप्रकाश प्रगट किया है। अतः इस ज्ञानप्रकाश के रहते मुझे मोह के पुनः उत्पन्न होने की कोई आशंका नहीं है। इसप्रकार मैं सबसे भिन्न निज स्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवन्त हूँ ।

"विचित्रस्वरूपसम्पदा" पद को बाह्य समस्त पदार्थों का विशेषण भी बनाया जा सकता है। ऐसा करने पर यह अर्थ होगा कि समस्त बाह्य पदार्थ अपनी विचित्रस्वरूपसम्पदा के साथ मेरे ज्ञान-दर्शन में स्फुरायमान हैं; तथापि कोई भी परद्रव्य परमाणुमात्र भी मुझ रूप नहीं भासते कि जो भावकरूप और ज्ञेयरूप होकर मुझमें पुनः मोह उत्पन्न करें ।

इस अर्थ में भी वही भाव प्रतिफलित होता है। भले ही उनकी स्वरूप सम्पदा विचित्र हो, अनेक प्रकार की हो, अद्भुत हो और मुझे भासित भी हो रही हो; तथापि जब वे पदार्थ मुझे मुझरूप भासित नहीं होते, 'वे मेरे हैं' मुझे ऐसा नहीं लगता; तब वे मुझमें मोह उत्पन्न कैसे कर सकते हैं ?

दूसरी बात यह है कि उनमें प्रमेयत्व नाम का गुण है, जिनके कारण वे हमारे ज्ञान के ज्ञेय बनते हैं। यह उनकी स्वरूपसम्पदा है। वे अपनी इस स्वरूपसंपदा के कारण हमारे ज्ञान का ज्ञेय बनते हैं और सबको जानना हमारी स्वरूपसंपदा है, जिसके कारण हम उन्हें जानते हैं। ऐसा होने पर भी वे हमारे नहीं हैं -- इस महासत्य का ज्ञान हमें प्रगट हुआ है; इसकारण वे रंचमात्र भी हमें हमारे भासित नहीं होते। यही कारण है कि अब हमें उनके प्रति मोह पुनः अंकुरित नहीं होगा ।

स्वामीजी इस बात को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"जगत के समस्त परद्रव्य-पुद्गलादि पदार्थ व रागादि आस्रव अपने स्वरूप की संपदा से प्रगट हैं, परन्तु ये समस्त परद्रव्य-अनन्त पुद्गल रजकण, अनन्त आत्माएं व रागादि भाव मुझे निजरूप भासित नहीं होते । परमाणु मात्र भी परद्रव्य अर्थात् पुद्गल का एक रजकण या राग का एक अंश भी मेरा है - ऐसा मुझे भासित नहीं होता ।[१]"

तात्पर्य यह है कि वे समस्त परद्रव्य अपनी स्वरूपसंपदा से शोभित हैं और मैं अपनी स्वरूपसंपदा से शोभायमान हूँ । मुझमें भासित होने पर भी निजरूप

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ-१४४-४५

भासित न होने से वे मुझमें मोह उत्पन्न करने में समर्थ नहीं हैं; यही कारण है कि मैं उन सबसे भिन्न निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ प्रतापवन्त हूँ।

मुट्ठी में रखे हुए सोने को भूल जाने और कारण पाकर स्मरण आने पर प्राप्त करने का उदाहरण देकर आचार्यदेव यह समझाना चाहते हैं कि सोना है तो अपने पास ही, अपनी मुट्ठी में ही; उसे प्राप्त करने के लिए कहीं जाना नहीं है, बस मुट्ठी खोलकर देखना ही है, उसे प्राप्त करने में मुट्ठी खोलकर देखने भर की देर है । इसीप्रकार आत्मा भी है तो अपने पास ही, पास ही क्या हम स्वयं आत्मा ही तो हैं; अतः उसे जानने के लिए, खोजने के लिए कहीं जाना नहीं है; बस परपदार्थों पर से दृष्टि हटाकर निज को निहारना ही है ।

विरक्त गुरु के द्वारा निरन्तर समझावे जाने का आशय यह नहीं है कि गुरु शिष्यों को निरन्तर समझाते ही रहेंगे; क्योंकि उन्हें अपना काम भी करना है, अपने आत्मा का ध्यान भी करना है; वे निठल्ले नहीं हैं जो निरन्तर समझाते ही रहेंगे । उन्होंने एकबार, दोबार, तीन-चारबार अच्छी तरह समझा दिया और शिष्य के हृदय में बात बैठ गई, समझ में आ गई और आत्मा को प्राप्त करने की लगन लग गई तो फिर शिष्य उसी बात का निरन्तर घोलन् करते हैं, चिन्तन-मनन करते हैं, परस्पर चर्चा-वार्ता करते हैं; उससे उनके ज्ञान में निर्मलता बढ़ती है, उनका ज्ञान आत्मसम्मुख होता है और उन्हें आत्मोपलब्धि हो जाती है । -इसी का नाम गुरु के द्वारा निरन्तर समझाया जाना है । गुरु के समझाने की बात तो है ही, पर उससे भी आवश्यक उनकी बताई बात को धारणा में लेने की है, चिन्तन-मनन करने की है, मंथन करके निर्णय पर पहुँचने की है, शिष्यों के आभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग की है, अन्तरलगनी की है । गुरु तो निमित्त मात्र हैं, कार्य तो अन्तर के पुरुषार्थ से होता है ।

इसप्रकार रत्नत्रयरूप परिणत ज्ञानी आत्मा सोचता है कि मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शनज्ञानमय हूँ, सदा ही अरूपी हूँ और परपदार्थ किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं । मैं तो चैतन्यज्योतिरूप आत्मा हूँ और आत्मानुभव से ही प्रत्यक्ष ज्ञात होता हूँ ।

यहाँ 'एक' का अर्थ करते हुए कहा गया है कि चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यावहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए मैं एक हूँ ।

उक्त पंक्ति का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं -

"नरकगति, मोक्षगति इत्यादि गतियाँ क्रम से होती हैं, एक के बाद एक होती हैं; इससे उन्हें क्रमरूप भाव कहा गया है। तथा पर्याय में कषाय, लेश्या, ज्ञान का उघाड़ वगैरह एकसाथ होते हैं, इसकारण उन्हें यहाँ अक्रमरूप भाव कहा गया है । यहाँ क्रम माने पर्याय और अक्रम माने गुण - ऐसा नहीं समझना; किन्तु एक के बाद एक होनेवाली गति के भावों को क्रमरूप व उदय के रागादिभाव, लेश्या के भाव व ज्ञान की एक समय की पर्याय के भाव इत्यादि एक समय होते हैं, उन्हें अक्रमरूप लिया है। ये क्रम-अक्रमरूप प्रवर्तते हुए व्यावहारिकभावों से भेदरूप नहीं होने से मैं एक हूँ; क्योंकि मैं तो अभेद, अखण्ड, आनन्दकंद प्रभु, एक चिन्मात्र वस्तु हूँ ।[१]"

स्वामीजी ने जो भाव स्पष्ट किया है, वह तो बढ़िया है ही; तथापि दूसरे अर्थ के रूप में इसप्रकार भी समझ सकते हैं ।

चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणायें जीव के व्यावहारिकभाव हैं; अतः निश्चयनय से चिन्मात्र आत्मा में उनका अभाव है! चौदह गुणस्थानों और चौदह मार्गणास्थानों में विभक्त होने से आत्मा एकरूप नहीं रहता, अनेकरूप हो जाता है। यही कारण है कि चौदह गुणस्थान और चौदह मार्गणाएँ व्यावहारिक भाव हैं। चौदह गुणस्थानों में से आत्मा के एक समय में एक ही गुणस्थान होता है; अतः वे आत्मा के क्रमिक भाव हैं। परन्तु चौदह मार्गणायें प्रत्येक जीव में एकसाथ ही होती हैं; अतः वे जीव के अक्रमिक भाव हैं। क्रमिक और अक्रमिक - इन दोनों भावों से भिन्न होने से भगवान आत्मा एक है। तात्पर्य यह है कि निश्चयनय का विषयभूत चिन्मात्र आत्मा गुणस्थानरूप क्रमिक भावों से और मार्गणास्थानरूप अक्रमिक भावों से भेदा नहीं जाता, भेद को प्राप्त नहीं होता; अतः वह एक है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १३९

प्रश्न – आपने कहा कि मार्गणाएँ प्रत्येक जीव के एकसाथ चौदह होती हैं । कृपया इस बात को घटाकर बताइये, विशेष स्पष्ट कीजिए ।

उत्तर – हम गतिमार्गणा की अपेक्षा मनुष्य हैं, इन्द्रियमार्गणा की अपेक्षा पंचेन्द्रिय हैं, कायमार्गणा की अपेक्षा औदारिक, तैजस और कार्माणकायवाले हैं । इसीप्रकार चौदहों मार्गणाएँ घटित की जा सकती हैं ।

गुणस्थानों का एक समय में एक ही होना और चौदह मार्गणाओं का एक साथ होना तो करणानुयोग का प्रसिद्ध सिद्धान्त है । इसमें शंका-आशंका के लिए कोई स्थान नहीं है। इस विषय की विशेष जानकारी के लिए गोम्मटसार जीवकाण्ड का अध्ययन किया जाना चाहिए ।

इसप्रकार इस व्याख्या के अनुसार चिन्मात्र आकार के कारण समस्त क्रमरूप और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यावहारिकभावों से भेदरूप नहीं होता – इसकारण एक हूँ का आशय यह हुआ कि मैं गुणस्थान और मार्गणास्थानरूप व्यावहारिकभावों से भेदरूप नहीं होता; इसकारण एक हूँ। तात्पर्य यह है कि दृष्टि का विषयभूत भगवान आत्मा गुणस्थानातीत है, मार्गणास्थानातीत है ।

एक शब्द की व्याख्या में आचार्य जयसेन तो मात्र इतना ही लिखते हैं :-

"यद्यपि व्यवहारनय से नरनारकादि अनेक पर्यायरूप हूँ, तो भी शुद्ध निश्चयनय से टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाववाला होने से एक हूँ ।"

प्रश्न – शब्दों के अर्थ करने में आचार्यों में इसप्रकार की विभिन्नता क्यों पाई जाती है ? क्या आचार्यों में परस्पर मतभेद है ?

उत्तर – ऐसी कोई बात नहीं है। शब्दों के अनेक अर्थ होते हैं, हो सकते हैं; अतः इसप्रकार की संभावनायें रहती ही हैं। इसमें कुछ भी अनुचित नहीं है। आचार्यों द्वारा किये गये विभिन्न अर्थ जबतक एक ही प्रयोजन को पुष्ट करते हों, तबतक तो कुछ सोचने की बात ही नहीं है; यदि प्रयोजन भी अलग-अलग भासित हो तो उनकी अपेक्षा को समझने का प्रयास करना चाहिए।

शुद्ध शब्द का अर्थ करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र शुद्धता का कारण व्यावहारिक नवतत्वों से भिन्नता को बताते हैं। उनके अनुसार नवतत्त्वों में

छुपी हुई आत्मज्योति नवतत्त्वों से भिन्न है; इसलिए शुद्ध है। उसका नवतत्त्वरूप होना ही अशुद्धता है और नवतत्त्वों से भिन्नता ही शुद्धता है ।

आचार्य जयसेन नवतत्त्वों से भिन्नता को शुद्धता स्वीकार करते हुए भी अथवा के रूप में रागादिभाव से भिन्नता की बात भी करते हैं ।

स्वामीजी नवतत्त्वों से भिन्नता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं –

"भिन्नता के तीन प्रकार हैं –

१. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से अत्यन्त भिन्न है ।
२. पुण्य-पाप के विकारी भावों से भगवान आत्मा भिन्न है ।
३. निर्मल पर्याय से भी भगवान आत्मा भिन्न है ।

पहले प्रकार में स्वद्रव्य-परद्रव्य की भिन्नता, दूसरे प्रकार में विकारभाव व स्वभाव की भिन्नता तथा तीसरे प्रकार में द्रव्य व निर्मलपर्याय की भिन्नता बताई है। पुद्गलमय शरीर वगैरह परद्रव्य भगवान आत्मा को नहीं छूते, अन्दर पर्याय में वर्तते हुए विकारीभाव भी भगवान चैतन्यस्वभाव को नहीं छूते; – यह तो ठीक, किन्तु भगवान ज्ञायकस्वभावी ध्रुव आत्मा के आश्रय से प्रगट हुई निर्मलपर्याय भी द्रव्य का स्पर्श नहीं करती ।[१]"

उक्त तीनों प्रकारों में अपने आत्मा से भिन्न नवतत्त्व आ जाते हैं । तात्पर्य यह है कि दृष्टि के विषयभूत, ध्यान के ध्येय, परमशुद्धनय के विषयरूप निज आत्मा को जिनसे भिन्न जानना है; नवतत्त्व में वे सभी पदार्थ आ जाते हैं ।

इसप्रकार एकता में गुणस्थान और मार्गणास्थानों से भिन्नता और शुद्धता में नवतत्त्वों से भिन्नता की बात आ गई ।

प्रश्न – ७३वीं गाथा में भी भगवान आत्मा के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए एक, शुद्ध और ज्ञान-दर्शनमय विशेषण आये हैं। वहाँ इन शब्दों का अर्थ उसप्रकार नहीं किया, जिसप्रकार यहाँ किया जा रहा है। विभिन्न आचार्य भिन्न-भिन्न अर्थ करें तो कदाचित् ठीक भी मानलें; परन्तु जब एक ही आचार्य

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १४२

एक स्थान पर एक शब्द का कुछ अर्थ करें और दूसरे स्थान पर कुछ; तो चित्त में प्रश्न खड़ा होता ही है ।

उत्तर – यदि आपके चित्त में प्रश्न खड़ा होता है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। यह तो आपकी जागरुकता का प्रतीक है कि आप यह ध्यान रखते हैं कि यह शब्द वहाँ भी आया है और वहाँ इसका अलग अर्थ किया गया है।

यदि एक ही आचार्य ने एक ही शब्द का विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अर्थ किया है तो उसके रहस्य को समझने का प्रयत्न और भी अधिक गहराई से किया जाना चाहिए; क्योंकि उसमें उनका कोई विशेष आशय हो सकता है ।

३८वीं गाथा में व्यावहारिक नवतत्त्वों से भिन्नता को शुद्धता कहा गया है और ७३वीं गाथा में सकलकारकचक्र की प्रक्रिया से पार को प्राप्त निर्मल अनुभूतिमात्र को शुद्धता का आधार बनाया है। बात एकदम स्पष्ट है कि यहाँ पर से भिन्नता बताने के लिए पर से एकत्व और पर के प्रति होनेवाले ममत्व का निषेध है और कर्त्ता-कर्म अधिकार में पर के कर्तृत्व और भोक्तृत्व का निषेध है। यही कारण है कि ३८वीं गाथा में व्यावहारिक नवतत्त्वों से भिन्नता को शुद्धता का आधार बनाया है और कर्ता-कर्म अधिकार की गाथा होने से ७३वीं गाथा में कर्ता, कर्म आदि कारकचक्र की प्रक्रिया से पार को प्राप्त निर्मल अनुभूतिमात्र को शुद्धता का आधार बनाया गया है ।

एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कहना भी व्यवहार है और एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य का कर्ता कहना भी व्यवहार ही है। व्यवहार अशुद्धि है और निश्चय शुद्धि। दोनों ही स्थानों में व्यावहारिक भावों का निषेध है; अतः बात तो एक ही है, परन्तु अर्थ में जो अन्तर आया है, वह तो अधिकार परिवर्तन के कारण आया है ।

इसीप्रकार एक के संबंध में भी समझना चाहिए। ज्ञान-दर्शनमय में तो कोई अन्तर है ही नहीं ।

प्रश्न – यह तो ठीक, पर यहाँ व्यावहारिक नवतत्त्वों से ज्ञायकभाव को अत्यन्त भिन्न कहा है; उसमें जीवतत्त्व का स्पष्टीकरण करते हुए नर-नारकादि जीव के विशेष – ऐसा क्यों कहा ?

उत्तर – यह आत्मा स्वयं जीव तत्त्व है । अतः प्रश्न उपस्थित होता है कि इससे भिन्न ऐसा कौनसा जीवतत्त्व है, जिससे इस आत्मारूप जीवतत्त्व को भिन्न जानना है ?

इस प्रश्न के समाधान में कहा जा रहा है कि यह भगवान आत्मा तो निश्चयजीव है; इसे व्यवहारजीव से भिन्न जानना है और व्यवहारजीव नर-नारकादि पर्यायों सहित जीव को कहते हैं। अतः नरनारकादि पर्यायों वाले व्यवहारजीव से तथा अजीवादि पदार्थों से भिन्नता को शुद्धता कहा है ।

प्रश्न – व्यवहारजीव में अपने आत्मा से भिन्न परजीवों के ले लें तो क्या दिक्कत है ?

उत्तर – दिक्कत है, क्योंकि परजीव व्यवहारजीव नहीं हैं। उन्हें तो यहाँ अपने चेतनत्व से भिन्न होने से अचेतन मानकर अजीव में लिया गया है; क्योंकि जिनमें अपनी चेतना नहीं है, अपने ज्ञान-दर्शन नहीं हैं; वे सब अपनी अपेक्षा, अपने लिए अजीववत् ही हैं, अजीव ही हैं। अध्यात्म में इसप्रकार की अपेक्षा प्रचलित ही है ।

'मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ' – इस तीसरे विशेषण का जो अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने किया है; उसे स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"चिन्मात्र कहने से 'मैं चैतन्यस्वभावमात्र हूँ' – यह समझना चाहिए । दया, दान, व्रतादि के विकल्परूप मैं नहीं हूँ, अल्पज्ञतारूप भी मैं नहीं हूँ तथा 'मैं दर्शन-ज्ञानवाला हूँ' – ऐसा भेद भी मैं नहीं हूँ । मैं तो चिन्मात्र होने से दर्शन-ज्ञानमय हूँ । यहाँ चैतन्यसामान्य दर्शन है व चैतन्यविशेष ज्ञान है । चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा का सामान्य-विशेष उपयोगात्मकपने का उल्लंघन नहीं होने से मैं दर्शन-ज्ञानमय हूँ। त्रिकाली वस्तुपने ऐसा हूँ ।[१]"

तत्वार्थसूत्र में उपयोग को जीव का लक्षण कहा है । वहाँ भी उपयोग को ज्ञान-दर्शनरूप ही कहा है और ज्ञानोपयोग के आठ तथा दर्शनोपयोग के चार भेद बताये हैं । यहाँ उपयोग के विशेष भेदों को न लेकर सामान्यरूप

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १४३

से ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग को लिया है और दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा को सामान्यज्ञानमय और सामान्यदर्शनमय कहा है ।

प्रश्न – एक ओर तो आप दर्शन को सामान्य और ज्ञान को विशेष कहते हैं और दूसरी ओर यहाँ दर्शन और ज्ञान – दोनों को ही सामान्यरूप से लेने की बात कर रहे हैं ?

उत्तर – जहाँ दर्शन को सामान्य और ज्ञान को विशेष कहा जाता है, वहाँ उनके स्वरूप की बात होती है; क्योंकि दर्शन निराकार-निर्विकल्प होने से सामान्य कहा जाता है और ज्ञान साकार-सविकल्प होने से विशेष कहा जाता है और जहाँ यह कहा जाता है कि सामान्य दर्शन-ज्ञान लेना, उसका तात्पर्य यह होता है कि दर्शन-ज्ञान के भेद-प्रभेदों को नहीं लेना, अपितु सामान्यरूप से ज्ञान-दर्शन को ही लेना ।

'अरूपी' विशेषण के साथ 'सदा' शब्द भी लगा है; जिसका आशय है कि आत्मा सदा ही अरूपी है। इस 'सदा' शब्द को अन्तदीपक मानकर सभी विशेषणों के साथ भी लगाया जा सकता है; जो इसप्रकार होगा – मैं (भगवान आत्मा) सदा ही एक हूँ, सदा ही शुद्ध हूँ, सदा ही ज्ञान-दर्शनमय हूँ और सदा ही अरूपी हूँ ।

इस अरूपी विशेषण में विशेष जानने की बात यह है कि आत्मा रूप, रस, गंध एवं स्पर्श को जानता है, उनके जाननेरूप परिणमित होता है; परन्तु उनरूप परिणमित नहीं होता; – इसकारण अरूपी है। ध्यान रहे – इसमें रूपादि को जानने का निषेध नहीं किया, अपितु उन्हें जानने की तो स्थापना की है; निषेध तो उनरूप परिणमित होने का किया है ।

इस बात को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"देखो ! स्पर्श, रस आदि का जो ज्ञान होता है, वह मेरे स्वयं से होता है, निमित्त से नहीं होता तथा स्पर्शादि निमित्त का अस्तित्व है, इसलिए मुझे ज्ञान होता है – ऐसा भी नहीं है। तत्संबंधी ज्ञानरूप से परिणमने की योग्यता मुझमें सहज स्वभाव से ही है ।

स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि को जानते हुए भी वे स्पर्शादि मुझमें आते नहीं है और मैं भी स्पर्शादिरूप से परिणमित नहीं होता। मेरा ज्ञान व स्पर्शादि भिन्न-भिन्न ही रहते हैं। ऐसा होने से मैं परमार्थ से सदा ही अरूपी हूँ ।[१]"

इसप्रकार ज्ञानी विचारता है कि मैं क्रम और अक्रमरूप से प्रवर्तमान व्यवहारिक भावों से भेदरूप नहीं होता, इसलिए एक हूँ; व्यवहारिक नवतत्त्वों से भिन्न हूँ, इसलिए शुद्ध हूँ; सामान्य-विशेष उपयोगात्मक होने से ज्ञान-दर्शनमय हूँ और स्पर्शादिक को जानते हुए भी उनरूप परिणमित नहीं होता; इसलिए अरूपी हूँ तथा कोई भी परपदार्थ किंचित्मात्र भी मेरे नहीं हैं ।

इसप्रकार सभी परपदार्थों से भिन्न निजस्वरूप का अनुभव करता हुआ मैं प्रतापवन्त वर्तता हूँ ।

आचार्यदेव स्वयं तो ज्ञानसागर आत्मा में डुबकी लगा ही रहे हैं । अब आगामी कलश के माध्यम से सम्पूर्ण जगत को भी आमंत्रण दे रहे हैं, प्रेरणा दे रहे हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम भी इस ज्ञानसागर में डुबकी लगावो और अतीन्द्रिय-आनन्द को प्राप्त कर अनन्तसुखी हो जावो ।

(वसन्ततिलका)

मज्जन्तु निर्भरममी सममेव लोका ।
आलोकमुच्छलति शान्तरसे समस्ताः ॥
आप्लाव्य विभ्रमतिरस्करणीं भरेण ।
प्रोन्मग्न एष भगवानवबोधसिन्धुः ॥ ३२ ॥

(हरिगीत)

सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ॥
हे भव्यजन ! इस लोक के सब एक साथ नहाइये ।
अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये ॥ ३२ ॥

यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी आड़ी चादर को समूलतया डुबोकर, दूरकर, हटाकर स्वयं सर्वांग प्रगट हुआ है, पूर्णतया प्रगट हो गया

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १४३

है। अतः अब हे लोक के समस्त लोगों ! लोकपर्यन्त उछलते हुए उसके शान्तरस में सब एकसाथ ही मग्न हो जावो ।

उक्त छन्द का भाव स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पंडित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं –

"जैसे समुद्र के आड़े कुछ आ जावे तो जल दिखाई नहीं देता और जब वह आड़ दूर हो जाती है, तब जल प्रगट होता है । वह प्रगट होनेपर लोगों को प्रेरणा योग्य होता है कि 'इस जल में सभी लोग स्नान करो ।' इसीप्रकार यह आत्मा विभ्रम से आच्छादित था, तब उसका स्वरूप दिखाई नहीं देता था; अब विभ्रम दूर हो जाने से यथास्वरूप (ज्यों का त्यों) प्रगट हो गया । इसलिए अब उसके वीतराग-विज्ञानरूप शान्तरस में एक ही साथ सर्व लोक मग्न होओ – इसप्रकार आचार्यदेव ने प्रेरणा की है ।

अथवा इसका अर्थ यह भी है कि जब आत्मा का अज्ञान दूर होता है, तब केवलज्ञान प्रगट होता है और केवलज्ञान प्रगट होनेपर समस्त लोक में रहनेवाले पदार्थ एक ही समय ज्ञान में झलकते हैं; उसे समस्त लोक देखो ।"

स्वामीजी इस कलश का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जैसे अपने सामने बड़ा भारी समुद्र हो, किन्तु आँख व समुद्र के बीच चार हाथ की चादर हो तो समुद्र दिखाई नहीं देता। उसीप्रकार राग व पुण्यादिभाव मेरे हैं, इनमें ही मेरा अस्तित्व है; जबतक ऐसी मिथ्यात्वरूपी चादर की आड़ है, तबतक ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा दिखाई नहीं देता। चैतन्यस्वरूप से विपरीत राग, वह मेरा व एक समय की पर्याय वह मैं; अबतक ऐसी जो पर्यायबुद्धि थी, वही विभ्रम था । जब भेदज्ञान से उस विभ्रम की चादर को दूर कर दिया, हटा दिया, विभ्रम का नाश कर दिया; तब भगवान आत्मा स्वयं सर्वांग प्रगट हो गया । ·······

वस्तु तो ध्रुव है । ध्रुव प्रगट नहीं होता, वह तो प्रगट ही है । ध्रुव पर दृष्टि जाते ही मिथ्यात्व दशा का नाश हुआ और जैसा इसका शुद्धस्वरूप है, वैसा पर्याय में प्रगट हुआ अर्थात् शान्ति व अतीन्द्रिय आनन्द की निर्मल दशा

प्रगट हुई । अन्दर पूर्णानन्द का नाथ चैतन्यभगवान ज्ञान व आनन्द से भरा हुआ है, उसकी दृष्टि होने पर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पर्याय प्रगट परिणमित हुई ।[१]

आचार्यदेव ने सबको चूल का न्योता (आमंत्रण) दिया है। वे कहते हैं कि यह चैतन्यसिन्धु प्रगट हुआ है; इसलिए समस्त लोक अर्थात् सभी जीव उस आनन्दसागर में निमग्न हो जावो ।...... तुम अतीन्द्रिय आनन्दगर्भित शान्त रस में अर्थात् वीतराग रस में एक ही साथ अत्यन्त मग्न हो जावो। ऐसे मग्न होवो कि फिर कभी इस आनन्द से बाहर निकलना होवे ही नहीं ।

देखो तो सही, कैसी अचूक रामबाण वाणी है। नहीं पा सकोगे या थोड़ी सी ही प्राप्त कर सकोगे – ऐसी निराशाजनक बात नहीं की। आचार्यदेव ने स्वयं आनन्दरस प्राप्त कर लिया है; अतः वे चाहते हैं कि सभी जीव इस अतीन्द्रिय आनन्दरस को प्राप्त करें ।[२]"

पण्डित राजमलजी कलश टीका में इस कलश का अर्थ करते हुए 'सिन्धु' शब्द का अर्थ पात्र (अभिनेता) करते हैं । इस कलश का अर्थ नाटक के रूपक के रूप में करते हुए वे कहते हैं कि जिसप्रकार अखाड़े (नाटक-नाट्यशाला-रंगमंच) में पात्र (अभिनेता) नाचता है; उसीप्रकार यहाँ भी आत्मा का शुद्धस्वरूप प्रगट होता है। भावार्थ इसप्रकार है कि अखाड़े में प्रथम ही अन्तर्जवनिका कपड़े की होती है। उसे दूर कर शुद्धांग नाचता है। यहाँ भी अनादिकाल से मिथ्यात्व परिणति है; उसके छूटने पर शुद्धस्वरूप परिणमता है । जिसप्रकार अखाड़े में जो शुद्धांग दिखता है; वहाँ जितने भी देखनेवाले हैं; वे सब एक ही साथ मग्न होकर देखते हैं; उसीप्रकार जीव का शुद्धस्वरूप सभी जीवों द्वारा अनुभव करने योग्य है ।

पण्डित राजमलजी के उक्त अर्थ को कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने काव्य के रूप में इसप्रकार प्रस्तुत किया है –

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १४८
२. वही पृष्ठ १४८-१४९

(सवैया इकतीसा)

जैसैं कोऊ पातुर बनाय वस्त्र आभरन,
आवति अखारे निसि आड़ौ पट करिकैं ।
दुहूँ ओर दीवटि संवारि पट दूरि कीजै,
सकल सभा के लोग देखैं दृष्टि धरिकैं ॥
तैसैं ग्यान सागर मिथ्याति ग्रन्थि भेदि करि,
उमग्यो प्रगट रह्यौ तिहूँ लोक भरिकैं ।
ऐसौ उपदेस सुनि चाहिए जगतजीव,
सुद्धता संभारै जगजालसौं निसरिकैं ॥३५॥

जिसप्रकार नटी (पातुर) रात्रि में वस्त्राभूषणों से सजकर नाट्यशाला में परदे की ओट में खड़ी हो जाती है तो किसी को भी दिखाई नहीं देती; किन्तु जब दोनों ओर के शमादान (दीपक) ठीक करके पर्दा हटाया जाता है तो सम्पूर्ण सभा के लोगों को साफ-साफ दिखाई देती है। उसीप्रकार ज्ञान का समुद्र आत्मा जो मिथ्यात्व के परदे में ढंक रहा था, वह प्रगट होकर तीन लोक को जानता-देखता है, त्रैलोक्य का ज्ञायक होता है ।

श्रीगुरु कहते हैं कि हे जगवासी जीवो ! ऐसा उपदेश सुनकर तुम्हें जगत के जाल से निकलकर अपनी शुद्धात्मा संभालना चाहिए ।

इसप्रकार पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ, पाण्डे राजमलजी की कलश टीका एवं बनारसीदासजी के नाटक समयसार के उक्त छन्द का मंथन करने पर ३२वें कलश के दो अर्थ स्पष्ट होते हैं । वे दोनों अर्थ सीधी, सरल और सपाट भाषा में इसप्रकार होंगे :-

(१) यह ज्ञानसमुद्र भगवान आत्मा विभ्रमरूपी परदे को हटाकर सर्वांग प्रगट हो गया है । अतः हे जगत के जीवों ! लोकपर्यन्त उछलते हुए इस ज्ञानसागर के शान्त रस में सब एक साथ ही डुबकी लगावो, मग्न हो जावो ।

---

१. समयसार नाटक : जीवद्वार, छन्द ३५

(२) जिसप्रकार नाटक के रंगमंच पर नाचने के लिए तैयार सुसज्जित अभिनेता खड़ा हो, नाच रहा हो; पर अंधकार और परदे की ओट होने से सभाजनों को कुछ भी दिखाई नहीं देता; किन्तु पर्याप्त प्रकाश होने और परदा हट जाने पर सभी को सबकुछ दिखाई देने लगता है। उसीप्रकार ज्ञानसागर भगवान आत्मा मिथ्यात्व के अंधकार और विभ्रम के परदे में छुपा हुआ है। मिथ्यात्व का अंधकार और विभ्रम का परदा हटने पर सबकुछ साफ हो जाता है, साफ-साफ दिखाई देने लगता है। अतः जगत के समस्त जीवों को चाहिए कि वे मिथ्यात्व का अंधकार दूर कर विभ्रम की चादर को हटाकर भगवान आत्मा के दर्शन करें, उसके ज्ञानसागर में डुबकी लगावें, उसके आनन्दरस में मग्न हो जावें ।

एक तीसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि भगवान के केवलज्ञान में समस्त पदार्थ झलकते हैं। अतः हे जगत के प्राणियों, तुम उसे देखो; अर्थात् केवलज्ञान की श्रद्धा करो और उसके माध्यम से अपने आत्मा और जगत के स्वरूप को जानो ।

जो भी हो, पूर्वरंग प्रकरण का अन्तिम कलश होने से इस कलश में आचार्य अमृतचन्द्रदेव ने अपने शिष्यों को, पाठकों को ज्ञान और आनन्द से लबालब भरे हुए इस भगवान आत्मा को देखने-जानने और इसी में जमने-रमने का आदेश दिया है, उपदेश दिया है, आशीर्वाद दिया है, आमंत्रण दिया है, प्रेरणा दी है; वह सब कुछ दिया है, जो उनके पास अपने शिष्यों को, पाठकों को देने के लिए था ।

आचार्य अमृतचन्द्र उक्त ३८ गाथाओं के प्रकरण को पूर्वरंग कहते हैं। इसके आगे ३९वीं गाथा से ६८वीं गाथा तक के प्रकरण का नाम वे जीवाजीवाधिकार रखते हैं । इस तरह उनके अनुसार यहाँ पूर्वरंग समाप्त होता है ।

आचार्य जयसेन आरंभ की १४ गाथाओं को पीठिका कहते हैं। उन १४ गाथाओं में अमृतचन्द्र की टीका की १२ गाथायें ही आती हैं । उसके बाद

की गाथा जो आत्मख्याति की १३वीं गाथा है और तात्पर्यवृत्ति की १५वीं गाथा है – उसमें नौ तत्त्वों के नाम आते हैं । अत: उसके बाद की गाथा से आचार्य जयसेन जीवाधिकार मानते हैं; जो यहाँ तक चलता है। इसके बाद के प्रकरण को वे अजीवाधिकार कहते हैं; जो कर्त्ताकर्म अधिकार के आरंभ होने तक चलता है ।

आचार्य जयसेन ने नौ तत्त्वों के नाम वाली गाथा को न तो पीठिका में ही रखा है और न जीवाधिकार में ही। ऐसा क्यों किया गया – इसके बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है ।

यद्यपि कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने आचार्य अमृतचन्द्रकृत आत्मख्याति टीका में समागत कलशों और उनकी राजमलीय बालबोधनी टीका को आधार बनाकर समयसार नाटक की रचना की है; तथापि अधिकारों के विभाजन में उन्होंने आचार्य जयसेन का अनुकरण किया है। जीवाधिकार और अजीवाधिकार – ये दो अधिकार अलग-अलग रखे हैं, जबकि आचार्य अमृतचन्द्र ने जीवाजीवाधिकार – ऐसा एक अधिकार ही रखा है ।

समयसार नाटक के निम्नांकित दोहे से यह बात स्पष्ट होती है –

(दोहा)

"जीवतत्व अधिकार यह कह्यौ प्रगट समुझाय ।
अब अधिकार अजीव कौ सुनहु चतुर चित लाय ॥[१]"

अधिकारों के नामकरण के सन्दर्भ में एक बात विचारणीय है कि आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में अधिकारों के लिए 'अंक' शब्द का उपयोग करते हैं। यद्यपि आत्मख्याति की प्रकाशित प्रतियों में अंकों के आरंभिक शीर्षकों में अधिकार शब्द का प्रयोग किया है; तथापि अमृतचन्द्र को अधिकार शब्द

---

१. समयसार नाटक : अजीवद्वार, छन्द १

इष्ट प्रतीत नहीं होता; क्योंकि वे इसे नाटक के रूप में प्रस्तुत करते हैं और नाटकों में अंक हुआ करते हैं, अधिकार नहीं। आत्मख्याति के अंकों की समाप्ति पर जो पंक्तियाँ उपलब्ध होती हैं, उनमें अंक शब्द का स्पष्ट उल्लेख है। जैसे –

"समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ जीवाजीवप्ररूपकः प्रथमोऽङ्कः ।
समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ कर्तृकर्मप्ररूपकः द्वितीयोऽङ्कः ।"

आत्मख्याति की प्रकाशित प्रतियों में अधिकार लिखने की परम्परा कब से और क्यों चल पड़ी, कैसे चल पड़ी – यह एक शोध का विषय है ।

आचार्य जयसेन अपनी तात्पर्यवृत्ति नामक टीका में यद्यपि 'अधिकार' शब्द का प्रयोग करते हैं तथापि साथ में 'रंग' शब्द का प्रयोग भी करते हैं ।

जैसा कि निम्नांकित कथन से स्पष्ट है – "**जीवाधिकारः समाप्तः। इति प्रथमरंगः ।**"

एक बात यह भी ध्यान देने योग्य है कि '**इति प्रथमरंगः**' यह वाक्य मात्र प्रथमाधिकार के अन्त में ही प्राप्त होता है, आगे के अधिकारों में नहीं । अतः यही प्रतीत होता है कि जयसेन को मूलतः अधिकार शब्द ही इष्ट है ।

कविवर बनारसीदास कृत नाटक समयसार में 'द्वार' और 'अधिकार' – इन दोनों शब्दों का खुलकर प्रयोग किया गया है । यहाँ तक कि अध्याय के आरंभिक शीर्षकों में भी कहीं 'द्वार' और कहीं 'अधिकार' शब्द का प्रयोग है। जैसे – जीवद्वार, अजीवद्वार, कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार, पुण्य-पाप एकत्वद्वार। पर आगे आस्रव अधिकार, गुणस्थानाधिकार शब्द के प्रयोग भी हैं । प्रकाशित प्रतियों में यह सब असावधानी से हो गया हो – यदि यह भी मान लें, तो भी छन्दों में भी इसप्रकार के दुहरे प्रयोग मिलते हैं ।

ऊपर दिये गये दोहे में स्पष्टरूप से अधिकार शब्द का प्रयोग किया गया है। और भी अनेक कथन इसप्रकार के उपलब्ध हैं । जैसे –

(दोहा)

"यह अजीव अधिकार कौ प्रगट बखानौ मर्म ।
अब सुनु जीव-अजीव के करता किरिया कर्म ॥[१]
करता किरिया करम कौ प्रगट बखान्यौ मूल ।
अब बरनौं अधिकार यह पाप पुन्न समतूल ॥[२]
पाप पुन्न की एकता वरनी अगम अनूप ।
अब आस्रव अधिकार कछु कहौं अध्यातम रूप ॥[३]"

लगभग सभी अधिकारों के आरंभिक छन्दों में इसप्रकार का प्रयोग पाया जाता है। लेकिन ग्रन्थ के आरंभ में जहाँ बारह अधिकारों के नाम गिनाये गये हैं; वहाँ द्वार शब्द का प्रयोग है; जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

जीव निरजीव करता-करम पुन्न-पाप ।
आस्रव संवर निरजरा बंध मोष है॥
सरवविसुद्धि स्याद्वाद साध्य-साधक ।
दुवादस दुवार धरे समैसार कोष है ॥[४]

ग्रन्थ के अन्त में भी इसीप्रकार का उल्लेख है:-

(दोहा)

नाम साध्य-साधक कह्यौ, द्वार द्वादसम ठीक ।
समयसार नाटक सकल, पूरन भयो सटीक ॥[५]

यदि यह मान लें कि छन्दों में छन्दानुरोध से यथावकाश द्वार और अधिकार शब्दों का प्रयोग किया गया होगा; परन्तु इससे यह तो प्रतीत होता ही है कि उन्हें दोनों ही शब्द अभीष्ट हैं, किसी से भी परहेज नहीं है; तथापि प्रकाशकों

१. समयसार नाटक : कर्ता-कर्म-क्रियाद्वार-छन्द-१
२. वही : पुण्य-पाप एकत्वद्वार-छन्द-१
३. वही : आस्रव अधिकार, छन्द-१
४. वही : उत्थानिका-छन्द-५१
५. वही : साध्य-साधक द्वार, छन्द-५३

द्वारा यह ध्यान तो रखा ही जाना चाहिए था कि कम से कम शीर्षकों में एकरूपता रहे । दोनों में से जो भी शीर्षक उन्हें अच्छे लगें, रखें; पर एकरूपता होना चाहिए । लगता है, इस ओर उनका ध्यान ही नहीं जा पाया है ।

उक्त मंथन के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि हम इस समयसार अनुशीलन में अध्यायों के विभाजन को अधिकार शब्द से ही सम्बोधित करेंगे; क्योंकि एक तो यह शब्द अब पूरी तरह प्रचलन में आ गया है, दूसरे यह अनुशीलन अकेली आत्मख्याति के आधार पर ही नहीं हो रहा है। यद्यपि इसका मूल आधार आत्मख्याति ही है, तथापि अन्य आधारों का भी भरपूर उपयोग हो रहा है। अतः हमें अधिकार शब्द का प्रयोग ही उपयुक्त लग रहा है ।

आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार यह ग्रन्थ नाटक है और यहाँ पूर्वरंग समाप्त हुआ है। अतः पूर्वरंग एवं ग्रन्थ की नाटकीयता को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

"यहाँ टीकाकार का यह आशय है कि इस ग्रन्थ को अलंकार से नाटक रूप में वर्णन किया है । नाटक में पहले रंगभूमि रची जाती है । वहाँ देखनेवाले, नायक तथा सभा होती है और नृत्य (नाट्य, नाटक) करनेवाले होते हैं, जो विविधप्रकार के स्वांग रखते हैं तथा श्रृंगारादिक आठ रसों का रूप दिखलाते हैं । वहाँ श्रृंगार, हास्य, रौद्र, करुण, वीर, भयानक, वीभत्स और अद्भुत- ये आठ रस लौकिक रस हैं; नाटक में इन्हीं का अधिकार है। नववाँ शान्तरस है, जो कि अलौकिक है; नृत्य में उसका अधिकार नहीं है। इन रसों के स्थायीभाव, सात्त्विकभाव, अनुभावीभाव, व्यभिचारीभाव और उनकी दृष्टि आदि का वर्णन रसग्रन्थों में है, वहाँ से जान लेना।

सामान्यतया रस का यह स्वरूप है कि ज्ञान में ज्ञेय आया, उसमें ज्ञान तदाकार हुआ, उसमें पुरुष का भाव लीन हो जाये और अन्य ज्ञेय की इच्छा नहीं रहे, सो रस है। उन आठ रसों का रूप नृत्य में नृत्यकार बतलाते हैं और : वर्णन करते हुए कवीश्वर जब अन्यरस को अन्यरस के समान भी वर्णन

करते हैं, तब अन्यरस का अन्यरस अंगभूत होने से अन्यभाव रसों का अंग होने से, रसवत् आदि अलंकार से उसे नृत्यरूप में वर्णन किया जाता है ।

यहाँ पहले रंगभूमिस्थल कहा। वहाँ देखनेवाले तो सम्यग्दृष्टि पुरुष हैं और अन्य मिथ्यादृष्टि पुरुषों की सभा है, उनको नृत्य दिखलाते हैं। नृत्य करनेवाले जीव-अजीव पदार्थ हैं और दोनों का एकपना, कर्ताकर्मपना आदि उनके स्वांग हैं। उनमें वे परस्पर अनेकरूप होते हैं, आठ रसरूप होकर परिणमन करते हैं; सो वह नृत्य है ।

वहाँ सम्यग्दृष्टि दर्शक जीव-अजीव के भिन्न स्वरूप को जानता है; वह तो इन सब स्वांगों को कर्मकृत जानकर शान्तरस में ही मग्न है और मिथ्यादृष्टि जीव-अजीव में भेद नहीं जानते, इसलिए वे इन स्वांगों को ही यथार्थ जानकर उसमें लीन हो जाते हैं । उन्हें सम्यग्दृष्टि यथार्थस्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर, उन्हें शान्तरस में लीन करके सम्यग्दृष्टि बनाता है ।

उसकी सूचनारूप में रंगभूमि के अन्त में आचार्य ने 'मज्जंतु ··· इत्यादि' – इस श्लोक की रचना की है, वह अब जीव-अजीव के स्वांग का वर्णन करेंगे, इसका सूचक है; ऐसा आशय प्रगट होता है ।

इसप्रकार यहाँ तक रंगभूमि का वर्णन किया है ।''

आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार में आचार्य अमृतचन्द्र ने नाटकीय तत्त्व देखे । इसकारण उन्होंने आत्मख्याति टीका में उसे नाटक के रूप में प्रस्तुत किया। उनके इस नाटकीय प्रस्तुतीकरण को आचार्य जयसेन ने भी स्वीकार किया। पण्डित राजमलजी ने तो अपनी कलश टीका में इसे और भी अधिक उजागर किया । उन्हीं से प्रेरणा पाकर कविवर बनारसीदासजी ने समयसार की विषयवस्तु के आधार पर रचित अपने ग्रन्थ का नाम ही समयसार नाटक रखा है। पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने भी उसे उभारा है ।

उक्त सम्पूर्ण विवेचन में जो नाट्यशास्त्रों की परम्परागत पद्धति का अनुसरण किया गया है; वह तत्कालीन होने से आज के संदर्भ में पुरानी पड़

गई है; अतः आज के लोगों को सहज पकड़ में नहीं आती । समयसार और आत्मख्याति की नाटकीयता को समझने के लिए हमें प्राचीन नाटक पद्धति का थोड़ा-बहुत परिचय अवश्य होना चाहिए । अध्यात्म का अधिकार होने से हम यहाँ उसके विस्तार में जाना उचित नहीं समझते हैं । अतः जिन्हें विशेष जिज्ञासा हो, उन्हें तत्संबंधी साहित्य के अध्ययन से अपनी जिज्ञासा शान्त करना चाहिए ।

इसप्रकार यह पूर्वरंग समाप्त होता है और अब जीवाजीवाधिकार आरंभ होगा । •

आत्मा का ध्यान करने के लिए उसे जानना आवश्यक है। इसीप्रकार अपने आत्मा के दर्शन के लिए भी आत्मा का जानना आवश्यक है। इसप्रकार आत्मध्यान रूप चारित्र के लिए तथा आत्मदर्शनरूप सम्यग्दर्शन के लिए आत्मा का जानना जरूरी है तथा आत्मज्ञान रूप सम्यग्ज्ञान के लिए तो आत्मा का जानना आवश्यक हैं ही। अन्ततः यही निष्कर्ष निकला कि धर्म की साधना के लिए एकमात्र निज भगवान आत्मा का जानना ही सार्थक है ।

सुनकर नहीं, पढ़कर नहीं; आत्मा को प्रत्यक्ष अनुभूतिपूर्वक साक्षात् जानना ही आत्मज्ञान है और इसीप्रकार जानते रहना ही आत्मध्यान है। इसप्रकार का आत्मज्ञान सम्यग्ज्ञान है और इसीप्रकार का आत्मध्यान सम्यक्चारित्र है। जब ऐसा आत्मज्ञान और आत्मध्यान होता है तो उसीसमय आत्मप्रतीति भी सहज हो जाती है, आत्मा में अपनापन भी सहज आ जाता है, अतीन्द्रिय आनन्द का वेदन भी उसीसमय होता है; सबकुछ एकसाथ ही उत्पन्न होता है और सबका मिलाकर एकनाम आत्मानुभूति है ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ २२१

जीवाजीवाधिकार

इस अधिकार की विषयवस्तु स्पष्ट करते हुए कलश टीकाकार पाण्डे राजमलजी लिखते हैं –

"अबतक विधिरूप से शुद्धाङ्ग तत्त्वरूप जीव का निरूपण किया, अब आगे उसी जीव का प्रतिषेधरूप निरूपण करते हैं । उसका विवरण – जीव शुद्ध है, टंकोत्कीर्ण है, चिद्रूप है – ऐसा कहना विधि कही जाती है । जीव का स्वरूप गुणस्थान नहीं है, कर्म-नोकर्म जीव के नहीं हैं, भावकर्म जीव का नहीं है; – ऐसा कहना प्रतिषेध कहलाता है ।[१]"

उक्त कथन से स्पष्ट है कि इस अधिकार में यह स्पष्ट करनेवाले हैं कि अज्ञानी जीव अपने अज्ञान के कारण किन-किन पदार्थों को जीव मानते आ रहे हैं और वे वास्तविक जीव क्यों नहीं हैं ?

प्रश्न – पूर्वरंग में सभी कथन विधिपरक ही हों – ऐसी बात तो नहीं हैं; क्योंकि उसमें भी अनेक बातें प्रतिषेधरूप हैं । जैसे – आत्मा प्रमत्त नहीं हैं, अप्रमत्त भी नहीं है, एक ज्ञायकभावरूप ही है । तथा इस जीवाजीवाधिकार में भी कुछ कथन विधिपरक पाये जाते हैं । जैसे – आत्मा चेतनागुणवाला है ।

अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि पूर्वरंग में सभी कथन विधिपरक हैं और जीवाजीवाधिकार में प्रतिषेधपरक ?

उत्तर – अरे, भाई ! यह कथन मुख्यता की अपेक्षा है । पूर्वरंग में मुख्यरूप से विधिपरक कथन है और जीवाजीवाधिकार में मुख्यरूप से निषेधपरक कथन है । उक्त कथन का यही आशय समझना चाहिए ।

---

१. समयसार कलश, कलश ३३वें की टीका

यह तो स्पष्ट किया ही जा चुका है कि समयसार को यहाँ नाटक के रूप में प्रस्तुत किया गया है। अतः अधिकार के आरंभ में ही आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि 'अब जीव और अजीव – ये दोनों द्रव्य एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं ।'

यद्यपि जीव और अजीव हैं तो भिन्न-भिन्न ही, तथापि वे अनादि से एक साथ हैं, एकक्षेत्रावगाही हैं; अतः अज्ञानीजनों को एक ही लगते हैं । इस बात को ही यहाँ नाटक के रूप में – इस रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानों वे दोनों एक होने का स्वांग बनाकर रंगमंच (स्टेज) पर आये हैं ।

इस अधिकार में मूल गाथाएँ आरंभ करने के पूर्व आत्मख्यातिकार आचार्य अमृतचन्द्र मंगलाचरण के रूप में एक छन्द लिखते हैं; जिसमें वे उस ज्ञान की महिमा गाते हैं; जो ज्ञान जीव और अजीव के इस भेद को जान लेता है।

उक्त बात को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छावड़ा मंगलाचरण के छन्द के भावार्थ में लिखते हैं –

"यह ज्ञान की महिमा कही। जीव-अजीव एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं, उन्हें यह ज्ञान ही भिन्न जानता है । जैसे नृत्य में कोई स्वांग धरकर आये और उसे जो यथार्थरूप में जान ले, पहिचान ले तो वह स्वांगकर्ता उसे नमस्कार करके अपने रूप को जैसा का तैसा ही कर लेता है; उसीप्रकार यहाँ समझना। ऐसा ज्ञान सम्यग्दृष्टि पुरुषों को होता है, मिथ्यादृष्टि इस भेद को नहीं जानते ।"

मंगलाचरण का वह छन्द इसप्रकार है :–

(शार्दूलविक्रीड़ित)

जीवाजीवविवेकपुष्कलदृशा प्रत्याययत्पार्षदान् ।
आसंसारनिबद्धबंधन विधिध्वंसाद्विशुद्धं स्फुटत् ॥
आत्मारामममनन्तधाम महसाध्यक्षेण नित्योदितं ।
धीरोदात्तमनाकुलं विलसति ज्ञानं मनोह्लादयत् ॥३३॥

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से है पुष्ट जो,
ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता ॥
जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता ।
ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥ ३३॥

इस नाटक के रंगमंच पर उदित यह ज्ञान मन को आनंदित करता हुआ सुशोभित हो रहा है। यह ज्ञान जीव और अजीव के बीच भेदविज्ञान करानेवाली उज्ज्वल निर्दोष दृष्टि से जीव और अजीव की भिन्नता को स्वयं भी भली-भाँति जानता है और इस नाटक को देखनेवाले सभासदों को भी दिखाता है, उन्हें इनकी भिन्नता की प्रतीति उत्पन्न कराता है । अनादि संसार से दृढ़ बंधन में बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों का नाश करके जो विशुद्ध हुआ है, स्फुट हुआ है, कली के समान विकसित हुआ है और जो सदा अपने आत्मारूपी बाग में, वन में ही रमण करता है। यद्यपि उसमें अनन्त ज्ञेयों के आकार झलकते हैं, तथापि जो उनमें नहीं रमता, अपने स्वरूप में ही रमता है, उस ज्ञान का प्रकाश अनन्त है और वह प्रत्यक्ष तेज से नित्य उदयरूप है। वह ज्ञान धीर है, उदात्त है, धीरोदात्त है, अनाकुल है और मन को आनंदित करता हुआ सुशोभित है, विलास कर रहा है ।

इस नाटक समयसार का खलनायक मोह है, मिथ्यात्व है, अज्ञान है और उस मोह को, मिथ्यात्व को, अज्ञान को नाश करनेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान, केवलज्ञान धीरोदात्त नायक है; जो नित्य उदयरूप है और अनाकुल है । यही कारण है कि इस मंगलाचरण के छन्द में उसे ही स्मरण किया गया है ।

प्रश्न – आपने कहा कि ज्ञान धीरोदात्त नायक है। यह धीरोदात्त नायक क्या होता है, कैसा होता है ? नायक कितने प्रकार के होते हैं और कौन-कौन से ?

उत्तर – भाई, यह सब काव्यशास्त्र का विषय है। इन बातों को विस्तार से जानने के लिए काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए ।

प्रश्न – यह तो ठीक, पर प्रत्येक आत्मार्थी तो काव्यशास्त्र का अध्ययन कर नहीं सकता है। अतः संक्षेप में यहाँ भी समझाइये न, जिससे हम समयसार की नाटकीयता को भी थोड़ी-बहुत समझ सकें ।

उत्तर – काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य विश्वनाथ के प्रसिद्ध ग्रन्थराज साहित्यदर्पण में नायक के स्वरूप व भेदों को इसप्रकार स्पष्ट किया गया है-

"त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजो वैदग्ध्यशीलवान नेता ॥
धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥
अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।
स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥
मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः ।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥
निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।
सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् ॥"[1]

त्यागी, कृतज्ञ, कुलीन, लक्ष्मीवान, लोगों के अनुराग का पात्र; रूप, यौवन और उत्साह से युक्त; तेजस्वी, चतुर और शीलवान पुरुष काव्यों और नाटकों का नायक होता है ।

धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त – ये नायक के प्रथम चार भेद हैं ।

क्षमाशील, अतिगंभीर स्वभाववाला, अपनी प्रशंसा नहीं करनेवाला, महासत्त्व अर्थात् हर्ष-शोकादि से अपने स्वभाव को नहीं बदलनेवाला, स्थिरप्रकृति, विनय से युक्त गौरववान, दृढ़व्रती, अपनी बात का पक्का और

---

१. महाकवि विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, श्लोक – ३० से ३४

आन-वानवाला पुरुष धीरोदात्त नायक कहलाता है। जैसे कि श्रीराम, युधिष्ठिर आदि ।

मायावी, प्रचण्ड, चपल, घमण्डी, शूर, अपनी प्रशंसा के पुल बांधनेवाला पुरुष धीरोद्धत्त नायक कहलाता है। जैसे – रावण, भीमसेन आदि ।

निश्चित, अतिकोमलस्वभाववाला, सदा नृत्य-गीतादि कलाओं में लीन पुरुष धीरललित नायक कहलाता है। जैसे – रत्नावली नाटिका में वत्सराज आदि ।

त्यागी, कृतज्ञ, कुलीन, सम्पन्न लोगों से सम्मान्य, तेजस्वी, चतुर और शीलवान संस्कारों से सम्पन्न द्विजादिक पुरुष धीरप्रशान्त नायक कहे जाते हैं। जैसे – भगवान महावीर, बुद्ध आदि ।''

इसीप्रकार के भाव महाकवि धनन्जय विरचित दशरूपक के द्वितीय प्रकाश में भी प्राप्त होते हैं ।

नायक के उक्त प्रकारों में धीरोदात्त नायक ही सर्वश्रेष्ठ नायक होता है। यद्यपि धीरप्रशान्त भी अच्छा ही होता है; पर उसकी प्रशान्तता उसे संघर्ष में प्रवृत्त नहीं होने देती। जब किसी संघर्ष में विजय प्राप्त करना हो तो वहाँ धीरोदात्तता ही बलवती सिद्ध होती है ।

धीर विशेषण तो चारों प्रकार के नायकों में सभी में पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि धीरता के बिना तो नायकपना संभव ही नहीं है। धैर्य तो अत्यन्त आवश्यक है; पर जिसमें धैर्य के साथ-साथ उदात्तता भी हो, उदारता भी हो; तो फिर उसका कहना ही क्या ?

यहाँ जिस ज्ञान का स्मरण किया गया है, वह ज्ञान इसीप्रकार का धीरोदात्त नायक है, वह धैर्य का धनी तो है ही और उदार भी है; क्योंकि अनन्त ज्ञेयों को जानने की उदारता और धैर्य उसमें है; पर वह उनमें अपनापन स्थापित नहीं करता, उनका स्वामी नहीं बनता ।

जिसप्रकार कोई राजा शत्रु के आक्रमण को धैर्य से झेले और उसे पराजित करके भी उसका राज्य उदारतापूर्वक उसे ही लौटा दे, उसे मित्र बना ले तो

वह धीरता और उदारता दोनों का ही परिचय देता है। ऐसा नायक धीरोदात्त कहलाता है। ज्ञान अनंत ज्ञेयों को बड़े धैर्य से देखता-जानता है; पर उनमें जमता-रमता नहीं, उनका स्वामी नहीं बनता, उन्हें अपनी सम्पत्ति नहीं मानता। यह उसकी उदारता है ।

अनन्त ज्ञेयों को जानने पर भी उसे कोई आकुलता नहीं होती। अतः वह अनाकुल भी है। वह तो सदा ही अपने आत्मारूपी बाग में ही रमण करता रहता है; क्योंकि उसने अपनी वीरता से धीरता से सभी शत्रुओं को पराजित कर उन्हें भी अनुकूल बना लिया है। अतः अब उसे आकुलता का कोई कारण शेष नहीं रहा है ।

जो आक्रमण करने में सक्षम होता है, उसे वीर कहते हैं और जो आक्रमण झेलने में समर्थ होता है, उसे धीर कहते हैं। आक्रमण करने से अधिक आवश्यकता आक्रमण झेलने की है; क्योंकि यदि आक्रमण को झेलने की क्षमता न हो तो आक्रमण करने का अवसर ही प्राप्त न हो सकेगा। अतः प्रत्येक नायक वीर तो होता ही है, उसका धीर होना भी अत्यन्त आवश्यक है। जिसमें धीरता नहीं होगी, वह अनाकुल नहीं रह सकता ।

वीरता और धीरता के साथ जब उदारता भी होती है तो फिर सोने में सुगंधी जैसी बात हो जाती है ।

इस समयसार नाटक का नायक ज्ञान धीर है, वीर है, अनाकुल है और उदार भी है; अतः सर्वश्रेष्ठ है, धीरोदात्त है ।

न केवल इसी अधिकार में, अपितु प्रत्येक अधिकार के आरम्भ में आत्मख्यातिकार अमृतचन्द्र ने धीर-वीर ज्ञान की महिमा गा कर ही मंगलाचरण किया है । अन्तर मात्र इतना ही होगा कि यहाँ जीवाजीवाधिकार होने से जीव और अजीव में भेद बतानेवाले ज्ञान को स्मरण किया गया है तो अन्य अधिकारों में तत्संबंधी अज्ञान का नाश करनेवाले ज्ञान को स्मरण किया जायगा । ज्ञान तो वही है, मात्र विशेषणों का अन्तर पड़ेगा ।

कविवर पंडित बनारसीदासजी समयसार नाटक में मंगलचारण के रूप इस छन्द का भावानुवाद इसप्रकार करते हैं –

(सवैया इकतीसा)

"परम प्रतीति उपजाय गनधर की सी,
अंतर-अनादि की विभावता विदारी है ।
भेदग्यान दृष्टि सौं विवेक की सकति साधि,
चेतन-अचेतन की दसा निरवारी है ॥
करम कौ नास करि अनुभौ अभ्यास धरि,
हिय मैं हरखि निज सुद्धता संभारी है ।
अन्तराय नास भयो सुद्ध परकास भयो,
ग्यान कौ विलास ताकौं वंदना हमारी है ॥

जिस ज्ञान के विलास ने, उल्लास ने, परिणमन ने; गणधरदेव के समान उत्कृष्ट श्रद्धान उत्पन्न करके अनादिकालीन आन्तरिक विभावभाव को विदीर्ण किया है, मिथ्यात्व का नाश किया है; भेदज्ञान की दृष्टि से विवेक की शक्ति को साधकर चेतन और अचेतन में हुई अनादिकालीन एकत्व की दशा का निवारण किया है, उन्हें भिन्न-भिन्न जाना है; उसके बाद अनुभव के अभ्यास द्वारा कर्मों का नाश करके हर्षित हृदय से अपनी शुद्धता की संभाल की है; जिससे अन्तरायकर्म का नाश हुआ, शुद्ध आत्मा का प्रकाश हुआ अर्थात् केवलज्ञान हुआ, अतीन्द्रिय आनन्द का विलास हुआ; ज्ञान के उस विलास को, ज्ञान के उस उल्लास को, उल्लसित परिणमन को मेरा बारम्बार नमस्कार हो ।"

इसप्रकार ज्ञान को नमस्कार कर, स्मरण कर अब जीव और अजीव किसप्रकार एक होकर रंगभूमि में प्रवेश करते हैं – इस बात को गाथाओं द्वारा स्पष्ट करते हैं। तात्पर्य यह है कि अज्ञानी जीव किसप्रकार आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानकर परपुद्गल को ही आत्मा मान लेते हैं – यह बात पाँच गाथाओं द्वारा बता रहे हैं ।

•

समयसार गाथा – ३९ से ४३

अप्पाणमयाणंता मूढा दु परप्पवादिणो केई ।
जीवं अज्झवसाणं कम्मं च तहा परूवेंति ॥ ३९ ॥

अवरे अज्झवसाणेसु तिव्वमंदाणुभागगं जीवं ।
मण्णंति तहा अवरे णोकम्मं चावि जीवो त्ति ॥ ४० ॥

कम्मस्सुदयं जीवं अवरे कम्माणुभागमिच्छंति ।
तिव्वत्तणमंदत्तणगुणेहिं जो सो हवदि जीवो ॥ ४१ ॥

जीवो कम्मं उहयं दोण्णि वि खलु केइ जीवमिच्छंति ।
अवरे संजोगेण दु कम्माणं जीवमिच्छंति ॥ ४२ ॥

एवंविहा बहुविहा परमप्पाणं वदंति दुम्मेहा ।
ते ण परमट्ठवादी णिच्छयवादीहिं णिद्दिट्ठा ॥ ४३ ॥

(हरिगीत)

परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जाने नहीं ।
अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें ॥ ३९ ॥

अध्यवसानगत जो तीव्रता या मंदता वह जीव है ।
पर अन्य कोई यह कहे नोकर्म ही बस जीव है ॥ ४० ॥

मन्द अथवा तीव्रतम जो कर्म का अनुभाग है ।
वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है ॥ ४१ ॥

द्रव कर्म का अर जीव का सम्मिलन ही बस जीव है ।
अथवा कहे कोइ करम का संयोग ही बस जीव है ॥ ४२ ॥

बस इसतरह दुर्बुद्धिजन परवस्तु को आतम कहें ।
परमार्थवादी वे नहीं परमार्थवादी यह कहें ॥ ४३ ॥

आत्मा को नहीं जाननेवाले पर को ही आत्मा माननेवाले कई मूढ़ लोग तो अध्यवसान को और कर्म को जीव कहते हैं ।

अन्य कोई लोग तीव्र-मन्द अनुभागगत अध्यवसानों को जीव मानते हैं; दूसरे कोई नोकर्म को जीव मानते हैं ।

अन्य कोई कर्म के उदय को जीव मानते हैं और कोई तीव्र-मंदतारूप गुणों से भेद को प्राप्त कर्म के अनुभाग को जीव इच्छते हैं, मानते हैं ।

अन्य कोई जीव और कर्म - दोनों के मिले रूप को जीव मानते हैं और कोई अन्य कर्म के संयोग को ही जीव मानते हैं ।

इसप्रकार के तथा अन्य भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि, मिथ्यादृष्टि जीव पर को आत्मा कहते हैं। वे सभी परमार्थवादी, सत्यार्थवादी, सत्य बोलनेवाले नहीं हैं - ऐसा निश्चयवादियों ने, सत्यार्थवादियों ने, सत्यबोलनेवालों ने कहा है ।

तात्पर्य यह है कि अध्यवसान, कर्म (भावकर्म), अध्यवसानसंतति, शरीर, शुभाशुभभाव, सुख-दुःखादि कर्मविपाक, आत्मकर्मोभय और कर्मसंयोग को जीव कहनेवाले परमार्थवादी नहीं है; क्योंकि इनमें से कोई भी जीव नहीं हैं ।

उक्त गाथाओं के भाव को पंडित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट कहते हैं -

"जीव-अजीव दोनों अनादिकाल से एक क्षेत्रावगाहसंयोगरूप से मिले हुए हैं और अनादिकाल से ही पुद्गल के संयोग से जीव की अनेक विकारसहित अवस्थायें हो रही हैं। परमार्थदृष्टि से देखने पर, जीव तो अपने चैतन्यत्व आदि भावों को नहीं छोड़ता और पुद्गल अपने मूर्तिक जड़त्व आदि को नहीं छोड़ता। परन्तु जो परमार्थ को नहीं जानते, वे संयोग से हुये भावों को ही जीव कहते हैं, क्योंकि पुद्गल से भिन्न परमार्थ से जीव का स्वरूप सर्वज्ञ को दिखाई देता है तथा सर्वज्ञ की परम्परा के आगम से जाना जा सकता है। इसलिये जिनके मत में सर्वज्ञ नहीं है, वे अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके कहते हैं ।

उनमें से वेदान्ती, मीमांसक, सांख्य, योग, बौद्ध, नैयायिक, वैशेषिक, चार्वाक आदि मतों के आशय लेकर आठ प्रकार तो प्रगट कहे हैं और अन्य भी अपनी-अपनी बुद्धि से अनेक कल्पनायें करके अनेक प्रकार से कहते हैं तो उन्हें कहां तक कहा जाये ?"

भारतवर्ष में मुख्यरूप से नौ दर्शन प्रसिद्ध हैं, उनमें आठ दर्शन तो वे ही हैं, जिनकी चर्चा जयचंदजी ने भावार्थ में की है और नौवाँ दर्शन जैनदर्शन है। उक्त आठ दर्शनों में जो जीव का स्वरूप बताया गया है, वह ठीक नहीं है – यही बात स्पष्ट करने का प्रयास उक्त गाथाओं में किया गया है ।

यदि ऐसा है तो फिर जीव का वास्तविक स्वरूप क्या है अथवा जैनदर्शन में जीव का वास्तविक स्वरूप कैसा बताया गया है ? – यह बात आगामी गाथाओं में यथावसर स्पष्ट करेंगे ।

जिन आठ प्रकार की मान्यताओं का उल्लेख उक्त गाथाओं में किया गया है; उनमें से कौन-सी मान्यता किस मत की है अथवा किस मत के अनुकूल है, नजदीक है; इस बात को सहजानन्दजी (मनोहरलालजी) वर्णी अपनी सप्तदशांगी टीका की इसी गाथा के तथ्यप्रकाश शीर्षक में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"(१) वेदान्तादिसम्मत जैसा नैसर्गिक राग-द्वेष कलुषित अध्यवसान जीव नहीं है।

(२) मीमांसकादिसम्मत जैसा संसरणक्रियाविलसित कर्म जीव नहीं है।

(३) सांख्यादिसम्मत जैसा अध्यवसानसंतान जीव नहीं है।

(४) वैशेषिकादिसम्मत जैसा नवीन-नवीन दशा में प्रवर्तमान शरीर ही जीव हो – ऐसा नहीं है।

(५) बौद्धादिसम्मत जैसा क्षणिक शुभ-अशुभभाव ही जीव हो – ऐसा नहीं है।

(६) योगादिसम्मत जैसा सुख-दुख मात्र ही जीव हो – ऐसा नहीं है।

(७) नैयायिकादिसम्मत जैसा आत्मकर्मोभय जीव हो – ऐसा नहीं है।

(८) चार्वाकादिसम्मत जैसा कर्मादि के संयोगमात्र जीव हो – ऐसा नहीं है ।"

जयचंदजी के भावार्थ एवं वर्णीजी के तथ्यप्रकाश में जिन आठ मतों का उल्लेख है; उनका स्पष्ट उल्लेख न तो मूल गाथाओं में है और न आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका में ही है। आचार्य जयसेन कृत तात्पर्यवृत्ति में भी मात्र चार्वाक का उल्लेख है, अन्य किसी का उल्लेख नहीं है ।

उक्त बात की ओर ध्यान दिलाने का आशय यह कदापि नहीं है कि उक्त बात में दम नहीं है; क्योंकि मतार्थ की दृष्टि से अर्थ करने पर उक्त अर्थ प्रतिफलित होते ही हैं और अर्थ करने की पाँच विधियों में एक मतार्थ भी है।

इस बात की ओर ध्यान दिलाने का मूल प्रयोजन तो मात्र यह है कि हम जैनों में भी उक्त प्रकार की मान्यताओं की ओर झुकाववाले लोग पाये जाते हैं।

इसप्रकार के शिष्यों को समझाने के लिए ही आचार्यदेव ने ये गाथाएं लिखी हैं। अतः यदि हमारे अभिप्राय में भी इसप्रकार की कोई मान्यता छुपी हो तो हमें भी इन गाथाओं के माध्यम से उसका परिमार्जन कर लेना चाहिए। ये बातें तो अन्य मत के खण्डन के लिए हैं – ऐसा सोचकर इनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है ।

प्रश्न – आपने कहा कि अर्थ करने की पाँच विधियाँ हैं। वे कौन-कौन-सी हैं ? उनको भी संक्षेप में समझाइये न ? इनकी चर्चा कहीं आगम में भी आती है क्या ?

उत्तर – शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, भावार्थ – ये अर्थ करने की पाँच विधियाँ हैं। इनमें शब्दों का व्युत्पत्तिपरक अर्थ करना शब्दार्थ है, यह किस नय का कथन है – यह स्पष्ट करना नयार्थ है, यह कथन किस मत को लक्ष्य में रखकर किया गया है – यह मतार्थ है, यह कथन आगमानुकूल है, आगम के इस कथन से सिद्ध है – ऐसा प्रतिपादन करना आगमार्थ है और कथन का तात्पर्य स्पष्ट करना भावार्थ है ।

परमात्मप्रकाश की बृह्मदेवकृत संस्कृतवृत्ति में मंगलाचरण की पहली गाथा का अर्थ पाँचों विधियों से करने के उपरान्त अन्त में जो निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है, उससे इनका आशय स्पष्ट हो जाता है। वह मूलतः इसप्रकार है –

"एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः बौद्धादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः, एवं गुणविशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः अत्र नित्यनिरंजन ज्ञानमयरूपं परमात्मद्रव्यगुणादेयमिति भावार्थः । अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागमभावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यः इति ।

इसप्रकार पदखण्डनारूप शब्दार्थ कहा और नयविभागरूप नयार्थ भी कहा तथा बौद्ध, नैयायिक, सांख्यादि मत के कथन करने से मतार्थ कहा; इसप्रकार अनन्तगुणात्मक सिद्ध परमेष्ठी संसार से मुक्त हुए हैं – यह सिद्धान्त का अर्थ प्रसिद्ध ही है, यही आगमार्थ है; और नित्य, निरंजन, ज्ञानमयी परमात्मद्रव्य उपादेय है – यह भावार्थ है ।

व्याख्यान के अवसर पर यथासंभव सर्वत्र ही इसीप्रकार शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थ जान लेना चाहिए ।''

इसीप्रकार का भाव पंचास्तिकाय के मंगलाचरण की पहली गाथा की तात्पर्यवृत्ति टीका में आचार्य जयसेन ने भी व्यक्त किया है ।

समयसार की इन ३९ से ४३ तक की गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

''इस लोक में आत्मा का असाधारण लक्षण न जानने के कारण नपुंसकता से, पुरुषार्थहीनता से अत्यन्त विमूढ़ होते हुए, तात्विक आत्मा को न जाननेवाले बहुत से अज्ञानीजन अनेक प्रकार से पर को ही आत्मा कहते हैं, बकते हैं। उनमें कुछ मुख्य इसप्रकार हैं –

(१) कोई तो ऐसा कहते हैं कि नैसर्गिक (स्वयं से ही उत्पन्न हुए – स्वाभाविक) राग-द्वेष द्वारा मलिन अध्यवसान (मिथ्या-अभिप्राय सहित विभाव परिणाम) ही जीव है; क्योंकि जिसप्रकार कालेपन से भिन्न कोई कोयला दिखाई नहीं देता, उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य कोई आत्मा दिखाई नहीं देता ।

(२) कोई कहते हैं कि अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है – ऐसी एक संसरण (भ्रमण) रूप जो क्रिया है, उस रूप से क्रीड़ा करता हुआ कर्म ही जीव है; क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(३) कोई कहते हैं कि तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त (जिसका अन्त दूर है – ऐसे) रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति ही जीव है; क्योंकि उससे भिन्न अन्य कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(४) कोई कहता है कि नई एवं पुरानी अवस्था आदि भाव से प्रवर्तमान नोकर्म (शरीर) ही जीव है; क्योंकि शरीर से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(५) कोई कहते हैं कि समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्म का विपाक ही जीव है; क्योंकि शुभाशुभ भाव से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(६) कोई कहते हैं कि साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्र-मंदत्वगुणों से भेदरूप होने वाला कर्म का अनुभव ही जीव है; क्योंकि सुख-दुःख से अन्य अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(७) कोई कहते हैं कि श्रीखण्ड की भाँति उभयरूप मिले हुए आत्मा और कर्म - दोनों ही मिलकर जीव है; क्योंकि सम्पूर्णतः कर्मों से भिन्न कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

(८) कोई कहते हैं कि अर्थक्रिया (प्रयोजनभूत क्रिया) में समर्थ कर्मसंयोग ही जीव है; क्योंकि जिसप्रकार आठ लकड़ियों के संयोग से भिन्न अलग कोई पलंग दिखाई नहीं देता; उसीप्रकार कर्मों के संयोग से भिन्न अलग कोई जीव दिखाई नहीं देता ।

- इसप्रकार आठ प्रकार तो यहाँ कहे ही हैं; परन्तु पर को आत्मा माननेवाले दुर्बुद्धि मात्र इतने ही नहीं हैं; और भी अनेक प्रकार के दुर्बुद्धि जगत में हैं, जो पर को ही आत्मा मानते हैं; किन्तु वे सब परमार्थवादी नहीं हैं, सत्यार्थवादी नहीं हैं, सत्य बोलनेवाले नहीं हैं - ऐसा परमार्थवादी कहते हैं, निश्चयनय के जानकर कहते हैं, सर्वज्ञ परमात्मा कहते हैं ।"

उक्त कथन में जिन आठ प्रकार के पदार्थों या भावों को जीव कहा गया है; उन्हें जीव मानने में एक ही तर्क दिया गया है कि उनसे भिन्न अन्य कोई जीव उन्हें दिखाई नहीं देता; और यह तर्क भी उनके स्वयं के अनुभव के आधार पर ही प्रतिष्ठित है ।

आगामी गाथा में उनकी इस मान्यता पर सतर्क विचार किया जायेगा ।

समयसार गाथा – ४४

३९ से ४३वीं गाथा तक जिन आठ प्रकार के मिथ्यावादियों की चर्चा की गई है, वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं; उनके द्वारा माना गया आत्मा का स्वरूप सच्चा क्यों नहीं है ? इस प्रश्न के उत्तर में ४४वीं गाथा का जन्म हुआ है; क्योंकि उक्त गाथाओं में परात्मवादियों की मान्यता पर तो प्रकाश डाला गया है और यह भी कहा गया है कि वे सत्यार्थवादी नहीं हैं, पर यह नहीं बताया गया है कि वे सत्यार्थवादी क्यों नहीं हैं ? अत: यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है ।

इसी प्रश्न का समाधान यह ४४वीं गाथा करती है, जो इसप्रकार है –

एदे सव्वे भावा पोग्गलदव्वपरिणामणिप्पण्णा ।
केवलिजिणेहिं भणिया कह ते जीवो त्ति वुच्चंति ॥

(हरिगीत)

ये भाव सब पुद्‌गल दरव परिणाम से निष्पन्न हैं ।
यह कहा है जिनदेव ने 'ये जीव हैं' कैसे कहें ?

ये पूर्वकथित अध्यवसान आदि सभी भाव पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम से उत्पन्न हुए हैं – ऐसा केवली भगवान ने कहा है; अत: उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है ?

उक्त गाथा में सर्वज्ञ परमात्मा की दुहाई देकर यह बात कही गई है कि इन्हें सर्वज्ञ भगवान और उनका आगम पौद्‌गलिक कहता है; अत: उन्हें जीव कैसे माना जा सकता है ?

गाथा में तो मात्र सर्वज्ञ कथित आगम की बात कही है, पर आचार्य अमृतचन्द्र आगम के साथ युक्ति और अनुभव की बात भी करते हैं। वे कहते हैं कि इन्हें जीव मानना न केवल आगम से ही बाधित है, अपितु युक्ति और अनुभव से भी यह बात सिद्ध होती है कि उक्त आठों प्रकार की मान्यतायें असत्य हैं ।

वे अपनी बात को विस्तार से स्पष्ट करते हैं; जो इसप्रकार है –

"विश्व के समस्त पदार्थों को साक्षात् देखनेवाले वीतरागी सर्वज्ञ अरिहंत परमात्मा द्वारा ये समस्त अध्यवसानादिभाव पुद्गलद्रव्य के परिणाममय कहे गये हैं। अतः वे चैतन्यस्वभावमय जीवद्रव्य होने में समर्थ नहीं हैं। चूँकि जीवद्रव्य को चैतन्यस्वभाव से शून्य पुद्गलद्रव्य से भिन्न कहा गया है; इसलिए जो इन अध्यवसानादि को जीव कहते हैं; वे वस्तुतः परमार्थवादी नहीं हैं; क्योंकि उनका पक्ष आगम, युक्ति और स्वानुभव से बाधित है ।

'वे जीव नहीं हैं' – ऐसा जो सर्वज्ञ का वचन, वह तो आगम है और यह (निम्नांकित) स्वानुभवगर्भित युक्ति है ।

(१) नैसर्गिक (स्वयं से ही उत्पन्न हुए – स्वाभाविक) राग-द्वेष से मलिन अध्यवसान जीव नहीं हैं; क्योंकि जिसप्रकार कालेपन से भिन्न सुवर्ण सभी को दिखाई देता है; उसीप्रकार अध्यवसान से भिन्न अन्य चित्स्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(२) अनादि जिसका पूर्व अवयव है और अनन्त जिसका भविष्य का अवयव है – ऐसी एक संसरणरूप क्रिया के रूप में क्रीड़ा करता हुआ कर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि कर्म से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।

(३) तीव्र-मंद अनुभव से भेदरूप होते हुए, दुरन्त रागरूप रस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति भी जीव नहीं है; क्योंकि उस संतति से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(४) नई-पुरानी अवस्थादिक के भेद से प्रवर्तमान नोकर्म जीव नहीं है; क्योंकि शरीर से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(५) समस्त जगत को पुण्य-पापरूप से व्याप्त करता हुआ कर्मविपाक भी जीव नहीं है; क्योंकि शुभाशुभभाव से अन्य पृथक् चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(६) साता-असातारूप से व्याप्त समस्त तीव्रता-मंदतारूप गुणों के द्वारा भेदरूप होनेवाला कर्म का अनुभव भी जीव नहीं है; क्योंकि सुख-दुःख से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(७) श्रीखण्ड की भाँति उभयात्मकरूप से मिले हुए आत्मा और कर्म - दोनों मिलकर भी जीव नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण कर्मों से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

(८) अर्थक्रिया में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि आठ लकड़ियों के संयोग से बने पलंग से भिन्न पलंग पर सोनेवाले पुरुष की भाँति, कर्मसंयोग से भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों के द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं।"

इसप्रकार आठ प्रकार की गलत मान्यताओं के निराकरण की बात तो यहाँ स्वानुभवगर्भित युक्ति से कही है। इसीप्रकार की अन्य कोई मान्यतायें हों तो उनका भी निराकरण इसीप्रकार किया जा सकता है और किया जाना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि सर्व परभावों से भिन्न चैतन्यस्वभावी जीव भेदज्ञानियों के अनुभवगोचर है, अतः अज्ञानियों द्वारा कल्पित मान्यतायें ठीक नहीं हैं ।

प्रश्न – आपने तो कहा था कि यह स्वानुभवगर्भित युक्ति है; पर यहाँ तो आपने आठ युक्तियाँ दे डालीं। यदि आठ युक्तियाँ ही देनी थीं तो एक वचन का प्रयोग क्यों किया ? बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए था, ऐसा लिखना चाहिए था कि ये स्वानुभवगर्भित युक्तियाँ हैं ।

उत्तर – अरे, भाई ! युक्ति तो एक ही दी है; पर उससे आठ प्रकार की उल्टी मान्यताओं का निराकरण किया जाने से उसे ही आठ बार देना पड़ा है। आठों को एकसाथ मिलाकर बात करने पर एकबार कहने से भी काम चल सकता था ।

प्रश्न – यदि ऐसा है तो ऐसा ही क्यों नहीं किया ?

उत्तर – ऐसा करने पर लम्बा वाक्य हो जाने से समझने में कठिनाई होती है। सरलता से समझ में आ जावे; इसलिए इतना विस्तार किया है, पुनरावृत्ति की है, एक ही बात को आठ बार दुहराया है ।

प्रश्न – यदि पुनरावृत्ति नहीं करते तो वाक्य कैसा बनता ? बनाकर बताइये न ?

उत्तर – हाँ, हाँ; क्यों नहीं, बताते हैं ।

स्वयं उत्पन्न हुए राग-द्वेषरूप अध्यवसान जीव नहीं हैं, अनादि-अनंत संसरणरूप क्रिया में क्रीड़ा करता हुआ कर्म जीव नहीं है, रागरस से भरे हुए अध्यवसानों की संतति जीव नहीं है, नोकर्मरूप शरीर जीव नहीं है, शुभाशुभभावरूप कर्मविपाक जीव नहीं है, तीव्रता-मंदता और सुख-दुःखरूप कर्म का अनुभव जीव नहीं है, आत्मा और कर्म की मिलावट जीव नहीं है और अर्थक्रिया करने में समर्थ कर्म का संयोग भी जीव नहीं है; क्योंकि इन सबसे भिन्न अन्य चैतन्यस्वभावरूप जीव भेदज्ञानियों द्वारा स्वयं उपलभ्यमान है अर्थात् वे स्वयं उसका प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं ।

प्रश्न – एक ही युक्ति से आठों प्रकार की गलत मान्यताओं का निराकरण कैसे हो गया ?

उत्तर – क्योंकि सभी लोगों ने अपनी बात सिद्ध करने के लिए आखिर एक ही युक्ति तो दी थी कि अध्यवसान ही जीव है, क्योंकि अध्यवसान से भिन्न कोई अन्य जीव दिखाई नहीं देता; कर्म ही जीव है, क्योंकि कर्म से भिन्न कोई अन्य जीव दिखाई नहीं देता; नोकर्म (शरीर) ही जीव है, क्योंकि शरीर से भिन्न कोई अन्य जीव दिखाई नहीं देता ।

इसीप्रकार आठों पर घटित करके देख सकते हैं। 'दिखाई नहीं देने' की एक ही युक्ति सभी ने दी तो 'भेदज्ञानियों को प्रत्यक्ष अनुभव में आता है, दिखाई देता है' – इस एक ही युक्ति से सभी धराशायी हो गये ।

सीधी-सच्ची बात यह है कि इन समस्त परपदार्थों से भिन्न भगवान आत्मा भेदज्ञानियों के अनुभव में आता है और सर्वज्ञ भगवान की वाणी में भी आया है। अतः सर्वप्रकार के विवादों से परे होकर उसका सही स्वरूप समझकर उसी का अनुभव करने का प्रयास किया जाना चाहिए।

प्रश्न – 'आठ प्रकार के भाव जीव नहीं हैं' – यह सिद्ध करने के लिए आपने भी स्वानुभवगर्भित युक्ति दी है और उन्होंने भी उन भावों को जीव सिद्ध करने में स्वानुभवगर्भित युक्ति दी है। दोनों में ऐसा क्या अन्तर है कि आपकी स्वानुभवगर्भित युक्ति तो स्वीकार की जावे और उनकी नहीं ?

उत्तर – अरे, भाई ! आचार्यदेव ने तो भेदज्ञानियों के अनुभव को आधार बनाया है और साथ में सर्वज्ञभगवान की भी साक्षी दी है, आगम को आधार बनाया है। क्या अज्ञानियों के अनुभव और भेदज्ञानियों के अनुभव को एक श्रेणी में रखा जा सकता है ? इसीप्रकार क्या सर्वज्ञकथित आगम की उपेक्षा की जा सकती है ?

दूसरी बात यह है कि 'दिखाई नहीं देनेवाली' युक्ति से 'दिखाई देनेवाली' युक्ति अधिक प्रबल होती है; क्योंकि ऐसा तो संभव है कि कोई वस्तु हो और वह हमें दिखाई न दे, पर ऐसा संभव नहीं होता कि कोई वस्तु न हो और वह दिखाई दे जावे ।

अतः अब तो आपको ही निर्णय करना है कि सर्वज्ञ की वाणीरूप आगम और भेदज्ञानियों के अनुभव को प्रमाण मानना कि अन्य अज्ञानियों के अनुभव को प्रमाण मानना ।

प्रश्न – ये आठ प्रकार की मान्यतायें तो अन्य मतवालों की हैं। वे लोग न आपके सर्वज्ञकथित आगम को ही मानते हैं और न आपके द्वारा माने गये

भेदज्ञानियों के अनुभव को ही स्वीकार करते हैं। अतः उनके सामने अपने आगम और भेदज्ञानियों के अनुभव की दुहाई देने से क्या लाभ है ?

उत्तर – अरे, भाई ! यह बात तो हम पहले ही स्पष्ट कर चुके हैं कि मतार्थ की दृष्टि से भले ही इस कथन से अन्यमतकल्पित मान्यताओं का खण्डन हो जाता है; पर आचार्यदेव ने यह कथन किसी अन्य मत के खण्डन के लिए नहीं किया है; उनका मूल उद्देश्य तो अपने शिष्यों में पाई जाने वाली इसप्रकार की भूलों का परिमार्जन करना ही रहा है ।

यही कारण है कि वे सर्वज्ञकथित आगम और भेदज्ञानियों के अनुभव से गर्भित युक्ति का सहारा लेते हैं; क्योंकि वे जानते हैं कि ये शिष्यगण सर्वज्ञकथित आगम को भी प्रमाण मानते हैं और इन्हें भेदज्ञानियों के अनुभव पर भी पूरा भरोसा है। उनके इस प्रतिपादन की विधि से ही यह स्पष्ट है कि वे इस कथन के माध्यम से अपने शिष्यों को ही सुधारना चाहते हैं, अन्यमतवालों को नहीं ।

अतः अन्य विकल्पों से विराम लेकर सर्वज्ञकथित और भेदज्ञानियों द्वारा अनुभूत आत्मा को जानकर आत्मकल्याण में प्रवृत्त होना चाहिए ।

उक्त आठ प्रकार की मान्यताओं में जिन्हें जीव माना जाता है, उनमें मुख्यरूप से द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म ही आते हैं; क्योंकि इन तीनों में पुद्गलमय शरीर, पौद्गलिक कर्म और उनके उदय में होनेवाले सभी औदयिकभाव – शुभाशुभभाव, सांसारिक सुख-दुःख, जीव और कर्म का संयोग आदि सभी आ जाते हैं ।

यद्यपि इन सभी को परमागमरूप अध्यात्म में पुद्गल ही कहा है; तथापि अज्ञानीजन इनमें से ही किसी न किसी को जीव मान लेते हैं; क्योंकि इनसे भिन्न कोई ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान आत्मा उन्हें दिखाई नहीं देता और न वे उसे सर्वज्ञकथित आगम के आधार पर ही स्वीकार कर पाते हैं ।

यही कारण है कि इस ४४वीं गाथा में उन्हें सर्वज्ञकथित आगम और भेदज्ञानियों के स्वानुभव से गर्भित प्रवलयुक्ति के माध्यम से समझाने का प्रयास किया गया है ।

पुद्गल से भिन्न आत्मा की उपलब्धि के प्रति विवाद करनेवालों, विरोध करनेवालों, पुद्गल को ही आत्मा माननेवालों को सर्वज्ञवचनरूप आगम और स्वानुभवगर्भित युक्तियों से समझाकर अव समताभाव से मिठासपूर्वक समझाते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आगामी कलश में कहते हैं कि अव इस तर्क-वितर्क के जाल से विराम लेकर, इस अकार्य कोलाहल से विराम लेकर छहमाह तक पुद्गल से भिन्न निज भगवान आत्मा को प्राप्त करने का उद्यम करो तो तुम्हें भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी ।

आत्मानुभव की प्रेरणा देनेवाला वह कलश मूलतः इसप्रकार है –

(मालिनी)

विरम किमपरेणाकार्यकोलाहलेन
स्वयमपि निभृतः सन् पश्य षण्मासमेकम् ।
हृदयसरसि पुंसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्नो
ननु किमनुपलब्धिर्भाति किंचोपलब्धिः ॥३४॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के वकवाद से ।
अव तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से ॥
यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना ।
तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना ॥३४॥

हे भव्य ! हे भाई !! अन्य व्यर्थ के कोलाहल करने से क्या लाभ है? अतः हे भाई ! तू इस अकार्य कोलाहल से विराम ले, इसे वन्द करदे और जगत से निवृत्त होकर एक चैतन्यमात्र वस्तु को निश्चल होकर देख। ऐसा छहमास तक करके तो देख। तुझे अपने ही हृदय सरोवर में पुद्गल से भिन्न

तेजवंत प्रकाशपुंज भगवान आत्मा की प्राप्ति होती है या नहीं ? तात्पर्य यह है कि ऐसा करने से तुझे भगवान आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी ।

समयसार नाटक में कविवर पण्डित बनारसीदासजी ने उक्त छन्द के भाव को बड़े ही मार्मिक एवं प्रेरणास्पद शब्दों में प्रस्तुत किया है, जो इसप्रकार है –

(सवैया इकतीसा)

"भैया जगवासी तू उदासी ह्वैकैं जगत सौं,
एक छ महीना उपदेश मेरौ मानु रे ।
और संकलप विकलप के विकार तजि,
बैठिकैं एकन्त मन एक ठौरु आनु रे ॥
तेरौ घट सर तामैं तू ही है कमल ताकौ,
तू ही मधुकर ह्वै सुवास पहिचानु रे ।
प्रापति न ह्वै है कछु ऐसौ तू विचारतु है,
सही ह्वै है प्रापति सरूप यौं ही जानु रे ॥[१]

हे जगत के वासी भाइयो ! मेरा यह एक उपदेश तुम अवश्य ही स्वीकार करलो कि तुम जगत से उदास होकर एक छह महिने तक और सभी प्रकार के संकल्प-विकल्प छोड़कर, संकल्प-विकल्प के विकारों को छोड़कर, एकान्त में बैठकर अपने मन को एक आत्मा में लगा दो। मानो तुम्हारा यह शरीर ही तालाब है, शरीररूपी तालाब में तुम स्वयं कमल के स्थान पर हो और अब तुम ही मधुकर (भौंरा) बनकर, उस कमल की सुगंध को पहिचान लो ।

यदि तुम ऐसा सोचते हो कि इसप्रकार करने पर भी आत्मा की प्राप्ति नहीं होगी तो तुम्हारा यह विचारना सही नहीं है; क्योंकि वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। अतः ऐसा उद्यम करने पर तुझे आत्मा की प्राप्ति अवश्य ही होगी ।"

---

१. समयसार नाटक, अजीवद्वार, छन्द ३

आचार्य अमृतचन्द्र एवं कविवर बनारसीदासजी की बात को और अधिक बल प्रदान करते हुए पण्डित जयचंदजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"यदि अपने स्वरूप का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है; यदि परवस्तु हो तो उसकी तो प्राप्ति नहीं होती। अपना स्वरूप तो विद्यमान है, किन्तु उसे भूल रहा है; यदि सावधान होकर देखे तो वह अपने निकट ही है ।

यहाँ छहमास के अभ्यास की बात कही है – इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि इतना ही समय लगेगा। उसकी प्राप्ति तो अन्तर्मुहूर्त मात्र में ही हो सकती है, परन्तु यदि शिष्य को बहुत कठिन मालूम होता हो तो उसका निषेध किया है ।

यदि समझने में अधिक काल लगे तो छहमास से अधिक नहीं लगेगा। इसलिए यहाँ यह उपदेश दिया है कि अन्य निष्प्रयोजन कोलाहल का त्याग करके इसमें लग जाने से शीघ्र ही स्वरूप की प्राप्ति हो जावेगी – ऐसा उपदेश है ।"

'अभ्यास' शब्द का भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी लिखते हैं –

"चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती है। अन्तर्मुख होने का पुरुषार्थ करे और प्राप्ति न हो – ऐसा तीनकाल में भी नहीं हो सकता। यहाँ अभ्यास का अर्थ अकेला शास्त्रों को पढ़ना व सुनना मात्र नहीं है; किन्तु अभ्यास अर्थात् निज शुद्ध चैतन्य में एकाग्रता करने के पुरुषार्थ की बात है। भाई ! तू अपनी श्रद्धा में तो ले कि वस्तु ऐसी ही है। श्रद्धा में दूसरा कुछ लेगा तो आत्मा हाथ नहीं आयेगा, पुरुषार्थ अन्दर की ओर नहीं ढलेगा ।

ज़िसने राग की रुचि छोड़ी और स्वभाव की रुचि की, उसे स्वभाव की प्राप्ति न हो – ऐसा होता ही नहीं है। जो स्वरूप प्राप्त न हुआ हो तो यह समझना चाहिए कि अभी स्वभाव की तरफ के पुरुषार्थ में कुछ कमी है, त्रुटि है ।

हाँ, परवस्तु के प्रयत्न में – पुरुषार्थ में परवस्तु की प्राप्ति न हो तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि पर में तो पुरुषार्थ चलता ही नहीं है; परन्तु स्वरूप में पुरुषार्थपूर्वक अनुभव का अभ्यास करे तो उसकी प्राप्ति अवश्य होती ही है। आत्मा में वीर्य नाम का गुण है, उसका कार्य स्वरूप की ही रचना करना है। इसकारण अंतर्मुख होकर आत्मा में पुरुषार्थ करने पर स्वरूप की रचना निर्मल होती ही है, इसमें किंचित् भी सन्देह नहीं करना ।

भगवान ! तू है कि नहीं ? यदि है तो 'है' की प्राप्ति क्यों नहीं होगी? परन्तु भाई ! 'मैं हूँ' ऐसे अपने अस्तित्व को अबतक अनंतकाल में स्वीकार ही नहीं किया। एक समय की पर्याय व राग की स्वीकृति में ही अनंतकाल चला गया है, परन्तु अन्दर आत्मवस्तु चैतन्यघन महाप्रभु जो एक समय की पर्याय में नहीं आता तथा जो पर्याय में ज्ञात हुए बिना नहीं रहता – ऐसे शुद्धात्मा को तूने पूर्व में कभी जाना नहीं, पहिचाना नहीं और उसके अस्तित्व को स्वीकार किया नहीं; इसलिए कठिन लगता है ।[१]"

वस्तुतः निज आत्मा की प्राप्ति उतनी कठिन है नहीं, जितनी समझ ली गई है; क्योंकि वह भगवान आत्मा तू स्वयं ही है और उसे जानना भी स्वयं को ही है। अतः यह क्रिया पूर्णतः स्वाधीन है, इसमें रंचमात्र भी पराधीनता नहीं है ।

यदि आपको एक कप चाय पीना हो तो उसमें अनंत पराधीनता है; क्योंकि एक कप चाय बनाने के लिए चाय की पत्ती चाहिए, दूध चाहिए, चीनी चाहिए, पानी चाहिए, तपेली चाहिए, ढक्कन चाहिए, अग्नि चाहिए, ईंधन चाहिए, जलाने के लिए माचिस चाहिए, चलनी चाहिए, कप-बसी चाहिए; न मालूम क्या-क्या चाहिए। इतनी सब सामग्री जुट जाय, तब कहीं जाकर एक कप चाय पीने को मिलेगी; पर आत्मा को जानने के लिए परपदार्थों की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि स्वयं को, स्वयं के द्वारा स्वयं ही जानना है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ १९६

ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय – सब तू स्वयं ही है; अतः पर की ओर झांकने की भी आवश्यकता नहीं है ।

अतः यहाँ यह कहा गया है कि इस अकार्य कोलाहल से विराम लेकर छहमास तक एकाग्रचित्त होकर लगातार देहदेवल में विराजमान, परन्तु देह से भिन्न निज भगवान आत्मा को जानने-पहिचानने और उसी का अनुभव करने का प्रयास कर। ऐसा करने पर तुझे आत्मा की प्राप्ति अवश्य होगी; क्योंकि आत्मा की प्राप्ति का स्वरूप ऐसा ही है, विधि ऐसी ही है, प्रक्रिया ऐसी ही है ।

अकार्यकोलाहल माने व्यर्थ का हल्ला-गुल्ला, व्यर्थ का बकवाद। जिस वचनालाप से, तर्क-वितर्क से कोई लाभ न हो, अपने मूल प्रयोजन की सिद्धि न हो; उस वचनालाप को, तर्क-वितर्क को अकार्यकोलाहल कहते हैं ।

यहाँ आत्मा संबंधी चर्चा को भी अकार्यकोलाहल कहकर निषेध किया गया है; क्योंकि भगवान आत्मा की प्राप्ति तो प्रत्यक्षानुभव से ही होती है। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि यहाँ आत्मा संबंधी व्यर्श के तर्क-वितर्क का ही निषेध किया है; अनावश्यक बौद्धिकव्यायाम का ही निषेध किया है; देशनालब्धि और प्रायोग्यलब्धि में होनेवाले तत्त्वमंथन, चर्चा-वार्ता का निषेध नहीं समझना; क्योंकि यदि आत्मा संबंधी चर्चा-वार्ता एवं तत्त्वविचार नहीं करेगा, आगम और युक्तियों से तत्त्वनिर्णय नहीं करेगा, तो फिर छह माह तक आखिर करेगा क्या ?

देखो भाई, छह महीने तक अभ्यास करने की जो बात है, वह निर्विकल्प आत्मसन्मुखता की तो हो ही नहीं सकती; क्योंकि निर्विकल्प आत्मसन्मुखता तो यदि एक अन्तर्मुहूर्त भी रहे तो केवलज्ञान हो जायगा। यदि यह नहीं तो फिर छह महीने तक क्या अभ्यास करना ? यही न कि आत्मा के लक्ष्य से वाँचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, पाठ और पठन-पाठन करना है और साथ ही यथासाध्य आत्मसन्मुख होने का सहज पुरुषार्थ करना है ।

जिनवाणी के प्रत्येक कथन का अर्थ 'कहाँ क्या संभव है' – के आधार पर खूब सोच-विचार कर करना चाहिए ।

सभी प्रकार के संकल्प-विकल्पों का निषेध और वह भी छह महीने तक – यह सब कैसे संभव है ? जैसा कि ऊपर कहा गया है कि संकल्प-विकल्पों का पूर्णतः अभाव यदि अन्तर्मुहूर्त तक भी हो जावे तो केवलज्ञान हो जाता है और यहाँ छह महीने तक करने को कह रहे हैं। इसका तात्पर्य यही है कि यहाँ व्यर्थ के संकल्प-विकल्पों में वाद-विवादों में उलझने का ही निषेध है; विकल्पात्मक तत्त्वमंथन का नहीं, अति-आवश्यक तत्त्वचर्चा का भी नहीं ।

•

ज्ञान का कमाल

ज्ञान सर्वसमाधान कारक है, उसका सर्वत्र ही अबाध प्रवेश है। वस्तुविज्ञान का ऐसा कौन-सा क्षेत्र है, जहाँ ज्ञान का प्रवेश न हो ? आज जगत में जो भी वैज्ञानिक चमत्कार दिखाई देते हैं, वे सब ज्ञान के ही कमाल हैं। यदि यही ज्ञान निज भगवान आत्मा में समर्पित हो जावे, उसकी ही शोध-खोज में लग जावे तो इससे भी अधिक चमत्कृत करेगा ।

जड़पदार्थों में लगे इस परोन्मुखी ज्ञान ने दैनिक-जीवन के लिए सुविधायें तो भरपूर जुटा दीं, पर वह सुख और शान्ति नहीं जुटा सका। यदि हमें सच्चा सुख और शान्ति प्राप्त करनी है तो जड़पदार्थों की शोध-खोज में संलग्न अपने इस ज्ञान को वहाँ से हटाकर निज भगवान आत्मा की शोध-खोज में लगाना होगा ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ ६३

समयसार गाथा – ४५

"अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं, इनसे भिन्न चैतन्यस्वभावी भगवान आत्मा ही जीव है" – बार-बार आप ऐसा कहते हैं; परन्तु ये अध्यवसानादिभाव भी तो कथंचित् चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखने वाले प्रतिभासित होते हैं। ये भाव जड़ में होते भी दिखाई नहीं देते; तो भी आप उन्हें जड़ कहते हैं, पुद्गल कहते हैं; – इसका क्या कारण है ?

इस प्रश्न के उत्तर में ४५वीं गाथा का उद्भव हुआ है, जो इसप्रकार है –

अट्ठविहं पि य कम्मं सव्वं पोग्गलमयं जिणा बेंति ।
जस्स फलं तं वुच्चदि दुक्खं ति विपच्चमाणस्स ॥४५॥

(हरिगीत)

अष्टविध सब कर्म पुद्गलमय कहे जिनदेव ने ।
सब कर्म का परिणाम दुखमय यह कहा जिनदेव ने ॥४५॥

जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि आठों प्रकार के सभी कर्म पुद्गलमय हैं और उनके पकने पर उदय में आनेवाले कर्मों का फल दुःख कहा गया है ।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"अध्यवसानादि समस्त भावों को उत्पन्न करनेवाले जो आठों प्रकार के ज्ञानावरणादि कर्म हैं; वे सभी पुद्गलमय हैं – ऐसा सर्वज्ञ का वचन है ।

विपाक की मर्यादा को प्राप्त कर्म के फलरूप जीव की जो भी विकारी अवस्था होती है, वह अनाकुलता लक्षणवाले सुखस्वभाव से विपरीत होने से दुःख ही है। आकुलता लक्षणवाले होने से सभी अध्यवसानादिभाव उसी दुःख में समाहित हो जाते हैं। इसप्रकार सभी अध्यवसानों को एक दुःख नाम से भी अभिहित किया जा सकता है ।

यद्यपि इन अध्यवसानों का चैतन्य के साथ अन्वय होने का भ्रम उत्पन्न होता है, तथापि ये हैं तो पुद्गलस्वभावी ही ।"

आचार्य जयसेन भी लिखते हैं कि शुद्धनिश्चयनय से ये अध्यवसानादिभाव पौद्गलिक हैं ।

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा इनकी पौद्गलिकता सरल-सुबोध शब्दों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

"जब कर्मोदय आता है, तब यह आत्मा दुःखरूप परिणमित होता है और दुःखरूप भाव अध्यवसान हैं। इसलिए दुःखरूप भावों में चेतनता का भ्रम उत्पन्न होता है। परमार्थ से दुःखरूप भाव चेतन नहीं हैं, कर्मजन्य हैं; इसलिए जड़ हैं ।"

इसप्रकार यह सुनिश्चित हुआ कि अज्ञानीजन जिन अध्यवसानादिभावों को जीव मानते हैं; वे वस्तुतः जड़ हैं, निश्चय से पौद्गलिक हैं; उन्हें जीव किसी भी स्थिति में नहीं माना जा सकता ।

मार्गदर्शन की उपयोगिता

ज्ञानी गुरुओं के संरक्षण और मार्गदर्शन में ही आत्मा की खोज का पुरुषार्थ प्रारंभ होता है। यदि गुरुओं का संरक्षण न मिले तो यह आत्मा कुगुरुओं के चक्कर में फंसकर जीवन बर्बाद कर सकता है। तथा यदि गुरुओं का सही दिशा-निर्देश न मिले तो अप्रयोजनभूत बातों में ही जीवन बर्बाद हो जाता है। अतः आत्मोपलब्धि में गुरुओं के संरक्षण एवं मार्गदर्शन का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १६७

समयसार गाथा – ४६

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब अध्यवसानादिभाव पौद्गलिक हैं, पुद्गल स्वभावी हैं तो फिर जिनागम में ही इन्हें जीवरूप क्यों कहा गया है ? आगम में अनेक स्थानों पर इन्हें जीव कहा है। इसप्रकार एक ही आगम में इन्हें कहीं जीवरूप और कहीं पुद्गलरूप क्यों कहा है ?

इस समस्या के समाधान के लिए ही ४६वीं गाथा रची गई है, जिसमें इस समस्या का समाधान सयुक्ति प्रस्तुत किया गया है। गाथा मूलतः इसप्रकार है –

ववहारस्स दरीसणमुवएसो वण्णिदो जिणवरेहिं ।
जीवा एदे सव्वे अज्झवसाणादओ भावा ॥४६॥

(हरिगीत)

ये भाव सब हैं जीव के जो यह कहा जिनदेव ने ।
व्यवहारनय का पक्ष यह प्रस्तुत किया जिनदेव ने ॥४६॥

'ये सब अध्यवसानादिभाव जीव हैं' – इसप्रकार जो जिनेन्द्रदेव ने उपदेश दिया है, वह व्यवहारनय दिखाया है ।

उक्त गाथा का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"ये सब अध्यवसानादिभाव जीव हैं – भगवान सर्वज्ञदेव ने यह कहकर अभूतार्थ होने पर भी व्यवहारनय को भी बताया है; क्योंकि म्लेच्छभाषा के समान व्यवहारनय भी व्यवहारीजनों के लिए परमार्थ का प्रतिपादक है, परमार्थ को बतानेवाला है। अपरमार्थभूत होने पर भी धर्मतीर्थ की प्रवृत्ति के लिए उसका दिखाया जाना भी न्यायसंगत ही है ।

व्यवहारनय के नहीं बताये जाने पर और परमार्थ से जीव को शरीर से भिन्न बताया जाने पर, जिसप्रकार भस्म को मसल देने पर भी हिंसा नहीं होती;

उसीप्रकार त्रस-स्थावर जीवों को निशंकतया मसल देने पर भी, कुचल देने पर भी हिंसा का अभाव ठहरेगा और इसीकारण बंध का भी अभाव सिद्ध होगा।

दूसरी बात यह है कि परमार्थ से जीव को राग-द्वेष-मोह से भिन्न बताये जाने पर 'रागी-द्वेषी-मोही जीव कर्म से बंधता है, अतः उसे छुड़ाना' - इसप्रकार के मोक्ष के उपाय के ग्रहण का अभाव हो जाने से मोक्ष का भी अभाव हो जावेगा ।

इसप्रकार यदि व्यवहारनय नहीं बताया जाय तो बंध और मोक्ष - दोनों का अभाव ठहरता है।''

आत्मख्याति में प्रतिपादित उक्त विषयवस्तु को सरस-सुबोध भाषा में स्पष्ट करते हुए भावार्थ में पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा लिखते हैं -

''परमार्थनय तो जीव को शरीर तथा राग-द्वेष-मोह से भिन्न कहता है । यदि इसी का एकान्त ग्रहण किया जाये तो शरीर तथा राग-द्वेष-मोह पुद्गलमय सिद्ध होंगे तो फिर पुद्गल का घात करने से हिंसा नहीं होगी तथा राग-द्वेष-मोह से बन्ध नहीं होगा। इसप्रकार परमार्थ से जो संसार-मोक्ष दोनों का अभाव कहा है, एकान्त से यह ही ठहरेगा; किन्तु ऐसा एकान्तरूप वस्तु का स्वरूप नहीं है। अवस्तु का श्रद्धान-ज्ञान-आचरण अवस्तुरूप ही है, इसलिए व्यवहारनय का उपदेश न्यायप्राप्त है ।

इसप्रकार स्याद्वाद से दोनों नयों का विरोध मिटाकर श्रद्धान करना सो सम्यक्त्व है ।''

गाथा, आत्मख्याति और जयचन्दजी के भावार्थ - सभी में अध्यवसानादिभावों को व्यवहार से जीव कहने की आवश्यकता और उपयोगिता पर जो भी प्रकाश डाला गया है; उसमें दो बातें स्पष्ट होती हैं -

(१) यदि नोकर्मरूप शरीर को व्यवहार से भी जीव नहीं माना गया तो त्रस व स्थावर जीवों के घात में हिंसा सिद्ध नहीं होगी। तात्पर्य यह है कि द्रव्यहिंसा हिंसा ही नहीं रहेगी। ऐसी स्थिति में जिसप्रकार निर्जीव भस्म के मसल देने में कोई दोष नहीं है, बन्ध नहीं होता; उसीप्रकार त्रस और स्थावर जीवों के मसल देने में, घात कर देने में भी कोई दोष नहीं होगा; बन्ध नहीं होगा ।

इसप्रकार देह को जीव कहनेवाले असद्भूत व्यवहारनय की सर्वथा अस्वीकृति में बंध का सद्भाव सिद्ध नहीं होगा ।

(२) यदि राग-द्वेष-मोहरूप भावकर्म या अध्यवसान को व्यवहार से भी जीव नहीं माना गया तो इनसे मुक्त होने का नाम ही मोक्ष होने से मोक्ष का भी अभाव सिद्ध होगा ।

इसप्रकार रागादि को जीव कहने वाले सद्भूत व्यवहारनय की अस्वीकृति में मोक्ष का सद्भाव सिद्ध नहीं होगा ।

अतः बन्ध और मोक्ष की सिद्धि के लिए सद्भूत और असद्भूत – दोनों व्यवहारनयों का उपदेश न्यायप्राप्त है ।

इसी गाथा की आत्मख्याति टीका में व्यवहारनय म्लेच्छभाषा के समान परमार्थ का प्रतिपादक है – यह आया है, परन्तु इसके विषय में विशेष स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि इस प्रकरण पर आठवीं से बारहवीं गाथा तक के अनुशीलन में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है ।

चारों प्रकार के व्यवहारनयों की क्या उपयोगिता है और उनकी अस्वीकृति में क्या-क्या आपत्तियाँ आती हैं – यदि इस बात की विशेष जिज्ञासा हो तो लेखक की अन्य कृति 'परमभावप्रकाशक नयचक्र' के 'व्यवहारनय : कुछ प्रश्नोत्तर' नामक प्रकरण में दूसरे प्रश्न से छठवें प्रश्न तक के प्रकरण का गहराई से अध्ययन किया जाना चाहिए ।

प्रश्न – अध्यवसानों में तो राग-द्वेष-मोहादि ही आते हैं। आप यहाँ यह कैसे कह रहे हैं कि नोकर्मरूप शरीर को यदि जीव नहीं माना तो बन्ध का अभाव ठहरेगा ।

उत्तर – यहाँ अकेले अध्यवसानों की बात नहीं है, अपितु अध्यवसानादि भावों की बात है। 'आदि' शब्द में ३९ से ४३वीं गाथाओं में कहे गये आठ प्रकार के सभी भाव आ जाते हैं । उनमें नोकर्मरूप शरीर की भी बात आई है। अतः यहाँ शरीर को जीव नहीं मानने की बात करना किसी भी प्रकार अनुचित नहीं है ।

इसप्रकार इस गाथा में अध्यवसानादि भावों को व्यवहार से जीव कहने की उपयोगिता सिद्ध कर दी गई है ।

समयसार गाथा – ४७-४८

आचार्यदेव ने ४६वीं गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने की उपयोगिता बताकर शिष्यों को सन्तुष्ट तो कर दिया, पर अब शिष्य यह जानना चाहते हैं कि वह कौन-सा व्यवहार है, किसप्रकार का व्यवहार है कि जिसका यहाँ दिखाया जाना इतना आवश्यक था ? शिष्य किसी सरल-सुबोध उदाहरण के माध्यम से यह वात जानना चाहते हैं ।

ऐसा विचार कर आचार्यदेव निम्नांकित गाथाओं द्वारा सोदाहरण समझाते हैं –

राया हु णिग्गदो त्ति य एसो बलसमुदयस्स आदेसो ।
ववहारेण दु उच्चदि तत्थेक्को णिग्गदो राया ॥४७॥
एमेव य ववहारो अज्झवसाणादि अण्णभावाणं ।
जीवो त्ति कदो सुत्ते तत्थेक्को णिच्छिदो जीवो ॥४८॥

(हरिगीत)

सेना सहित नरपती निकले नृप चला ज्यों जन कहें ।
यह कथन है व्यवहार का पर नृपति उनमें एक है ॥४७॥
बस उस तरह ही सूत्र में व्यवहार से इन सभी को ।
जीव कहते किन्तु इनमें जीव तो बस एक है ॥४८॥

सेना सहित राजा के निकलने पर जो यह कहा जाता है कि 'यह राजा निकला, वह व्यवहार से ही कहा जाता है; क्योंकि उस सेना में वस्तुतः राजा तो एक ही होता है ।

उसीप्रकार अध्यवसानादि अन्य भावों को 'ये जीव हैं' – इसप्रकार जो सूत्र (आगम) में कहा गया है, तो व्यवहार से ही कहा गया है। यदि निश्चय से विचार किया जाय तो उसमें जीव तो एक ही है ।

उक्त गाथाओं का भाव आत्मख्याति में इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार 'यह राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है' – यह कहना व्यवहारीजनों का सेना समुदाय में राजा कह देने का व्यवहार है; क्योंकि एक राजा का पाँच योजन में फैलना अशक्य है। अत: परमार्थ से राजा तो एक ही है, सेना राजा नहीं है। इसीप्रकार 'यह जीव समग्र रागग्राम में व्याप्त होकर प्रवृत्त हो रहा है' – यह कहना व्यवहारीजनों का अध्यवसानादि भावों में जीव कहने का व्यवहार है; क्योंकि एक जीव का समग्र रागग्राम में व्याप्त होना अशक्य है। अत: परमार्थ से जीव तो एक ही है, अध्यवसानादि भाव जीव नहीं है ।"

४६वीं गाथा में व्यवहारनय की उपयोगिता बताई गई है और ४७वीं व ४८वीं गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने के सन्दर्भ में व्यवहारनय की प्रवृत्ति किसप्रकार होती है – यह बात सेनासहित राजा के गमन का उदाहरण देकर समझाई गई है ।

अध्यवसानादि भावों को जिनागम में जीव कहा है और यहाँ उन्हें पुद्गल कहा जा रहा है – इसका क्या कारण है ? – इस प्रश्न के उत्तर में आचार्यदेव ने कहा था कि अध्यवसानादि भावों को पुद्गल कहना परमार्थ कथन है और उन्हें जीव कहना या जीव का कहना व्यवहार कथन है ।

उक्त सन्दर्भ में शिष्य का कहना यह है कि व्यवहार तो अनेक प्रकार का होता है – सद्भूत, असद्भूत, उपचरित, अनुपचरित। घी का संयोग देखकर मिट्टी के घड़े को घी का घड़ा कहना भी व्यवहार है और आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है – यह कहना भी व्यवहार है। अध्यवसानादि भावों को जीव का कहना इनमें से कौन-सा व्यवहार है, किसप्रकार का व्यवहार है ?

इस प्रश्न का उत्तर आचार्यदेव नयों का नाम बताकर नहीं देते हैं, अपितु उदाहरण देकर ही वे अपनी बात को स्पष्ट करते हैं। यहाँ ही नहीं, आचार्य कुन्दकुन्ददेव की सर्वत्र यही शैली है, वे सभी जगह इसीप्रकार उदाहरण देकर

ही समझाते हैं। इस समयसार में भी अनेकों स्थल ऐसे हैं, जहाँ उन्होंने इसीप्रकार के उदाहरणों से अपनी बात स्पष्ट की है ।

वे ऐसा भी कह सकते थे कि यह कथन उपचरित-असद्भूत व्यवहारनय का है; परन्तु ऐसा न कहकर वे सेना सहित राजा के निकलने का उदाहरण देकर समझाते हैं कि अध्यवसानादि भावों को जीव कहना उसीप्रकार का व्यवहार है कि जिसप्रकार सेनासहित राजा के निकलने पर यह कहा जाता है कि राजा निकल रहा है अथवा राजा पाँच योजन के विस्तार में निकल रहा है ।

प्रश्न – आचार्यदेव ऐसा क्यों करते हैं ? सीधा-सच्चा रास्ता तो यही था कि वे व्यवहारनय के भेद-प्रभेदों में से व्यवहारनय के उस भेद का नाम बता देते, जिस भेद का विषय इसप्रकार के कथन बनते हैं ।

उत्तर – अरे, भाई ! आचार्य भगवान की करुणा अपार है। वे अच्छी तरह जानते थे कि उनके सभी पाठक या श्रोता नयों के विशेषज्ञ नहीं हैं, जो नय का नाम मात्र बता देने से ही समझ जायेंगे; सामान्य श्रोताओं को उदाहरण देकर समझाना ही श्रेयस्कर रहता है । यही कारण है कि आचार्यदेव सर्वत्र उदाहरण देकर ही अपनी बात स्पष्ट करते हैं ।

प्रश्न – यह तो ठीक है, अच्छी बात है; पर साथ में नय का नाम भी बता देते तो नयों के जानकारों को भी सुविधा हो जाती ।

उत्तर – क्या बात करते हो ? नयों के जानकारों को इतनी छोटी बात बताने की आवश्यकता नहीं रहती। वे तो नयों का नाम बिना बताये ही यह जान लेते हैं कि यह किस नय का कथन है। यहाँ यह जिज्ञासा तो साधारण पाठकों की ही है कि वह कौन-सा व्यवहार है, किसप्रकार का व्यवहार है? यही कारण है कि आचार्यदेव उदाहरण देकर समझा रहे हैं ।

यह बात भी तो है कि विशेषज्ञों को उदाहरणों की आवश्यकता नहीं होती। उदाहरणों से साधारण जिज्ञासु ही समझते हैं, समझाये जाते हैं। यही कारण है कि जैनदर्शन ने अनुमान के अंगों में उदाहरण को स्थान नहीं दिया है ।

आचार्य माणिक्यनंदी परीक्षामुख सूत्र में लिखते हैं –

"एतद् द्वयमेवानुमानांगं नोदाहरणम्[1] – पक्ष और हेतु – ये दो अंग ही अनुमान के हैं, उदाहरण नहीं ।"

जब आचार्यदेव सामान्य शिष्यों को समझाना चाहते हैं, तभी उदाहरणों का उपयोग करते हैं। चूंकि यहाँ उन्होंने उदाहरण के माध्यम से ही समझाया है; अतः यहाँ उनकी दृष्टि में मुख्यरूप से वे ही शिष्य हैं, जिन्हें उदाहरण से समझाने की आवश्यकता होती है ।

दूसरे सेना सहित राजा का उदाहरण देकर वे उक्त कथन के वजन को स्पष्ट करना चाहते हैं। मूल राजा को राजा कहने और सेना सहित राजा को राजा कहने में सत्यार्थता और असत्यार्थता के वजन का जितना अन्तर है, उतना ही अन्तर ज्ञायकभाव को जीव कहने और अध्यवसानादि भावों सहित जीव को जीव कहने में है ।

इसप्रकार ४६वीं गाथा में अध्यवसानादि भावों को जीव कहने की उपयोगिता बताने से पाठकों की दृष्टि में इस नय का जो अनपेक्षित वजन बढ़ गया था, इस उदाहरण से उस वजन को संतुलित किया गया है ।

जिस नय के कथन का जितना वजन होता है, उसकी अपेक्षा समझकर हमारी दृष्टि में उस नय का ठीक उतना ही वजन आना चाहिए, तभी हमारी दृष्टि निर्मल होगी; समझ व्यवस्थित होगी, सही होगी ।

प्रश्न – यह वजन क्या है ? क्या नयों में भी वजन होता है ?

उत्तर – होता है, क्यों नहीं होता ? जब हमारी बात में वजन होता है तो नयों का कथन भी तो बात ही है, उसमें वजन क्यों नहीं होगा ?

जब वक्ता की प्रामाणिकता के आधार पर उनकी बात में वजन होता है, छोटे-बड़े वक्ता की बात में वजन का अन्तर होता है तो नयों की बात में भी वजन का अन्तर क्यों नहीं होगा ?

---

१. परीक्षामुख तृतीय परिच्छेद, सूत्र ३३

यदि वजन की बात को विशेष समझना है तो परमभावप्रकाशक नयचक्र के पृष्ठ १२२ से १२५ तक देखना चाहिए ।

– इसप्रकार उक्त सम्पूर्ण प्रकरण से एक बात सिद्ध हो गई कि जिन्हें व्यवहार से जीव कहा गया है, वे अध्यवसानादि आठ प्रकार के भाव परमार्थजीव नहीं है। अब सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि अध्यवसानादि भाव परमार्थजीव नहीं है तो फिर परमार्थजीव क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अगली गाथा में दिया जाएगा ।

उस भगवान आत्मा को जानो

"णविएहिं जं णविज्जइ झाइज्जइ झाइएहिं अणवरयं ।
थुव्वंतेहिं थुणिज्जइ देहत्थं किं पि तं मुणह ॥

– अष्टपाहुड : मोक्षपाहुड, गाथा १०३

हे भव्यजीवो ! जिनको सारी दुनिया नमस्कार करती है, वे भी जिनको नमस्कार करें; जिनकी सारी दुनिया स्तुति करती है, वे भी जिनकी स्तुति करें एवं जिनका सारी दुनिया ध्यान करती है, वे भी जिनका ध्यान करें; – ऐसे इस देहदेवल में विराजमान भगवान आत्मा को जानो ।"

वंदनीय पुरुषों द्वारा भी वंदनीय, स्तुति योग्य पुरुषों द्वारा भी स्तुत्य एवं जगत के योग्यपुरुषों द्वारा भी ध्येय पुरुषों का भी ध्येय यह भगवान आत्मा ही शरण में जाने योग्य है – यह जानकर ही आत्मा की शरण में जाने की बात कही गई है। पंचपरमेष्ठी भगवन्तों ने भी जिसकी शरण को ग्रहण कर रखा है और रत्नत्रय धर्म भी जिसकी शरण का ही परिणाम है; उस भगवान आत्मा को ही जानने की प्रेरणा दी गई है इस गाथा में। उसे ही जानने-पहिचानने का आदेश दिया है आचार्य भगवन्त ने और उसी में जम जाने, रम जाने का उपदेश आता है तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि में । – आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १९९

समयसार गाथा ४९

'यद्यपि अध्यवसानादि भावों को जिनागम में भी विभिन्न अपेक्षाओं से जीव कहा गया है; तथापि वे पारमार्थिक जीव नहीं है' – यह बात जीवाजीवाधिकार के आरम्भ से ही कहते आ रहे हैं। अत: अब शिष्य पूछता है कि यदि अध्यवसानादि भाव जीव नहीं हैं तो फिर एक, टंकोत्कीर्ण, परमार्थस्वरूप जीव कैसा है, उसका स्वरूप क्या है ?

इसी प्रश्न का उत्तर ४९वीं गाथा में दिया गया है, जो इसप्रकार है –

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं ॥४९॥

(हरिगीत)

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है ।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥४९॥

हे भव्य ! तुम जीव को अरस, अरूप, अगंध, अव्यक्त, अशब्द, अनिर्दिष्टसंस्थान, अलिंगग्रहण और चेतनागुणवाला जानो ।

यह गाथा भगवान आत्मा का पारमार्थिक स्वरूप बतानेवाली होने से समयसार की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण गाथाओं में से एक गाथा है। यह गाथा न केवल समयसार में ही है, अपितु आचार्य कुन्दकुन्द कृत पाँचों ही परमागमों में पाई जाती है। प्रवचनसार में १७२वीं, नियमसार में ४६वीं, पंचास्तिकाय में १२७वीं एवं अष्टपाहुड के भावपाहुड में ६४वीं गाथा है और समयसार में यह ४९वीं गाथा है ही ।

आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी यह गाथा पाई जाती है। धवल के तीसरे भाग में भी यह गाथा है और पद्मनन्दी पंचविंशतिका एवं द्रव्यसंग्रहादि में यह गाथा उद्धृत की गई है ।

इसप्रकार आत्मा का स्वरूप प्रतिपादन करनेवाली यह गाथा जिनागम की सर्वाधिक लोकप्रिय गाथा है ।

इस गाथा में अरस, अरूप आदि आठ विशेषणों के माध्यम से दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा का स्वरूप समझाया गया है ।

यह तो सर्वविदित ही है कि आचार्य अमृतचन्द्र ने समयसार पर आत्मख्याति, प्रवचनसार पर तत्त्वप्रदीपिका एवं पंचास्तिकाय पर समयव्याख्या नामक टीकाएँ लिखी हैं। उन्होंने अपनी तीनों टीकाओं में इस गाथा का अलग-अलग प्रकार से अर्थ किया है, जो अपने-आप में अद्भुत है; मूलतः पठनीय है, गहराई से अध्ययन करने योग्य है, मननीय है ।

आत्मख्याति में आचार्य अमृतचन्द्र ने भगवान आत्मा के इन विशेषणों के एक-एक के अनेक-अनेक अर्थ किए हैं। अरस, अरूप, अगंध, अशब्द और अव्यक्त विशेषण के छह-छह अर्थ किये हैं तथा अनिर्दिष्टसंस्थान के चार अर्थ किए हैं ।

पुद्गल के चार गुणों में रस, रूप और गंध – ये तीन गुणों के अभावरूप अरस, अरूप, अगंध विशेषण तो मूल गाथा में है; पर पुद्गल के स्पर्श गुण का निषेध करनेवाला अस्पर्श विशेषण नहीं है। अतः प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में तो आचार्य अमृतचन्द्र ने अव्यक्त विशेषण का ही अर्थ अस्पर्श किया है और वे आचार्य अमृतचन्द्र ही यहाँ अव्यक्त के उससे भिन्न चार अर्थ करते हैं और अस्पर्श विशेषण को गाथा में छन्दानुरोधवश अनुक्त मानकर वैसे ही ऊपर से ले लेते हैं और अरस, अरूप, अगंध के समान उसके भी छह अर्थ करते हैं ।

इसप्रकार इस आत्मख्याति में भगवान आत्मा के आठ विशेषणों के स्थान पर नौ विशेषण हो गये हैं और अरस के छह, अरूप के छह, अगंध के छह, अस्पर्श के छह, अशब्द के छह, अव्यक्त के छह, अनिर्दिष्ट के चार, अलिंगग्रहण और चेतनागुणवाला का एक-एक – इसप्रकार कुल मिलाकर

व्यालीस विशेषण हो जाते हैं; जो सभी त्रिकाली ध्रुव भगवान आत्मा के स्वरूप को ही गहराई से स्पष्ट करते हैं ।

प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका में अलिंगग्रहण को छोड़कर शेष सभी विशेषणों का एक-एक अर्थ ही किया है; परन्तु अलिंगग्रहण के सामान्यार्थ के अतिरिक्त बीस अर्थ अलग से किये हैं, जो अपने-आप में अद्भुत हैं, गहराई से समझने योग्य हैं, मंथन करने योग्य हैं। यदि उनके सम्बन्ध में गहरी जिज्ञासा हो तो आध्यात्मिकसत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी के तत्संबंधी प्रवचनों का गहराई से अध्ययन करना चाहिए। वे प्रवचन 'अलिंगग्रहण' नाम से पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए हैं ।[१]

उनके सम्बन्ध में अभी यहाँ विस्तृत प्रकाश नहीं डाला जायेगा; क्योंकि जब प्रवचनसार का अनुशीलन करेंगे, तब ही उन पर प्रकाश डालना उचित प्रतीत होता है। यहाँ तो आत्मख्याति में समागत अर्थों का अनुशीलन ही अपेक्षित है ।

आत्मख्याति में इस गाथा का जो भाव स्पष्ट किया गया है, वह इसप्रकार है –

"(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में रसगुण नहीं है; अतः जीव अरस है ।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी रसगुण नहीं है; अतः जीव अरस है ।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से रस नहीं चखता; अतः अरस है ।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी रस नहीं चखता; अतः अरस है ।

---

१. अलिंगग्रहण : प्रकाशक – ब्र. दुलीचंद जैन ग्रंथमाला सोनगढ़ (सौराष्ट्र)

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक रसवेदना परिणाम को पाकर रस नहीं चखता; अतः अरस है ।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता; अतः अरस है ।

– इसप्रकार छह प्रकार के रस के निषेध से आत्मा अरस है ।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में रूपगुण नहीं है; अतः जीव अरूप है ।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी रूपगुण नहीं है; अतः जीव अरूप है ।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से रूप नहीं देखता; अतः अरूप है ।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी रूप नहीं देखता, अतः अरूप है ।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल रूपवेदना परिणाम को पाकर रूप नहीं देखता; अतः अरूप है ।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रूप के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं रूपरूप परिणमित नहीं होता; अतः अरूप है ।

– इसप्रकार छह प्रकार से रूप के निषेध से आत्मा अरूप है ।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में गंधगुण नहीं है; अतः जीव अगंध है ।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी गंधगुण नहीं है; अतः जीव अगंध है ।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से गंध नहीं सूंघता; अतः अगंध है ।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी गंध नहीं सूँघता; अतः अगंध है ।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक गंधवेदना परिणाम को पाकर गंध नहीं सूँघता; अतः अगंध है ।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से गंध के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं गंधरूप परिणमित नहीं होता; अतः अगंध है ।

– इसप्रकार छह प्रकार से गंध के निषेध से आत्मा अगंध है ।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में स्पर्शगुण नहीं है; अतः जीव अस्पर्श है ।

(२) पुद्गलद्रव्य के गुणों से भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी स्पर्शगुण नहीं है; अतः जीव अस्पर्श है ।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है ।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है ।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक स्पर्शवेदना परिणाम को पाकर स्पर्श को नहीं स्पर्शता; अतः अस्पर्श है ।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से स्पर्श के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शरूप परिणमित नहीं होता; अतः अस्पर्श है ।

– इसप्रकार छह प्रकार से स्पर्श के निषेध से आत्मा अस्पर्श है ।

(१) पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण जीव में शब्दपर्याय नहीं है; अतः जीव अशब्द है।

(२) पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भी भिन्न होने के कारण जीव स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है; अतः जीव अशब्द है ।

(३) परमार्थ से जीव पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से शब्द नहीं सुनता; अतः अशब्द है ।

(४) स्वभावदृष्टि से जीव क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी शब्द नहीं सुनता; अतः अशब्द है ।

(५) समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदन परिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक शब्द संवेदना परिणाम को पाकर शब्द नहीं सुनता; अतः अशब्द है ।

(६) समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होने पर भी सकल ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से शब्द के ज्ञानरूप में परिणमित होने पर भी स्वयं शब्दरूप परिणमित नहीं होता; अतः अशब्द है ।

– इसप्रकार छह प्रकार से शब्दपर्याय के निषेध से आत्मा अशब्द है ।

(१) पुद्गलद्रव्य से रचित शरीर के संस्थान (आकार) से जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

(२) अपने नियतस्वभाव से अनियतसंस्थानवाले अनन्त शरीरों में रहता है; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

(३) संस्थान नामक नामकर्म का विपाक (फल) पुद्गलों में ही कहा जाता है, जीव में नहीं; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

(४) भिन्न-भिन्न संस्थानरूप से परिणमित समस्त वस्तुओं के स्वरूप के साथ स्वाभाविक संवेदन शक्ति से संबंधित होने पर भी जीव समस्त लोक के मिलाप से रहित है; अतः जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

– इसप्रकार चार प्रकार से संस्थान के निषेध से अथवा संस्थान के कथन के निषेध से भगवान आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

(१) षड्द्रव्यात्मक लोक ज्ञेय है, अतः व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है; अतः अव्यक्त है।

(२) कषायचक्ररूप भावकभाव व्यक्त है और जीव उससे भिन्न है; अतः अव्यक्त है ।

(३) चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न होने से जीव अव्यक्त है ।

(४) क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं होने से जीव अव्यक्त है ।

(५) व्यक्तता और अव्यक्तता एकमेक मिश्रितरूप से प्रतिभासित होने पर भी वह केवल व्यक्तता को स्पर्श नहीं करता; अतः जीव अव्यक्त है ।

(६) स्वयं अपने से ही बाह्याभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आने पर भी व्यक्तता के प्रति उदासीन रूप से प्रकाशमान है; अतः जीव अव्यक्त है ।

– इसप्रकार छह प्रकार से व्यक्तता के निषेध से भगवान आत्मा अव्यक्त है ।

– इसप्रकार जीव में रस, रूप, गंध, स्पर्श, शब्द, संस्थान और व्यक्तता का अभाव होने पर भी वह स्वसंवेदन ज्ञान के बल से स्वयं सदा प्रत्यक्ष होने से अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; अतः जीव अलिंगग्रहण है ।

जिसने अपना सर्वस्व भेदज्ञानियों को सौंप दिया है; जो समस्त लोकालोक को ग्रासीभूत करके अत्यन्त तृप्ति से मंथर हो गया है, उपशान्त हो गया है, अत्यन्त स्वरूप सौख्य से तृप्त होने के कारण बाहर निकलने को अनुद्यमी हो गया है; अतः कभी भी किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं होता और जीव से भिन्न अन्यद्रव्यों में नहीं पाये जाने के कारण स्वभावभूत है – ऐसा चेतनागुण

समस्त विवादों को नाश करनेवाला है। सदा अपने अनुभव में आनेवाले ऐसे इस चेतनागुण के द्वारा जीव सदा प्रकाशमान है; अतः जीव चेतनागुणवाला है।

इसप्रकार इन नौ विशेषणों से युक्त, चैतन्यरूप, निर्मल प्रकाशवाला, एक भगवान आत्मा परमार्थस्वरूप जीव है, जो इसलोक में भिन्नज्योतिस्वरूप टंकोत्कीर्ण विराजमान है ।"

रस, रूप, गंध और स्पर्श – ये चार पुद्गल के गुण हैं और शब्द पुद्गल की पर्याय है। ये पाँचों पाँच इन्द्रियों के विषय हैं। यहाँ इन पाँचों के निषेधरूप पाँच विशेषण आरंभ में ही लिए गये हैं। इससे यह संकेत मिलता है कि – आचार्यदेव यह कहना चाहते हैं कि परमार्थ जीव इन्द्रियों का विषय नहीं है, अतः इन्द्रियों के माध्यम से नहीं जाना जा सकता ।

विशेषकर 'अशब्द' विशेषण से यह संकेत मिलता है; क्योंकि पुद्गल के चार गुणों की बात तो ठीक, परन्तु पर्याय में पुद्गल की 'शब्द' पर्याय को ही क्यों लिया गया; रूप, रस आदि गुणों की पर्यायों को भी लिया जा सकता था। कर्ण इन्द्रिय का विषय होने से ही शब्द को लिया गया है; क्योंकि चार इन्द्रियों के विषय तो स्पर्श, रस, गंध और रूप के रूप में आ ही गये थे; कर्ण इन्द्रिय का विषय ही शेष रहा था, जो शब्द को लेने से आ गया ।

आत्मख्याति टीका में अरस आदि पाँच विशेषणों के छह-छह अर्थ किये गये हैं; जो लगभग सभी के एक से ही हैं। अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श के अर्थ तो एकदम एक से ही हैं, अशब्द में थोड़ा-सा अन्तर पड़ता है। अतः यहाँ अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श – इन चार विशेषणों के विभिन्न अर्थों पर एक साथ ही विचार किया जा रहा है ।

अरसादि चार विशेषणों के प्रथम अर्थ में यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण, आत्मा में पुद्गल के रस, रूप, गंध और स्पर्श गुण भी नहीं है; अतः आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

दूसरे अर्थ में यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य के गुणों से भी भिन्न होने के कारण आत्मा स्वयं भी रसगुण नहीं है, रूपगुण नहीं है, गंधगुण नहीं है

और स्पर्शगुण नहीं है; अतः आत्मा अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

पहले अर्थ में आत्मा को पुद्गलद्रव्य से भिन्न वताया गया है और दूसरे अर्थ में उसके रूप, रस आदि गुणों से भिन्न बताया गया है। अब तीसरे अर्थ में पुद्गलद्रव्य की द्रव्य-इन्द्रियरूप पर्याय से भिन्नता की बात करते हुए पुद्गल के स्वामित्व का निषेध करते हैं ।

पहले और दूसरे अर्थ में पुद्गल से एकत्व का निषेध किया था और अब तीसरे अर्थ में पुद्गल के स्वामित्व का निषेध करते हैं; क्योंकि पर पुद्गल में ममत्ववुद्धि भी एकत्ववुद्धि के समान ही मिथ्यात्व है। यही कारण है कि इस तीसरे अर्थ में कहते हैं कि परमार्थ से आत्मा पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है, इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से रस को नहीं चखता, रूप को नहीं देखता, गंध को नहीं सूँघता और स्पर्श को नहीं छूता; अतः वह अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

यह तो पहले स्पष्ट किया ही जा चुका है कि एकत्वबुद्धि को अहंवुद्धि और स्वामित्ववुद्धि को ममत्ववुद्धि भी कहते हैं तथा पूर्वरंग और जीवाजीवाधिकार का मुख्य प्रयोजन पुद्गलमय शरीरादि परपदार्थों से एकत्व और ममत्व छुड़ाना रहा है; क्योंकि पर का कर्तृत्व और भोक्तृत्व तो आगे चलकर कर्ताकर्म-अधिकार में छुड़ायेंगे ।

उक्त तीन अर्थों में मुख्यरूप से पाँच द्रव्येन्द्रियरूप शरीर से अथवा पुद्गल के द्रव्य, गुण व पर्याय से एकत्व-ममत्व छुड़ाया गया है ।

अव चौथे अर्थ में भगवान आत्मा को क्षयोपशमभावरूप भावेन्द्रिय से भी भिन्न वताना चाहते हैं। अतः कहते हैं कि स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो भगवान आत्मा क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है; इसलिए वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी रस को नहीं चखता, रूप को नहीं देखता, गंध को नहीं सूँघता और स्पर्श को नहीं छूता; अतः अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

इस चौथे अर्थ में क्षयोपशमभावरूप भावेन्द्रियों से भी एकत्व-ममत्व छुड़ाना चाहते हैं; क्योंकि इनके भी कर्तृत्व और भोक्तृत्व को कर्त्ताकर्म-अधिकार में ही छुड़ायेंगे। यह चौथा अर्थ तीन अर्थों से अधिक सूक्ष्म है; क्योंकि इसमें अपनी ही विकारी पर्यायों को रसादिरूप कहकर उनसे भिन्नता बताई गई है ।

इस अर्थ के सम्बन्ध में स्वामीजी कहते हैं -

"यह चतुर्थ बोल तीसरे बोल से अधिक सूक्ष्म है। अपने स्वभाव की दृष्टि से अर्थात् त्रिकाली शुद्ध ज्ञायकभाव की दृष्टि से देखें तो आत्मा में क्षयोपशमभाव का भी अभाव है ।[१]

रस को जानने का वर्तमान ज्ञान का विकास, रस को जानने की वर्तमान ज्ञानशक्ति, रस को जानने में अटकनेवाला ज्ञान, एक रस में प्रवृत्त होनेवाला ज्ञान - ये सब क्षायोपशमिकभाव हैं; इनका भी परमार्थदृष्टि से आत्मा में अभाव है; क्योंकि आत्मा का स्वरूप परिपूर्ण ज्ञान है। इस स्वभाव की दृष्टि से देखा जाय तो अल्पज्ञान का इसमें अभाव है। चैतन्य आत्मा पूर्णज्ञान की मूर्ति है, अतः अपूर्णज्ञान भी उसका नहीं है ।[२]"

पाँचवें अर्थ को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"आत्मा अखण्ड ज्ञायकभावरूप वस्तु है, वह पाँचों इन्द्रियों के विषयों को अखण्डरूप से जाननेवाला है; मात्र एक इन्द्रिय के विषय का वेदन करना अथवा उसे जानना आत्मा का स्वभाव नहीं है। पाँचों इन्द्रियों के ज्ञान का संवेदन एकसाथ आत्मा को हो - यह आत्मा का स्वभाव है। इस कारण वह एक रसवेदना परिणाम को पाकर अर्थात् मात्र एक रस के ही ज्ञान को प्राप्त करके रस को नहीं चखता, अतः आत्मा अरस है ।[३]"

इस पाँचवें अर्थ में यह स्पष्ट किया गया है कि आत्मा अकेले रस को या अकेले रूप को या अकेली गंध को या अकेले स्पर्श को ही नहीं जानता है;

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २२५
२. वही, पृष्ठ २२५
३. वही, पृष्ठ २२५-२६

वह तो सबको जानता है, सभी को जानना उसका स्वभाव है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जानना उसका स्वभाव है। यही कारण है कि यहाँ कहा गया है कि समस्त विषयों के विशेषों में साधारण ऐसे एक ही संवेदनपरिणामरूप जीव का स्वभाव होने से, वह केवल एक रसवेदना परिणाम को पाकर रस नहीं चखता, केवल रूपवेदना परिणाम को पाकर रूप नहीं देखता, केवल गंधवेदना परिणाम को पाकर गंध नहीं सूँघता और केवल स्पर्शवेदना परिणाम को पाकर स्पर्श को नहीं छूता; अतः अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

इसीप्रकार छठवें अर्थ में यह कहा गया है कि यद्यपि आत्मा को समस्त ज्ञेयों का ज्ञान होता है; तथापि ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य का निषेध होने से रस के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रसरूप परिणमित नहीं होता, रूप के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं रूपरूप परिणमित नहीं होता, गंध के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं गंधरूप परिणमित नहीं होता और स्पर्श के ज्ञानरूप परिणमित होने पर भी स्वयं स्पर्शरूप परिणमित नहीं होता; अतः अरस है, अरूप है, अगंध है और अस्पर्श है ।

छठवें अर्थ को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"देखो, सम्पूर्ण विश्व ज्ञेय है और भगवान आत्मा ज्ञायक है। सभी ज्ञेयों को जानने की भगवान आत्मा की सामर्थ्य है। इसलिए ज्ञेय-ज्ञायक संबंध का व्यवहार होने पर भी ज्ञेय-ज्ञायक के तादात्म्य अर्थात् एकत्व का निषेध तो है ही। ज्ञेय को जानते हुए भी ज्ञायक ज्ञेयरूप नहीं होता। रस तो ज्ञेय है और आत्मा उसे जाननेवाला ज्ञायक है। रसरूप ज्ञेय को जानते हुए भी आत्मा का ज्ञान ज्ञेयरूप या रसरूप नहीं होता। ज्ञान ज्ञानरूप रहता है और रस रसरूप रहता है। रस का ज्ञान ज्ञान का ही परिणमन है; वह ज्ञान के ही कारण है, रस के कारण नहीं।[१]"

पाँचवाँ और छठवाँ - ये दोनों अर्थ रस, रूप आदि को जानने संबंधी हैं। पाँचवें अर्थ में यह कहा गया है कि अकेले रस को नहीं जानता, अपितु सभी

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २२६

को जानता है, अतः अरस है; अकेले रूप को नहीं जानता, अपितु सभी को जानता है, अतः अरूप है; अकेली गंध को नहीं जानता, अपितु सभी को जानता है, अतः अगंध है और अकेले स्पर्श को नहीं जानता, अपितु सभी को जानता है, अतः अस्पर्श है ।

छठवें अर्थ में कहा गया है कि भगवान आत्मा रस, रूप, गंध और स्पर्श को जानता तो है, उनके ज्ञानरूप तो परिणमित होता है; परन्तु उनरूप परिणमित नहीं होता। इसकारण वह अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श है ।

इसप्रकार इन छह अर्थों में आरम्भ के दो अर्थ पुद्गलद्रव्य और उसके रस, रूप, गंध और स्पर्श गुणों से आत्मा के भिन्न होने रूप हैं; बीच के दो अर्थ रस, रूप, गंध और स्पर्श को द्रव्येन्द्रियों और भावेन्द्रियों के माध्यम से नहीं जानने संबंधी है और अन्त के दो अर्थ जाननेरूप तो हैं, पर उनमें से पहला अकेले को न जानकर सभी को जाननेरूप है और दूसरा जाननेरूप परिणमित होने पर भी उनरूप परिणमित नहीं होनेरूप है ।

निष्कर्ष में कहा जा सकता है कि इन छह अर्थों में आत्मा का पुद्गल के रसादि गुणों के साथ सभी प्रकार के संबंधों का बड़ी ही निर्दयता से निषेध कर दिया गया है; मात्र एक ज्ञेय-ज्ञायक संबंध को स्वीकार किया गया है, वह भी इस शर्त के साथ कि वह किसी एक के साथ ही ज्ञेय-ज्ञायक रूप से संबंधित नहीं है, अपितु समानरूप से सभी को जानता है; जानता तो है, जाननेरूप परिणमित तो होता है; पर रसादिरूप परिणमित कभी भी नहीं होता ।

प्रश्न – अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श का सीधा-सच्चा अर्थ यह है कि आत्मा में खट्टा, मीठा, चरपरा, कषायला और कड़वा – ये पाँच रस नहीं हैं, अतः अरस है; काला, पीला, हरा, लाल और सफेद – ये पाँच रंग नहीं हैं, अतः अरूप है; सुगंध और दुर्गन्ध – ये दो गंध नहीं हैं, अतः अगंध है और रूखा, चिकना, कड़ा, नर्म, ठंढ़ा, गर्म, हल्का और भारी – से आठ स्पर्श नहीं हैं, अतः अस्पर्श है ।

यहाँ यह अर्थ तो नहीं किया और न मालूम कहाँ-कहाँ से कैसे-कैसे अर्थ निकाले हैं ? मान लो कि जो अर्थ निकाले हैं, वे भी ठीक हैं; पर साथ में यह अर्थ भी तो करना चाहिए था ?

उत्तर – अरे भाई ! इतना उत्तेजित क्यों होते हो? यह अर्थ भी करेंगे। जरा धैर्य रखो, आगामी गाथाओं में यही अर्थ किया गया है। आगामी पाँच गाथाओं में इसी बात को विस्तार से कहा गया है; वहाँ भी आत्मा को रस, रूप, गंध और स्पर्श से रहित बताया है। आपने प्रश्न में जैसा सरल-सहज अर्थ बताया, वैसा ही अर्थ वहाँ दिया गया है। उसे भी यहाँ ही दे देते तो फिर वहाँ क्या करते?

यहाँ जो गंभीर अर्थ किये हैं, वे भेदज्ञान की विशेष सिद्धि के लिए ही किए गए हैं; क्योंकि यह अज्ञानी जीव ऐसा जानकर भी कि आत्मा में रसादि नहीं हैं; उनसे किसी न किसी प्रकार अपनत्व, एकत्व, ममत्व स्थापित कर लेता है और कुछ नहीं तो सामान्य ज्ञेय-ज्ञायक संबंध के आधार पर ही उन्हें अपना जानने-मानने लगता है। अतः यहाँ उन सभी संभावनाओं को सयुक्ति नकारा गया है ।

अतः इन गंभीर अर्थों को पढ़कर अरुचि से नाक-भौं नहीं सिकोड़ना चाहिए, अपितु उन्हें गहराई से समझकर अपने आत्मा का सही स्वरूप जानकर, उसमें ही एकत्व-ममत्व स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए ।

अब अशब्द के छह अर्थों पर विचार करते हैं। अशब्द के छह अर्थ भी रूपादि के छह अर्थों के समान ही करना है; परन्तु इतना अन्तर तो अवश्य होगा कि जहाँ रूपादि गुण होने से उनके साथ गुण शब्द का प्रयोग किया गया था, शब्द के पर्याय होने से यहाँ पर्याय शब्द का उपयोग होगा ।

अशब्द विशेषण के प्रथम अर्थ में यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य से भिन्न होने के कारण आत्मा में पुद्गल की भाषावर्गणा की पर्यायरूप शब्द भी नहीं है; अतः आत्मा अशब्द है ।

दूसरे अर्थ में यह कहा गया है कि पुद्गलद्रव्य की पर्यायों से भिन्न होने के कारण आत्मा स्वयं भी शब्दपर्याय नहीं है; अत: अशब्द है ।

तीसरे अर्थ में कहते हैं कि परमार्थ से आत्मा पुद्गलद्रव्य का स्वामी भी नहीं है; इसलिए वह द्रव्येन्द्रिय के माध्यम से भी शब्द को नहीं सुनता; अत: अशब्द है ।

चौथे अर्थ में कहते हैं कि स्वभावदृष्टि से देखा जाय तो भगवान आत्मा क्षायोपशमिकभावरूप भी नहीं है, इसकारण वह भावेन्द्रिय के माध्यम से भी शब्द नहीं सुनता; अत: अशब्द है।

पाँचवें अर्थ में यह कहा गया है कि आत्मा अकेले शब्द को नहीं जानता; क्योंकि उसका स्वभाव तो सभी को जानना है, पाँचों इन्द्रियों के विषयों को जानना है। अत: वह केवल शब्दवेदना परिणाम को पाकर शब्द नहीं सुनता; अत: अशब्द है ।

छठवें अर्थ में कहा गया है कि भगवान आत्मा शब्दों को जानता तो है, उनके ज्ञानरूप तो परिणमित होता है, पर शब्दरूप परिणमित नहीं होता; अत: अशब्द है ।

इसप्रकार ये छह अशब्द विशेषण के अर्थ हैं। इसके सन्दर्भ में भी वे सभी बातें लगा लेनी चाहिए, जो अरस, अरूप, अगंध और अस्पर्श के बारे में कही गई हैं ।

अब अनिर्दिष्टसंस्थान विशेषण पर विचार करते हैं। निर्दिष्ट माने कहा जाना और संस्थान माने आकार। जिसके आकार के बारे में कुछ भी कहा जाना संभव नहीं हो, उसे अनिर्दिष्टसंस्थान कहते हैं।

यह असंख्यातप्रदेशी भगवान आत्मा संसारावस्था में जिस शरीर में रहता है, उसी के आकार में परिणमित हो जाता है। आत्मा का कोई आकार तो सुनिश्चत है नहीं, इसकारण उसके आकार के बारे में यही कहा गया है कि वह निश्चय से असंख्यातप्रदेशी है और व्यवहार से स्वदेहप्रमाण है।

अत: निश्चय से उसके आकार के बारे में कुछ भी कहना संभव नहीं है; यही कारण है कि उसे यहाँ अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है ।

जिसप्रकार हाथ की पाँच अंगुलियों में चार के नाम तो अपने आकार-प्रकार, स्थिरता और कार्य के कारण सुनिश्चित हैं, पर एक अंगुली में कोई विशेष विशेषता न होने से उसका सार्थक नाम रखना संभव नहीं हुआ तो उसे अनामिका नाम से ही पुकारने लगे। अनामिका माने बिना नाम की। बिना नाम की – यह भी एक नाम हो गया ।

अंगूठे को बलिष्ठ होने से अंगुष्ठ कहते हैं, उसके पास की अंगुली को धमकी देने के काम में आने से तर्जनी कहते हैं, बीच की अंगुली को बीच में होने से मध्यमा कहते हैं और अन्तिम अंगुली सबसे छोटी होने से कनिष्ठा कही जाती है; पर कनिष्ठा के पास की अंगुली को क्या कहें? कुछ समझ में नहीं आया तो उसे अनामिका ही कहने लगे ।

इसीप्रकार जिसके मौलिक आकार के बारे में कुछ कहना संभव न हो, उसे अनिर्दिष्टसंस्थान कहते हैं। आत्मा के पारमार्थिक आकार के बारे में कुछ कहना संभव नहीं है। अत: उसे यहाँ अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है ।

अनिर्दिष्टसंस्थान के जो चार अर्थ आचार्य अमृतचन्द्र ने किए हैं, उनसे भी उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। पहले ही अर्थ में वे साफ-साफ लिखते हैं कि पुद्‌गलद्रव्य से रचित शरीर के संस्थान के कारण जीव को संस्थानवाला नहीं कहा जा सकता; इसकारण जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

अनन्त शरीरों के अनन्त संस्थान (आकार) होते हैं। एक-एक शरीर भी अनेक आकारों में परिवर्तित होता रहता है। अत: उनके आधार पर आत्मा के सुनिश्चित आकार को कहना संभव नहीं है।

देह के अनियत संस्थानों के आधार पर असंख्यातप्रदेशी नियत संस्थानवाले आत्मा के संस्थान (आकार) को कहना संभव नहीं है। अत: आत्मा को अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है। – यह अनिर्दिष्टसंस्थान का आचार्य अमृतचन्द्रकृत दूसरा अर्थ है ।

इसके सन्दर्भ में स्वामीजी का स्पष्टीकरण इसप्रकार है –

"भगवान आत्मा नित्य असंख्यातप्रदेशी है – ऐसा उसका नियतस्वभाव है। शरीर के भिन्न-भिन्न आकार अर्थात् एकेन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पाँच-इन्द्रिय आदि के आकार अनियत हैं। ऐसे अनियत-आकारोंवाले अनन्त शरीरों में आत्मा रहता है; इसलिए यह नियतसंस्थानवाला नहीं कहा जा सकता, अत: अनिर्दिष्टसंस्थान है ।[1]"

तीसरे अर्थ में यह बताया गया है कि संस्थान नामक नामकर्म का विपाक (फल) तो पुद्गलों में ही होता है, शरीर में ही होता है। अत: उसके कारण भी आत्मा को किसी आकारवाला नहीं कहा जा सकता; अत: आत्मा अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

चौथे अर्थ में यह स्पष्ट किया गया है कि लोक में विभिन्न आकारोंवाली अनेकानेक वस्तुएं हैं। यद्यपि यह भगवान आत्मा उन्हें जानता है; पर उनसे इसका कोई मिलाप नहीं है; अत: यह अनिर्दिष्टसंस्थान है ।

इसके बारे में स्वामीजी कहते हैं –

"दाल-भात-रोटी, शरीर, मकान आदि अनेक आकारवाली वस्तुओं को जानते हुए भी आत्मा उनके आकाररूप नहीं होता, उनके आकाररूप नहीं परिणमता है। पर के आकाररूप नहीं परिणमित होने से ही आत्मा संस्थानरहित है अर्थात् अनिर्दिष्टसंस्थान है ।[2]"

उक्त चार अपेक्षाओं से भगवान आत्मा को अनिर्दिष्टसंस्थान कहा गया है।

प्रश्न – शास्त्रों में समचतुरस्र आदि छह संस्थानों की चर्चा है। वे छह संस्थान आत्मा में नहीं हैं, इसलिए जीव अनिर्दिष्टसंस्थान है; आचार्य अमृतचन्द्र ने ऐसा अर्थ क्यों नहीं किया ?

उत्तर – ऐसा अर्थ आगे ५०वीं गाथा में किया गया है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २३०
२. वही, पृष्ठ २३०

प्रश्न – वहाँ ही क्यों किया; यहाँ क्यों नहीं किया ?

उत्तर – क्योंकि वहाँ यह कहा गया है कि आत्मा में संस्थान नहीं है; अतः वहाँ आत्मा में समचतुरस्र आदि छह संस्थानों का निषेध किया गया है। वहाँ असंस्थान की बात है और यहाँ अनिर्दिष्टसंस्थान की बात है। वहाँ संस्थानों के निषेध की बात है और यहाँ संस्थान के बारे में कहे जाने के निषेध की बात है। – इस अन्तर को हमें समझना चाहिए ।

प्रश्न – आचार्य जयसेन ने तो इसी गाथा में 'समचतुरस्रादिषट्संस्थानरहितं' – ऐसा अर्थ किया है ।

उत्तर – किया है तो अच्छा ही किया है; पर उन्होंने आगामी ५०वीं गाथा में असंस्थान का भी यही अर्थ किया है। जयसेन ने असंस्थान और अनिर्दिष्टसंस्थान दोनों का एक ही अर्थ किया है और अमृतचन्द्र ने दोनों के अलग-अलग अर्थ किए हैं ।

प्रश्न – आप दोनों में से किस अर्थ को प्रमाण मानते हैं ?

उत्तर – हम दोनों ही अर्थों को प्रमाण मानते हैं; क्योंकि दोनों ही अर्थों के प्रयोजन में कोई अन्तर नहीं है ।

प्रश्न – फिर भी आप दोनों में अच्छा अर्थ किसे समझते हैं ?

उत्तर – आचार्यों की वाणी में अच्छे-बुरे का भेद हमें भासित नहीं होता। हमारा काम तो दोनों के ही कथनों से आचार्य कुन्दकुन्द की वाणी के मर्म को समझना-समझाना है ।

प्रश्न – आप इस प्रश्न का उत्तर नहीं देना चाहते; अतः चतुराई से टाल रहे हैं ?

उत्तर – अरे भाई ! इसमें चतुराई की क्या बात है ? हम भावलिंगी संतों में ऐसा भेद कैसे कर सकते हैं ? हमारा काम तो इतना ही है कि विभिन्न विशेषणों के जो विभिन्न अर्थ प्राप्त होते हैं; उन्हें पाठकों के सामने प्रस्तुत कर दें। जबतक उनमें कोई ऐसा अन्तर न हो कि जिससे सैद्धान्तिक मतभेद

खड़ा होता हो, तबतक उनको सन्दर्भ में कुछ भी टिप्पणी करना अनावश्यक ही नहीं; अनर्गल चेष्टा है ।

अब अव्यक्त विशेषण के सम्बन्ध में विचार करते हैं। आत्मख्याति में अव्यक्त विशेषण के भी छह अर्थ किए गये हैं ।

पहले *अर्थ में ज्ञेयभावों* से एवं दूसरे *अर्थ में भावकभावों* से भिन्नता बताई गई है। अतः कहा गया है कि छहद्रव्यमयी लोक व्यक्त है, कषायचक्ररूप भावकभाव व्यक्त है और उनसे भिन्न होने के कारण भगवान आत्मा अव्यक्त है। यहाँ ज्ञेयभावों और भावकभावों को व्यक्त कहकर, उनसे भिन्न होने के कारण आत्मा को अव्यक्त कहा गया है।

ज्ञेय पदार्थों और रागादि भावकभावों से भिन्नता की बात विगत गाथाओं में विस्तार से स्पष्ट हो चुकी है। अतः अब यहाँ इस सम्बन्ध में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है ।

अव्यक्त के तीसरे अर्थ के सन्दर्भ में स्वामीजी के विचार द्रष्टव्य हैं, जो इसप्रकार हैं -

''चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त पर्यायें निमग्न हैं। जो पर्यायें भविष्य में होनेवाली हैं और जो पर्यायें भूतकाल में हो गई हैं; वे सभी पर्यायें चैतन्य सामान्य में अन्तर्लीन हैं। वर्तमान पर्याय चैतन्य में लीन नहीं है। यदि बर्तमान पर्याय भी उसमें निमग्न हो तो जानने का काम कौन करेगा? वर्तमान पर्याय के अलावा भूत-भविष्य की समस्त पर्यायें चैतन्य में अन्तर्लीन हैं; इसलिए गाथा में 'जाण' शब्द का प्रयोग किया गया है। तात्पर्य यह है कि जाननेवाली वर्तमान पर्याय तो चित्सामान्य से बाहर ही रही और इसी वर्तमान व्यक्त पर्याय में अव्यक्त ज्ञायक वस्तु को जान - ऐसा आचार्यदेव कहते हैं ।

जिसप्रकार पानी की तरंग पानी में समा जाती है; उसीप्रकार व्यक्त होनेवाली पर्याय द्रव्यरूप ही हो जाती है। इसीतरह जब निर्मलपर्याय प्रगट होती है; तब क्षयोपशम, क्षायिक या उपशमभावरूप होती है; परन्तु जब अन्दर द्रव्य में ही

व्यय होकर समा जाती है, तब वह पारिणामिकभावरूप ही हो जाती है, अर्थात् उदय, उपशम, क्षय या क्षयोपशमभावरूप नहीं रहती ।[१]"

प्रश्न – स्वामीजी ने स्पष्टीकरण तो बहुत अच्छा किया है, परन्तु आचार्य अमृतचन्द्र ने तो लिखा है कि चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न होने से जीव अव्यक्त है और स्वामीजी ने भूत-भविष्य की पर्यायों को तो निमग्न माना, परन्तु वर्तमान व्यक्त पर्याय को अलग रख लिया – ऐसा क्यों किया ?

उत्तर – अव्यक्त विशेषण में व्यक्त पर्याय को कैसे शामिल किया जा सकता है ? भूत व भविष्य की पर्यायें भी पर्यायरूप में शामिल नहीं की गई हैं, अपितु पारिणामिकभाव के रूप में शामिल की हैं; क्योंकि दृष्टि के विषयभूत त्रिकाली ध्रुव आत्मा में क्षायिक, क्षायोपशमिक, औपशमिक और औदयिक भावों को तो शामिल किया ही नहीं जा सकता। आत्मा को जाननेवाली वर्तमान पर्याय क्षायोपशमिकभावरूप है। अतः उसे दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में शामिल करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता।

प्रश्न – तीन कालों में भूत और भविष्य की पर्यायें तो पारिणामिकभावरूप से शामिल हो गई और वर्तमान पर्याय अलग रह गई तो फिर आत्मा त्रिकाली कैसे रहा ?

उत्तर – अरे, भाई ! पारिणामिकभाव पर्यायरूप नहीं है, द्रव्यरूप है; अतः वह सदा त्रिकाली ही होता है। भूत-भविष्य की पर्यायें पारिणामिकभावरूप हो गईं का अर्थ ही यह है कि वे द्रव्यरूप हो गईं। पर्यायें द्रव्य में से ही प्रगट होती हैं और द्रव्य में ही समा जाती हैं। अतः दृष्टि का विषय तो द्रव्य ही रहा। इसी कारण इस दृष्टि को द्रव्यदृष्टि भी कहते हैं ।

प्रश्न – आप कुछ भी कहो, परन्तु जब वर्तमान पर्याय अलग रह गई तो फिर द्रव्य त्रिकाली कैसे रहा ? अखण्डित कैसे रहा ? – यह समझ में नहीं आता ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २३४-३५

उत्तर – हम कुछ भी क्यों कहें ? हम तो वही कहेंगे, जो वस्तु का स्वरूप है, आगमानुकूल है, तर्क की कसौटी पर खरा उतरता है ।

वर्तमान के दो रूप हैं – एक व्यक्त पर्यायरूप और दूसरा त्रिकाली का वह अव्यक्तरूप, जो भूत-भविष्य के बीच की कड़ी है एवं भूत और भविष्य को अखण्ड रखता है; भूत, वर्तमान और भविष्य – तीनों कालों में अखण्ड रहता है और जिसे काल की अखण्ता कहा जाता है, नित्यता कहा जाता है। यह तो आप जानते ही हैं कि 'है' क्रिया का प्रयोग वर्तमान के अर्थ में भी होता है और त्रिकाल के अर्थ में भी होता है। जैसे – '*आत्मा नित्य है*' – इस वाक्य में 'है' क्रिया का प्रयोग त्रिकाली के अर्थ में हुआ है ।

यह बात सातवीं गाथा के अनुशीलन में विस्तार से समझाई जा चुकी है। आप उसका एक बार गहराई से अध्ययन करें तो सब समझ में आ जायगा।

अरे भाई ! आप एक ओर भूत-भविष्य की पर्यायों को द्रव्य में पारिणामिकभावरूप से अन्तर्मग्न मान रहे हैं और दूसरी ओर उन्हें काल से खण्डित भी कर रहे हैं। आप यह क्यों भूल जाते हैं कि पारिणामिकभाव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव सभी ओर से अखण्डित ही होता है और यहाँ भी वह अखण्डित ही है। यही कारण है कि यहाँ चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियाँ निमग्न होने से जीव को अव्यक्त कहा गया है ।

चौथे अर्थ में कहा गया है कि भगवान आत्मा क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है; अतः अव्यक्त है। इसका भाव स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

''तीसरे बोल में सर्व व्यक्तियों की सामान्य बात कही थी, परन्तु यहाँ चौथे बोल में क्षणिकव्यक्ति अर्थात् एक समय की मात्र वर्तमान पर्याय की बात की गई है। आत्मा क्षणिक व्यक्तिमात्र नहीं है; अतः अव्यक्त है। एक समय की पर्याय व्यक्त है, वह क्षणिक है। जब आत्मा शुद्ध चैतन्य सामान्य त्रिकाल है तो क्षणिक व्यक्तिमात्र प्रगट पर्याय के बराबर कैसे हो सकता है ? .....

इस बोल का तात्पर्य यह है कि पर्याय एक समय मात्र का सत् होने से दृष्टि करने योग्य और आश्रय करने योग्य नहीं है। अतः अनंतकाल में जिसका

आश्रय नहीं किया है – ऐसे एक शुद्ध त्रिकाली अव्यक्त आत्मस्वभाव का आश्रय करना योग्य है ।[१]"

इस चौथे अर्थ से भी उस आशंका का निराकरण होता है कि जो तीसरे अर्थ के समझने से हो सकती है। चित्सामान्य में चैतन्य की समस्त व्यक्तियों के अन्तर्गभित होने से यह आशंका उत्पन्न होती है कि जब सभी व्यक्तियाँ त्रिकालीध्रुवरूप ज्ञेय में ही शामिल हो गईं तो अब उसे जानने का कार्य कौन करेगा ?

इस चौथे अर्थ में क्षणिक व्यक्ति को अलग रखकर अव्यक्त को जानने की समस्या का समाधान कर दिया गया है ।

अरसादि विशेषणों के समान अव्यक्त विशेषण का भी पाँचवाँ-छठवाँ अर्थ जानने सम्बन्धी है। इनमें व्यक्तता और अव्यक्तता – दोनों को जानने की बात होने पर भी पाँचवें अर्थ में तो यह बताया गया है कि वह अकेली व्यक्तता को नहीं जानता; दोनों को ही मिश्रितरूप से जानता है; अतः अव्यक्त है और छठवें अर्थ में यह बताया गया है कि जानते हुए भी वह व्यक्तता के प्रति उदासीन रहता है; अतः अव्यक्त है ।

आचार्य जयसेन अव्यक्त का अर्थ मनोगत काम-क्रोधादि विकल्पों से रहित होने से अव्यक्त है, सूक्ष्म है – ऐसा करते हैं ।

अब अलिंगग्रहण विशेषण का अर्थ करते हैं। प्रवचनसार में तो अलिंगग्रहण के बीस अर्थ किए हैं; पर यहाँ तो मात्र यही कहा है कि वह स्वसंवेदन ज्ञान के बल से प्रत्यक्षानुभूति का विषय बनता है; अतः उसे अकेले अनुमान का विषय नहीं माना जा सकता है; अतः अलिंगग्रहण है ।

आत्मा अनुभव में प्रत्यक्ष ज्ञात होता है – इस बात को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी कहते हैं –

"आनन्द के वेदन की अपेक्षा से यहाँ प्रत्यक्ष कहा है। अतीन्द्रिय आनन्द को आत्मा सीधे वेदन करता है; अतः उसके जोर में प्रत्यक्ष कहा गया है।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २३५

आत्मा के आनन्द के स्वाद में श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी में अन्तर नहीं है। आत्मा के गुण और उसके आकार, केवलज्ञानी को जिसप्रकार प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, उसप्रकार श्रुतज्ञानी के प्रत्यक्ष नहीं होते; परन्तु स्वानुभूति में आनन्द का वेदन तो श्रुतज्ञानी को भी प्रत्यक्ष ही है ।[१]

जिसप्रकार अन्धा पुरुष शक्कर खावे या देखनेवाला पुरुष शक्कर खावे; तो इससे उसके मिठास के वेदन में कोई अन्तर नहीं है। अंधा पुरुष शक्कर को प्रत्यक्ष नहीं देखता, परन्तु उसे शक्कर की मिठास के स्वाद में कोई कमी नहीं है; उसीप्रकार आत्मा के आनन्द के वेदन में तो श्रुतज्ञानी और केवलज्ञानी में कोई अन्तर नहीं है ।[२]"

यहाँ अलिंगग्रहण का अर्थ शब्दार्थ के रूप में ऐसा समझना कि लिंग माने अनुमान, ग्रहण माने जानना और अ माने नहीं। तात्पर्य ऐसा है कि भगवान आत्मा प्रत्यक्षानुभूति का विषय होने से अकेले अनुमान से ही नहीं जाना जाता; अतः अलिंगग्रहण है ।

अरस, अरूप, अगंध, अस्पर्श, अशब्द, अव्यक्त, अनिर्दिष्टसंस्थान और अलिंगग्रहण – ये आठ विशेषण तो निषेधपरक हैं; परन्तु चेतनागुणवाला – यह नौवाँ विशेषण विधिपरक है। चेतनागुण आत्मा का मूलस्वभाव है। अतः आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति में इसकी महिमा बतानेवाले अनेक विशेषण लगाये हैं; जो आत्मख्याति के अर्थ में दिये ही जा चुके हैं। अतः उनके बारे में कुछ विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है ।

हाँ, एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि चेतनागुण आत्मा का असाधारण स्वभाव होने से वह समस्त विवादों का नाश करनेवाला है। ३९ से ४३वीं गाथा तक जो आठ प्रकार से मिथ्यावादियों की चर्चा की गई है और उनके द्वारा कथित आत्मा के स्वरूप की असत्यार्थता ४४वीं गाथा में बताई गई

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ २३९
२. वही, पृष्ठ २४०

है और अब यहाँ आत्मा को चेतनागुणवाला कहकर सब विवादों को निरस्त कर दिया है ।

टीका के अन्त में कहा गया है कि इन अरसादि नौ विशेषणों से युक्त, चैतन्यस्वरूप, निर्मल प्रकाशवाला, एक भगवान आत्मा ही परमार्थस्वरूप जीव है, जो इस लोक में पर से भिन्न ज्योतिस्वरूप टंकोत्कीर्ण विराजमान है ।

– इसप्रकार ४९वीं गाथा समाप्त हुई ।

अब ४९वीं गाथा में कहे गये भगवान आत्मा के अनुभव की प्रेरणा देते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कलशरूप काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम् ।
इममुपरि चरंतं चारु विश्वस्य साक्षात्
कलयतु परमात्मात्मानमात्मन्यनंतम् ॥३५॥

(हरिगीत)

चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।
चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धातमा ।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यातमा ॥३५॥

हे भव्यात्माओ ! चैतन्यशक्ति से रहित अन्य समस्त भावों को छोड़कर और अपने चैतन्यशक्तिमात्र भाव को प्रगटरूप से अवगाहन करके लोक के समस्त सुन्दरतम पदार्थों के ऊपर तैरनेवाले अर्थात् पर से पृथक् एवं सर्वश्रेष्ठ इस एकमात्र अविनाशी आत्मा को अपने आत्मा में ही देखो, अपने-आप में ही साक्षात्कार करो, साक्षात् अनुभव करो ।

४९वीं गाथा में आत्मा के अरसादि विशेषणों में अन्तिम विशेषण के रूप में चेतनागुण विशेषण आया है और उसे समस्त विवादों को नाश करनेवाला

बताया गया है। वह चेतनागुण भगवान आत्मा का असाधारण स्वभाव होने से आत्मा की पहिचान का चिन्ह है, लक्षण है। इसीकारण वह समस्त विवादों का नाश करनेवाला भी है। उसके साथ अविनाभावीरूप से रहनेवाले अनन्तगुण भी अभेदरूप से उसमें समाहित हैं। उसे यहाँ चित्शक्तिमात्र नाम से कहा गया है, उसे ज्ञानमात्र नाम से भी कहा जाता है ।

वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त जितने भी भाव हैं, जिन्हें आगामी गाथाओं में स्पष्टरूप से पौद्गलिक घोषित करनेवाले हैं; वे सभी भाव उस चित्शक्तिमात्र आत्मा से भिन्न हैं। उन सभी भावों से अपने उपयोग को हटाकर, अनन्तगुणों के अखण्डपिण्ड चित्शक्तिमात्र अविनाशी एक उसी भगवान आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणा इस कलश में दी गई है ।

अब आगामी गाथाओं की उत्थानिका स्वरूप कलश लिखते हैं –

(अनुष्टभ्)

चित्छक्तिव्याप्तसर्वस्वसारो जीव इयानयम् ।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी ॥३६॥

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन केवल वे हैं जीव ।
उन्हें छोड़कर और सब पुद्गलमयी अजीव ॥३६॥

जिसका सर्वस्व, जिसका सार चैतन्यशक्ति से व्याप्त है; वह जीव मात्र इतना ही है; क्योंकि इस चैतन्यशक्ति से शून्य जो भी अन्यभाव हैं, वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलजन्य हैं, पुद्गलमय हैं, पुद्गल ही हैं ।

इस छन्द का भाव अत्यन्त स्पष्ट है। अतः इसके सन्दर्भ में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है।

इस छन्द का भाव नाटक समयसार में इसप्रकार व्यक्त किया है –

"चेतनबंत अनंत गुन सहित सु आतम राम ।
यातें अनमिल और सब पुद्गल के परिणाम ॥"

समयसार गाथा ५० से ५५

जीव तो चैतन्यशक्तिमात्र ही है, चित् शक्ति ही जीव का सर्वस्व है, सबकुछ है। चित् शक्ति के अतिरिक्त जो भी भाव हैं; वे सभी पौद्गलिक हैं, पुद्गलद्रव्य के परिणाम हैं – यह भाव है ३६वें कलश का और यही भाव आगामी गाथाओं में भी व्यक्त किया गया है ।

वे गाथाएं मूलतः इसप्रकार हैं –

जीवस्स णत्थि वण्णो ण वि गंधो ण वि रसो ण वि य फासो ।
ण वि रूवं ण सरीरं ण वि संठाणं ण संहणणं ॥ ५० ॥
जीवस्स णत्थि रागो ण वि दोसो णेव विज्जदे मोहो ।
णो पच्चया ण कम्मं णोकम्मं चावि से णत्थि ॥ ५१ ॥
जीवस्स णत्थि वग्गो ण वग्गणा णेव फड्ढया केई ।
णो अज्झप्पट्ठाणा णेव य अणुभागठाणाणि ॥ ५२ ॥
जीवस्स णत्थि केई जोयट्ठाणा ण बंधठाणा वा ।
णेव य उदयट्ठाणा ण मग्गणट्ठाणया केई ॥ ५३ ॥
णो ठिदिबंधट्ठाणा जीवस्स ण संकिलेसठाणा वा ।
णेव विसोहिट्ठाणा णो संजमलद्धिठाणा वा ॥ ५४ ॥
णेव य जीवट्ठाणा ण गुणट्ठाणा य अत्थि जीवस्स ।
जेण दु एदे सव्वे पोग्गलदव्वस्स परिणामा ॥ ५५ ॥

(हरिगीत)

शुध जीव के रस गंध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना ।
यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना ॥ ५० ॥
ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के ।
प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के ॥ ५१ ॥

ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं ।
अर नहीं हैं अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी ॥ ५२॥
योग के स्थान नहिं अर बंध के स्थान ना ।
उदय के स्थान नहिं अर मार्गणास्थान ना ॥ ५३॥
थिति बंध के स्थान नहिं संक्लेश के स्थान ना ।
संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना ॥ ५४॥
जीव के स्थान नहिं गुणथान के स्थान ना ।
क्योंकि ये सब भाव पुद्‌गल द्रव्य के परिणाम हैं ॥ ५५॥

जीव के वर्ण नहीं है, गंध भी नहीं है, रस और स्पर्श भी नहीं है; रूप भी नहीं है, शरीर भी नहीं है, संस्थान और संहनन भी नहीं है ।

जीव के राग नहीं है, द्वेष नहीं है और मोह भी विद्यमान नहीं है; प्रत्यय नहीं है, कर्म भी नहीं है और नोकर्म भी नहीं है ।

जीव के वर्ग नहीं है, वर्गणा नहीं है और कोई स्पर्धक भी नहीं है; अध्यात्मस्थान और अनुभागस्थान भी नहीं है ।

जीव के कोई योगस्थान नहीं है, बंधस्थान नहीं है, उदयस्थान नहीं है और कोई मार्गणास्थान भी नहीं है ।

जीव के स्थितिबंधस्थान नहीं है, संक्लेशस्थान भी नहीं है, विशुद्धिस्थान भी नहीं है और संयमलब्धिस्थान भी नहीं है ।

जीव के जीवस्थान नहीं है और गुणस्थान भी नहीं है; क्योंकि ये सभी पुद्‌गलद्रव्य के परिणाम हैं ।

उक्त गाथाओं की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में उक्त २९ प्रकारों के भावों के भेद-प्रभेद गिनाते हुए भगवान आत्मा में उनके होने का निषेध करते हैं। जहाँ आवश्यकता समझते हैं; वहाँ उनका स्वरूप भी संक्षेप में स्पष्ट करते जाते हैं। सभी भावों के निषेध में वे एक ही तर्क देते हैं, एक ही युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि ये पुद्‌गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं, अनुभूतिस्वरूप भगवान आत्मा से भिन्न हैं ।

इन गाथाओं पर लिखी गई आत्मख्याति टीका का संक्षिप्त सार इसप्रकार है –

"(१) काला, हरा, पीला, लाल और सफेद – ये पाँच प्रकार के वर्ण जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२) सुगंध और दुर्गंध – ये दो प्रकार की गंध जीव नहीं है; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(३) कडुवा, कषायला, चरपरा, खट्टा और मीठा – ये पाँच प्रकार के रस जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(४) चिकना, रूखा, ठण्डा, गर्म, हल्का, भारी, कोमल और कठोर – ये आठ प्रकार के स्पर्श जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(५) स्पर्शादि चारों भावरूप सामान्य परिणाम मात्र रूप भी जीव नहीं है, क्योंकि यह रूप पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(६) औदारिक, वैक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण – ये पाँच प्रकार के शरीर भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(७) समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, स्वाति, कुब्जक, वामन और हुंडक – ये छह प्रकार के संस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(८) वज्रवृषभनाराच, वज्रनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलिका और असंप्राप्तासृपाटिका – ये छह प्रकार के संहनन भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(९) प्रीतिरूप राग भी जीव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(१०) अप्रीतिरूप द्वेष भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(११) यथार्थतत्त्व की अप्रतिपत्तिरूप (मिथ्यात्वरूप) मोह भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(१२) मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग जिसके लक्षण हैं – ऐसे प्रत्यय (आस्रव) भी जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(१३) ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय – ये आठों कर्म जीव नहीं हैं; क्योंकि ये पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(१४) छह पर्याप्तियों और तीन शरीरों के योग्य पुद्गलस्कंधरूप नोकर्म भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(१५) कर्म के रस की शक्तियों अर्थात् अविभागप्रतिच्छेदों का समूहरूप वर्ग भी जीव नहीं है; क्योंकि वह पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(१६) वर्गों के समूहरूप वर्गणा भी जीव नहीं है; क्योंकि वर्गणा भी पुद्गलद्रव्य का परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न है ।

(१७) मन्द-तीव्र रसवाले कर्मसमूह के विशिष्ट न्यास (जमाव) रूप अर्थात् वर्गणा के समूह रूप स्पर्धक भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(१८) स्व-पर के एकत्व के अध्यास होने पर, विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्नरूप है लक्षण जिनका, ऐसे अध्यात्मस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गल के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(१९) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के रस के परिणाम हैं लक्षण जिनके, वे अनुभागस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२०) काय, वचन और मनोवर्गणा के कम्पनरूप योगस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२१) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के परिणाम लक्षणवाले बंधस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२२) अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ कर्म-अवस्थारूप उदयस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२३) गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्यत्व, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार – ये चौदह मार्गणास्थान भी जीव नहीं है; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं।

(२४) भिन्न-भिन्न प्रकृतियों का सुनिश्चित काल तक साथ रहना है लक्षण जिनका – ऐसे स्थितिबंधस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२५) कषायों के विपाक का उद्रेक है लक्षण जिनका – ऐसे संक्लेशस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे भी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२६) कषायों के विपाक के अनुद्रेक लक्षणवाले विशुद्धिस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२७) चारित्रमोह के विपाक की क्रमशः निवृत्ति लक्षणवाले संयमलब्धिस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२८) पर्याप्त और अपर्याप्त – ऐसे बादर-सूक्ष्म एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संज्ञी-असंज्ञी पंचेन्द्रिय लक्षणवाले जीवस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

(२९) मिथ्यादृष्टि, सासादनसम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असंयत-सम्यग्दृष्टि, संयतासंयत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्तसंयत, अपूर्वकरण – उपशमक तथा क्षपक, अनिवृत्तिबादरसांपराय – उपशमक तथा क्षपक, सूक्ष्मसांपराय – उपशमक तथा क्षपक, उपशान्तकषाय, क्षीणकषाय, सयोगकेवली और अयोगकेवली भेदवाले गुणस्थान भी जीव नहीं हैं; क्योंकि वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं ।

इसप्रकार ये २९ प्रकार के भाव सभी पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से जीव नहीं हैं ।"

आचार्य अमृतचन्द्र की उक्त टीका में 'वे पुद्गलद्रव्य के परिणाममय होने से अपनी अनुभूति से भिन्न हैं' – यह वाक्य २९ बार दुहराया गया है। यह हेतु वाक्य है, जो उक्त भावों में जीवत्व के निषेध करने के लिए लिखा गया है ।

वैसे सम्पूर्ण टीका अत्यन्त स्पष्ट है, सुलभ है; अतः इसके अनुशीलन में कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं है; फिर भी कुछ बिन्दु ऐसे हैं, जिनका स्पष्टीकरण अपेक्षित है ।

(क) यद्यपि रूप और वर्ण – ये दोनों शब्द पर्यायवाची शब्दों के रूप में प्रयुक्त होते हैं; पर यहाँ पाँच प्रकार के रंगों को वर्ण कहा गया है और वर्ण, रस, गंध और स्पर्श – इन चारों के मिले हुए रूप को रूप कहा गया है ।

२९ बोलों में पहला बोल वर्ण का है और पाँचवाँ बोल रूप का है। इन दोनों को ध्यान से देखने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है ।

(ख) 'अध्यात्म' शब्द आत्मज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अधि माने जानना और आत्म माने आत्मा को। इसप्रकार आत्मा को जानना अध्यात्म है,

अतः आत्मज्ञान ही अध्यात्म है; पर यहाँ स्व और पर में एकत्व के अध्यास को अध्यात्मस्थान कहा गया है और उसे विशुद्ध चैतन्यपरिणाम से भिन्न वताया गया है। यह वात आप १८वें बोल के प्रकरण में देख सकते हैं ।

इन २९ प्रकार के भावों का विशेष स्वरूप गोम्मटसारादि ग्रन्थों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। अतः इनका स्वरूप विस्तार से जानने के लिए गोम्मटसारादि ग्रन्थों का अध्ययन करना चाहिए। इनका विशेष स्वरूप स्पष्ट करना यहाँ अभीष्ट नहीं; क्योंकि यहाँ तो मात्र इतना बताना ही अभीष्ट है कि ये सभी भाव दृष्टि के विषयभूत भगवान आत्मा में नहीं हैं ।

इन गाथाओं की टीका समाप्त करते हुए उपसंहार के रूप में आचार्य अमृतचन्द्र कलशरूप काव्य लिखते हैं, जो इसप्रकार है –

(शालिनी)

वर्णाद्या वा रागमोहादयो वा भिन्ना भावाः सर्व एवास्य पुंसः ।
तेनैवान्तस्तत्त्वतः पश्यतोऽमी नो दृष्टाः स्युर्दृष्टमेकं परं स्यात् ॥३७॥

(दोहा)

वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न ।
अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य ॥३७॥

वर्णादिक व राग-द्वेष-मोहादिक सभी २९ प्रकार के भाव इस भगवान आत्मा से भिन्न ही हैं। इसलिए अन्तर्दृष्टि से देखने पर भगवान आत्मा में ये सभी भाव दिखाई नहीं देते; किन्तु इन सबसे भिन्न एवं सर्वोपरि भगवान आत्मा ही एकमात्र दिखाई देता है ।

इस छन्द का पद्यानुवाद नाटक समयसार में इसप्रकार दिया गया है –

(दोहा)

वरनादिक रागादि यह रूप हमारौ नाहिं ।
एक ब्रह्म नहिं दूसरो दीसै अनुभव मांहि ॥

वर्णादि एवं रागादिरूप सभी २९ प्रकार के भाव हमारा स्वरूप नहीं है, ब्रह्मस्वरूप भगवान आत्मा इनसे भिन्न ही है। यही कारण है कि अनुभव में इन सभी भावों से भिन्न एक भगवान आत्मा ही दिखाई देता है ।

यद्यपि यहाँ वर्णादि से लेकर गुणस्थानपर्यन्त सभी २९ प्रकार के भावों को पौद्गलिक कहा गया है; तथापि उन्हें स्पष्टरूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। एक तो वे, जो स्पष्टरूप से पुद्गल हैं और जिनमें रूप, रस, गंध और स्पर्श पाये जाते हैं तथा दूसरे वे औपाधिकभाव, जो पुद्गलकर्म के उदय से आत्मा में उत्पन्न होते हैं ।

इस ३७वें कलश में उन २९ प्रकार के पौद्गलिकभावों को वर्णादि और रागादि कहकर इसीप्रकार के दो भेदों में विभाजित किया गया है। इसी कलश की छाया छहढाला की निम्नांकित पंक्तियों में झलकती है –

जिन परमपैनी सुबुधि छैनी डार अन्तर भेदिया ।
वर्णादि अरु रागादि से निजभाव को न्यारा किया ॥[१]

यहाँ वर्णादि में परभाव और रागादि में विकारीभाव लिए गये हैं। विकारीभावों को विभावभाव भी कहते हैं। इसप्रकार यहाँ परभाव और विभाव भावों से भिन्न निज भगवान आत्मा की आराधना की बात कही गई है ।

---

१. छहढाला, छठवीं ढाल, छन्द आठ का पूर्वार्द्ध

इन देहादिपरपदार्थों से भिन्न निज भगवान आत्मा में अपनापन स्थापित होना ही एक अभूतपूर्व अद्भुत क्रान्ति है, धर्म का आरम्भ है, सम्यग्दर्शन है, सम्यग्ज्ञान है, सम्यक्चारित्र है, साक्षात् मोक्ष का मार्ग है, भगवान बनने, समस्त दुःखों को दूर करने और अनन्त अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्त करने का एकमात्र उपाय है ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ ५१

समयसार गाथा ५६-५७

"वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो २९ प्रकार के भाव कहे हैं, वे जीव नहीं हैं" – ऐसा आप बार-बार कह रहे हैं; परन्तु सिद्धान्तग्रन्थों में तो इन्हें भी जीव के बताया गया है। तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के पहले सूत्र में औदयिकादि भावों को जीव का स्वतत्त्व कहा है ।

शिष्य की इस उलझन को मिटाने के लिए आगामी गाथाओं में यह स्पष्ट कर रहे हैं कि उन्हें व्यवहार से जीव के कहा है, पर वे निश्चय से जीव के नहीं हैं; क्योंकि उनमें जीव का असाधारण लक्षण उपयोग नहीं पाया जाता ।

वे गाथायें मूलतः इसप्रकार हैं –

ववहारेण दु एदे जीवस्स हवंति वण्णमादीया ।
गुणठाणंता भावा ण दु केई णिच्छयणयस्स ॥५६॥
एदेहिं य सम्बन्धो जहेव खीरोदयं मुणेदव्वो ।
ण य हुंति तस्स ताणि दु उवओगगुणाधिगो जम्हा ॥५७॥

(हरिगीत)

वर्णादि को व्यवहार से ही कहा जाता जीव के ।
परमार्थ से ये भाव भी होते नहीं हैं जीव के ॥५६॥
दूध-पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना ।
उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं ॥५७॥

ये वर्णादि से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो भाव कहे हैं, वे व्यवहारनय से तो जीव के हैं; किन्तु निश्चयनय से उनमें से कोई भी जीव के नहीं हैं ।

यद्यपि इन वर्णादिक भावों के साथ जीव का दूध और पानी की तरह एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग संबंध है; तथापि वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव उनसे उपयोग गुण से अधिक है । – ऐसा जानना चाहिए ।

उक्त गाथाओं का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं -

"सफेद रूई से बने हुए एवं कुसुम्बी (लाल) रंग से रंगे हुए वस्त्र के लाल रंगरूप औपाधिक भावों की भाँति पुद्गल के संयोगवश अनादिकाल से जिसकी बंधपर्याय प्रसिद्ध है - ऐसे जीव के औपाधिक भावों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता हुआ व्यवहारनय पर्यायाश्रित होने से दूसरे के भाव को दूसरे का कहता है और निश्चयनय द्रव्याश्रित होने से केवल एक जीव के स्वाभाविक भावों का अवलम्बन लेकर प्रवर्तित होता हुआ दूसरे के भाव को किंचित् मात्र भी दूसरे का नहीं कहता अर्थात् दूसरे के भाव को दूसरे का कहने का निषेध करता है ।

इसलिए वर्ण से लेकर गुणस्थान पर्यन्त जो २९ प्रकार के भाव हैं, वे व्यवहारनय से जीव के हैं और निश्चयनय से जीव के नहीं हैं - ऐसा कथन योग्य है ।

जिसप्रकार जलमिश्रित दूध का जल के साथ परस्पर अवगाहरूप संबंध होने पर भी स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण के द्वारा व्याप्त होने से दूध जल से भिन्न प्रतीत होता है; इसलिए अग्नि का उष्णता के साथ जिसप्रकार का तादात्म्यरूप संबंध है, जल के साथ दूध का उसप्रकार का संबंध न होने से निश्चय से जल दूध का नहीं है ।

इसीप्रकार वर्णादिरूप पुद्गलद्रव्य के परिणामों के साथ मिश्रित इस आत्मा का पुद्गल द्रव्य के साथ परस्पर अवगाहरूप संबंध होने पर भी स्वलक्षणभूत उपयोग गुण के द्वारा व्याप्त होने से आत्मा सर्व द्रव्यों से भिन्न प्रतीत होता है; इसलिए अग्नि का उष्णता के साथ जिसप्रकार का तादात्म्यरूप संबंध है, वर्णादिक के साथ आत्मा का उसप्रकार का संबंध नहीं है ।

इसलिए वर्णादिरूप पुद्गल के परिणाम निश्चय से आत्मा के नहीं हैं।"

आत्मख्याति के उक्त कथन में व्यवहारनय को पर्यायाश्रित और निश्चयनय को द्रव्याश्रित बताया गया है और साथ में यह भी कहा गया है कि पर्यायाश्रित होने से व्यवहारनय एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का कहता है तथा

निश्चयनय एक द्रव्य के भाव को दूसरे का नहीं कहता, अपितु एक द्रव्य के भाव को दूसरे द्रव्य का कहने का निषेध करता है, वह तो केवल स्वाभाविक भावों का आलम्बन लेकर ही प्रवर्तित होता है ।

उक्त नियम के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यन्त के सभी भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं ।

अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि वर्णादिभाव निश्चय से जीव के क्यों नहीं हैं ? इसके समाधान के लिए दूध और पानी तथा अग्नि और उष्णता का उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि जिसप्रकार दूध और जल का एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग संबंध है, उसीप्रकार का आत्मा का वर्णादि के साथ एकक्षेत्रावगाहरूप संयोग संबंध तो है और इसीकारण उन्हें व्यवहार से जीव का कहा जाता है; किन्तु जीव और वर्णादि का अग्नि और उष्णता के समान तादात्म्यसंबंध नहीं है; अत: उन्हें निश्चयनय से जीव का नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जीव का तादात्म्य संबंध तो अपने ज्ञान-दर्शनरूप उपयोग गुण से है। इसलिए जीव अपने उपयोग गुण के कारण वर्णादिभावों से भिन्न ही भासित होता है और यही परमार्थ है ।

उक्त सम्पूर्ण कथन में सबसे अधिक खटकनेवाली बात यह लगती है कि यहाँ वर्णादि के समान रागादि का भी, यहाँ तक कि गुणस्थानों का भी आत्मा के साथ दूध और जल के समान संयोग संबंध बताया गया है और उन्हें व्यवहार कहकर, वर्णादि के समान ही परद्रव्य में डाल दिया है ।

परद्रव्य के साथ संबंध बतानेवाले नय को नयचक्रादि ग्रन्थों में तो असद्भूतव्यवहारनय कहा गया है। तो क्या आचार्यदेव रागादिभावों एवं गुणस्थान आदि को भी असद्भूत व्यवहारनय का विषय बताना चाहते हैं। समझ में नहीं आता यहाँ ऐसा क्यों किया गया है, जबकि अन्य ग्रन्थों में, और इसी ग्रन्थ में भी अन्यत्र रागादिभावों को निश्चय से आत्मा का कहा गया है।

आत्मार्थी मुमुक्षु भाइयों के इस असमंजस को आचार्य जयसेन ने गहराई से अनुभव किया था। यही कारण है कि वे इन गाथाओं की तात्पर्यवृत्ति नामक

टीका में स्वयं इसप्रकार की शंका उपस्थित कर उसका समाधान करते हैं; जो इसप्रकार है –

"ननु वर्णादयो बहिरंङ्गास्तत्र व्यवहारेण क्षीरनीरवत् संश्लेषसंबंधों भवतु न चाभ्यंतराणां रागादीनां तत्राशुद्धनिश्चयेन भवितव्यमिति ।

नैवं, द्रव्यकर्मबंधापेक्षया योऽसौ असद्भूतव्यवहारस्तदपेक्षया तारतम्यज्ञापनार्थं रागादीनामशुद्धनिश्चयो भण्यते । वस्तुतस्तु शुद्धनिश्चयापेक्षया पुनरशुद्धनिश्चयोऽपि व्यवहार एवेति भावार्थः ।

शंका -- वर्णादि तो बहिरंग हैं; अतः उनके साथ आत्मा का दूध और पानी की तरह संश्लेष संबंध भले ही हो; किन्तु जो अन्तरंग है, ऐसे रागादि के साथ तो आत्मा का संश्लेष संबंध नहीं है, क्षणिक तादात्म्य है; अतः यहाँ तो अशुद्धनिश्चयनय कहना चाहिए; व्यवहार क्यों कहा जा रहा है ?

समाधान – ऐसा नहीं है; क्योंकि द्रव्यकर्म का जीव के साथ जो संबंध है, वह असद्भूतव्यवहारनय से है। उसकी अपेक्षा तारतम्य दिखाने के लिए, उससे भिन्न दिखाने के लिए रागादिभावों को अशुद्धनिश्चयनय में लिया है; परन्तु वास्तव में तो शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा अशुद्धनिश्चयनय भी व्यवहार ही है । – उक्त कथन का यही भाव है, भावार्थ है ।"

उक्त सम्पूर्ण स्थिति को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"यहाँ दो प्रकार के सम्बन्ध की बात की है – (१) अवगाह संबंध और (२) तादात्म्य संबंध ।

भगवान आत्मा का रागादि के साथ अवगाह संबंध है अर्थात् आत्मा का जैसा ज्ञानगुण के साथ तादात्म्य संबंध है, वैसा रागादि के साथ संबंध नहीं है। दूसरे प्रकार से कहें तो आत्मा की रागादि के साथ एकरूपता नहीं है; अर्थात् दोनों के बीच साँध है, सन्धि है, दरार है । इसकारण ज्ञान की पर्याय को स्वभाव में झुकाने पर दोनों जुदे पड़ जाते हैं ।[१]

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३०६-३०७

यह जो व्यवहाररत्नत्रय का राग है, इसके साथ आत्मा का अवगाह संबंध है, तादात्म्य संबंध नहीं है। इसकारण स्वलक्षणभूत ज्ञानगुण से देखने पर आत्मा वर्णादि और व्यवहाररत्नत्रय के राग से अधिक अर्थात् भिन्न ज्ञात होता है। पर्याय जब स्वभाव की ओर ढलती है, तब स्वभाव का गुणस्थान आदि भेदों से भिन्नपना भासित होता है। इसप्रकार रागादि के साथ आत्मा का तादात्म्यपना नहीं होने से निश्चय से सर्व रागादि पुद्‌गल के परिणाम हैं, आत्मा के परिणाम नहीं ।[१]

जिसतरह दृष्टान्त में 'स्वलक्षणभूत दुग्धत्वगुण' लिया था; उसीतरह सिद्धान्त में 'स्वलक्षणभूत उपयोग गुण' लिया है। आत्मा और पुण्य-पाप, गुणस्थान आदि भाव एक अवगाहना में व्याप्त होते हुए भी स्वलक्षणभूत उपयोग गुण से देखने पर अर्थात् परिणति के अन्तरंग में ढलने पर वे आत्मा से भिन्न ज्ञात होते हैं। इसकारण ये सभी अन्यभाव पर्याय में होते हुए भी द्रव्य में नहीं हैं – ऐसा कहते हैं ।

इसप्रकार आत्मा सर्व द्रव्यों और सर्व भावों से अधिकपने-भिन्नरूप से प्रतीत होता है ।[२]"

इसप्रकार इन दो गाथाओं में यही स्पष्ट किया गया है कि ये २९ प्रकार के भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं । •

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३०६
२. वही, पृष्ठ ३०५

विश्वविख्यात समस्त दर्शनों में जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है, जो निज भगवान आत्मा की आराधना को धर्म कहता है; स्वयं के दर्शन को सम्यग्दर्शन, स्वयं के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान और स्वयं के ध्यान को सम्यक् चारित्र कहकर इन सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को ही वास्तविक धर्म घोषित करता है ।

ईश्वर की गुलामी से भी मुक्त करनेवाला अनन्त स्वतंत्रता का उद्‌घोषक यह दर्शन प्रत्येक आत्मा को सर्वप्रभुतासम्पन्न परमात्मा घोषित करता है और उस परमात्मा को प्राप्त करने का उपाय भी स्वावलम्बन को ही बताता है ।

– बारहभावना : एक अनुशीलन, पृ. १६६

समयसार गाथा ५८-५९-६०

जब यह कहा जाता है कि ये भाव व्यवहार से जीव के हैं और निश्चय से जीव के नहीं; तब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि फिर तो व्यवहारनय निश्चयनय का विरोधी ही हुआ, उसे अविरोधक कैसे कहा जा सकता है ?

इसी प्रश्न का उत्तर आगामी तीन गाथाओं में दिया गया है, जो इसप्रकार है -

पंथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदि एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्य एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥
गंधरसफासरूवा देहो संठाणमाइया जे य ।
सव्वे ववहारस्स य णिच्छयदण्हू ववदिसंति ॥६०॥

(हरिगीत)

पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जग-जन कहें ।
पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें ॥५८॥
उस ही तरह रंग देखकर जड़ कर्म अर नोकर्म का ।
जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का ॥५९॥
इस ही तरह रस गंध तन संस्थान आदिक जीव के ।
व्यवहार से हैं – कहें वे जो जानते परमार्थ को ॥६०॥

जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए व्यक्ति को लुटता हुआ देखकर व्यवहारीजन ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है; किन्तु परमार्थ से विचार किया जाय तो कोई मार्ग तो लुटता नहीं है, अपितु मार्ग में चलता हुआ पथिक ही लुटता है।

इसीप्रकार जीव में कर्मों और नोकर्मों का वर्ण देखकर जिनेन्द्र भगवान व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि यह वर्ण जीव का है ।

जिसप्रकार वर्ण के वारे में कहा गया है, उसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, देह, संस्थान आदि के वारे में भी समझना चाहिए कि ये सव भाव भी व्यवहार से ही जीव के हैं – ऐसा निश्चयनय के देखनेवाले या निश्चयनय के जानकार कहते हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं का भाव इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"जिसप्रकार मार्ग में जाते हुए किसी संघ को लुटता देखकर, मार्ग में संघ की स्थिति होने से, उसका उपचार करके व्यवहारीजन यद्यपि ऐसा कहते हैं कि यह मार्ग लुटता है; तथापि निश्चय से देखा जाये तो आकाश के अमुक भागस्वरूप मार्ग कभी भी नहीं लुटता; क्योंकि उसका लुटना संभव ही नहीं है ।

इसीप्रकार जीव में वंधपर्यायरूप से अवस्थित कर्म और नोकर्म का वर्ण देखकर, कर्म और नोकर्म की जीव में स्थिति होने से उसका उपचार करके यद्यपि अरिहंतदेव भी व्यवहार से ऐसा कहते हैं कि जीव का यह वर्ण है; तथापि उपयोग गुण द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक होने से, भिन्न होने से अमूर्तस्वभावी जीव का निश्चय से कोई भी वर्ण नहीं है, रंग नहीं है ।

जिसप्रकार वर्ण के वारे में, रंग के वारे में समझा है; उसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन, राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, वंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिवंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान, जीवस्थान और गुणस्थान के वारे में भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि इन सभी को अरिहंत भगवान व्यवहार से जीव के कहते हैं; तथापि उपयोग गुण द्वारा अन्य द्रव्यों से अधिक होने से, भिन्न होने से इन भावों में से कोई भी निश्चय से जीव का नहीं है; क्योंकि इनका जीव के साथ तादात्म्य संवंध नहीं है ।"

देखो, गाथा में तो ऐसा कहा था कि निश्चयनय के जानकार ऐसा कहते हैं; पर आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में लिखते हैं कि अरिहंत भगवान ऐसा

कहते हैं। अरे भाई ! यह अरिहंत भगवान की कही हुई बात है। अरिहंत भगवान भी इन २९ प्रकार के भावों को व्यवहार से आत्मा के बताते हैं, परन्तु साथ में यह भी कहते हैं कि ये निश्चयनय से आत्मा में नहीं हैं ।

निश्चय और व्यवहार - दोनों नयों की बात अरिहंतभगवान की वाणी में आई है, उनकी वाणी भी स्याद्वादमयी है न । अतः उसमें भी दोनों नयों की बात आती है। इसलिए दोनों नयों के कथन का भाव समझकर, उनके प्रयोजन को जानकर अपने हित में लगना चाहिए ।

देखो, आचार्यदेव ने कितना अच्छा उदाहरण देकर बात स्पष्ट की है। आचार्यदेव कहते हैं कि मार्ग थोड़े ही लुटता है, लुटता तो संघ है; पर संघ को लुटता देखकर व्यवहार से कह दिया जाता है कि मार्ग लुटता है। मार्ग लुटता है - ऐसा कहने पर भी राहगीर यही समझते हैं कि राह (मार्ग) नहीं, राहगीर (पथिक) ही लुटते हैं और फिर वे उस राह (मार्ग) से नहीं जाते । इसप्रकार व्यवहार कथन से भी उनका प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, वे लुटने से बच जाते हैं । इसप्रकार व्यवहार भी अपने प्रयोजन को सिद्ध करनेवाला है। पर व्यवहार के इस कथन को सुनकर कोई उसे ही परमार्थ मान ले और यही समझले कि लुटता तो मार्ग है, हमें क्या डर है । - ऐसा विचार कर निशंकभाव से उस मार्ग में विचरण करे तो लुटेगा ही ।

इसीप्रकार विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिए व्यवहार से वर्णादि को जीव कहा है और वह अपने प्रयोजन की सिद्धि करने में पूर्ण सफल भी है; पर कोई नासमझ 'यह तो अरिहंत भगवान के वचन हैं' - ऐसा मानकर जीव को परमार्थ से भी वर्णादिवाला मान ले तो हानि ही उठायेगा। व्यवहार की जो स्थिति है, जो उपयोगिता है, जो प्रयोजन है; उसे भलीभाँति समझकर आत्महित में उसका भी उपयोग करना चाहिए; उसे सर्वथा सत्यार्थ या सर्वथा असत्यार्थ मानकर दिग्भ्रमित नहीं होना चाहिए ।

इसी बात को ध्यान में रखकर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"ये वर्ण से लेकर गुणस्थानपर्यंत भाव सिद्धान्त में जीव के कहे हैं – वे व्यवहारनय से कहे हैं, निश्चयनय से वे जीव के नहीं हैं; क्योंकि जीव तो परमार्थ से उपयोगस्वरूप है ।

यहाँ ऐसा जानना कि पहले व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा था, सो वहाँ ऐसा न समझना कि वह सर्वथा असत्यार्थ है; किन्तु कथंचित् असत्यार्थ जानना; क्योंकि जब एक द्रव्य को (परद्रव्य से) भिन्न, पर्यायों से अभेदरूप, उसके असाधारणगुण मात्र को प्रधान करके कहा जाता है; तब परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली पर्यायें – वे सब गौण हो जाते हैं। वे एक अभेदद्रव्य की दृष्टि में प्रतिभासित नहीं होते, इसलिये वे सब उस द्रव्य में नहीं हैं; इसप्रकार कथंचित् निषेध किया जाता है। यदि उन भावों को उस द्रव्य के कहा जाये तो वह व्यवहारनय से कहा जा सकता है – ऐसा नयविभाग है ।

यहाँ शुद्धनय की दृष्टि से कथन है, इसलिये ऐसा सिद्ध किया है कि जो ये समस्त भाव सिद्धान्त में जीव के कहे गये हैं, सो व्यवहार से कहे गये हैं। यदि निमित्त-नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखा जाये तो वह व्यवहार कथंचित् सत्यार्थ भी कहा जा सकता है। यदि सर्वथा असत्यार्थ ही कहा जाये तो सर्व व्यवहार का लोप हो जायेगा। इसलिये जिनेन्द्रदेव का उपदेश स्याद्वादरूप समझना ही सम्यक्ज्ञान है और सर्वथा-एकान्त, वह मिथ्यात्व है ।"

पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा के भावार्थ के भाव को स्वामीजी इसप्रकार स्पष्ट करते हैं ।

"जब जीव को सिद्ध करना हो तो उसका असाधारण लक्षण त्रिकाली उपयोगस्वरूप ज्ञानगुण को मुख्य करके कथन किया जाता है। उससमय परस्पर द्रव्यों का निमित्त-नैमित्तिक भाव तथा निमित्त से होनेवाली सर्व पर्यायें गौण हो जाती हैं। पर्यायों का अभाव नहीं होता, बल्कि गौण होती हैं । अभेद वस्तु की दृष्टि में, एक समय की पर्याय या भेद दिखाई नहीं देते । पहले सातवीं गाथा में विशेष स्पष्टीकरण आ चुका है कि अभेद में भेद दिखाई नहीं देते।

यदि भेद देखने लगे तो अभेद पर दृष्टि नहीं रहती। अतः अभेदवस्तु की दृष्टि से वस्तु में भेद नहीं है – ऐसा कहा है ।

संसारपर्याय की दृष्टि से देखने पर संसार है, उदयभाव है। संसार नहीं है – ऐसा जो कहा है, वह तो त्रिकाली ध्रुवद्रव्य की अपेक्षा से कहा है । त्रिकाली स्वभाव को अभेददृष्टि से देखने पर अर्थात् वर्तमान पर्याय को अभेद की ओर ढालने पर, अभेद में भेद दिखाई नहीं देता। इसकारण त्रिकाली द्रव्य में जीव के भेद नहीं है – ऐसा कहा है; परन्तु पर्याय में है – इसकारण कथंचित् (व्यवहार से) सत् है । तत्वार्थसूत्र में भी उदयभाव को जीवतत्व कहा है । पर्यायनय से राग, पुण्य आदि को जीवतत्त्व कहते हैं; परन्तु त्रिकाली द्रव्य की दृष्टि में पर्याय गौण हो जाती है। यदि कोई कहे कि संसार है ही नहीं, पर्याय में अशुद्धता है ही नहीं, तो भ्रान्ति है ।

प्रश्न – 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' – ऐसा किस अपेक्षा से है ?

उत्तर – पर्याय को गौण करके अभेद में दृष्टि करने पर वे भेद, अभेद में दिखाई नहीं देते – इस अपेक्षा से 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' कहो तो कोई आपत्ति नहीं है। यदि पर्याय, पर्याय की अपेक्षा से भी न हो तो संसार ही नहीं रहेगा और जब संसार की ही सिद्धि नहीं होगी तो संसारपूर्वक जो मोक्ष होता है, उसका भी अभाव सिद्ध होगा। इसप्रकार किसी भी पर्याय की सिद्धि नहीं होगी, वस्तु-व्यवस्था ही नहीं बनेगी ।

परमात्मप्रकाश के ४३ व ६८वें दोहे में आता है कि जीव के बन्ध-मोक्ष नहीं है तथा जीव के उत्पाद-व्यय नहीं है। वहाँ दोहा ४३ की टीका में लिखा है कि यद्यपि पर्यायार्थिकनय से उत्पाद-व्ययसहित है; तथापि द्रव्यार्थिकनय से उत्पाद-व्ययरहित है, सदा ध्रुव ही है। वही परमात्मा निर्विकल्पसमाधि के बल से तीर्थंकरदेवों ने देह में भी देख लिया है। देखो ! व्यवहारनय से जीव उत्पाद-व्ययसहित है। वर्तमान पर्याय की दृष्टि से देखें तो उत्पाद-व्यय है, संसार है, उदयभाव है; परन्तु द्रव्यार्थिकनय से देखें तो वस्तु में उत्पाद-व्यय नहीं है। त्रिकालीध्रुव द्रव्यस्वभाव में उत्पाद-व्यय नहीं है, किन्तु वर्तमान पर्याय में भी कोई उत्पाद-व्यय का निषेध करने लगे तो यह ठीक नहीं है।

दोहा ६८ की टीका में लिखा है कि 'यद्यपि यह आत्मा शुद्धात्मानुभूति के अभाव होने पर शुभ-अशुभ उपयोगरूप परिणमन करके शुभ-अशुभ कर्मबन्ध को करता है और शुद्धात्मानुभूति के प्रगट होने पर शुद्धोपयोग से परिणमित होकर कर्मबन्ध का अभाव करके मोक्षदशा को प्रगट करता है, तथापि शुद्धपारिणामिक परमभावग्राहक-शुद्धद्रव्यार्थिकनय से न बन्ध का कर्ता है और न मोक्ष का कर्ता है ।'

तब शिष्य ने प्रश्न किया कि 'हे प्रभो ! शुद्धद्रव्यार्थिकस्वरूप शुद्धनिश्चयनय से मोक्ष का भी कर्ता नहीं है तो क्या इस कथन से ऐसा समझें कि शुद्धनय से मोक्ष ही नहीं है और जब मोक्ष ही नहीं है तो उसके लिये प्रयत्न करना भी निरर्थक ही है ?'

शिष्य का समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं – 'मोक्ष बन्धपूर्वक होता है और बन्ध शुद्धनिश्चयनय से होता ही नहीं है, इसकारण बन्ध के अभावरूप मोक्ष भी शुद्धनिश्चयनय से नहीं है। यदि शुद्धनिश्चयनय से बन्ध हो तो सदैव बन्ध ही रहे, कभी बन्ध का अभाव नहीं हो ।'

देखो, व्यवहारनय से – अशुद्धनय से पर्याय में बन्ध है और बन्ध के अभावपूर्वक मोक्ष का मार्ग तथा मोक्ष भी है, किन्तु यह सब व्यवहारनय से है; निश्चयनय से बन्ध या मोक्ष नहीं है तथा बन्ध व मोक्ष के कारण भी नहीं हैं । अहा ! जैनदर्शन बहुत सूक्ष्म है। पर्याय में बन्ध है तथा बन्ध के नाश का उपाय भी है; परन्तु वह सब व्यवहार है, मोक्षमार्ग की पर्याय भी व्यवहार है। व्यवहाररत्नत्रय के शुभभावरूप विकल्प को उपचार से व्यवहार-मोक्षमार्ग कहा जाता है, उस शुभभावरूप व्यवहाररत्नत्रय की यहाँ बात नहीं है; बल्कि निर्मल आनन्दस्वरूप भगवान आत्मा की परिणति में जो शुद्धरत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग की दशा होती है, वह भी पर्याय होने से व्यवहार ही है ।

'व्यवहार से बन्ध है तथा व्यवहार से ही मोक्ष व मोक्षमार्ग होता है' – यही बात आगे दोहा ६८ की टीका में दृष्टान्त देकर समझाई है –

कोई एक पुरुष जेल में सांकल से बंधा है और कोई दूसरा पुरुष बन्धरहित है, कभी जेल गया ही नहीं; उनमें से जो पहले बंधा था, उसका मुक्त कहना

तो उचित लगता है; किन्तु जो बंधा ही नहीं था, कभी जेल गया ही नहीं था, उससे कहा जाय कि आप जेल से कब छूट गये ? तो ऐसा कहना क्या उचित है ? क्या वह इस बात को सुनकर क्रोध नहीं करेगा कि मैं जेल गया ही कब, जो छूटने की पूछते हो ? बन्धपूर्वक मोक्ष तो ठीक है, पर जब बन्ध ही नहीं, तो मोक्ष कहना कैसे ठीक होगा ?

इसीप्रकार यह जीव शुद्धनिश्चयनय से बंधा ही नहीं है, अतः मुक्त कहना भी ठीक नहीं है। अतः बन्ध भी व्यवहार से व मोक्ष भी व्यवहार से ही है। शुद्धनिश्चयनय से न बन्ध है, न मोक्ष है। अशुद्धनिश्चयनय से बंध है, इसलिए बन्ध के नाश का यत्न भी अवश्य करना चाहिए। इसलिये पर्याय में बन्ध व बन्ध के नाश का उपाय तथा मोक्ष व मोक्षमार्ग - ये सब व्यवहारनय से हैं, परन्तु त्रिकाली द्रव्यस्वभाव में ये नहीं हैं। इसप्रकार अपेक्षा से यथार्थ समझना चाहिए ।

इस कथन से ऐसा नहीं समझना कि व्यवहार की सत्ता है, इसलिये वह निश्चय का कारण भी है अर्थात् ऐसा नहीं मान लेना कि बन्ध-मार्ग की पर्याय मोक्षमार्ग को प्रगट करती है । यहाँ यह सिद्ध नहीं करना है कि 'व्यवहार निश्चय का कारण है' बल्कि यहाँ तो यह सिद्ध किया है कि 'व्यवहार है अर्थात् पर्याय है'। जिसतरह बन्ध की पर्याय है; उसीतरह मोक्ष व मोक्षमार्ग की पर्याय भी है ।

यहाँ कहते हैं कि पहले जो व्यवहारनय को असत्यार्थ कहा है, उसका अर्थ यह है कि पर्याय, संसार या मोक्ष - द्रव्य स्वभाव में नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा से व्यवहारनय को असत्य कहा है। इसकारण से वह सर्वथा है ही नहीं, ऐसा नहीं समझना। वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से तो वह व्यवहारनय है, इसकारण यह कथंचित् सत्यार्थ है। संसार है, उदयभाव है; इसप्रकार जो भाव २९ बोल द्वारा कहे हैं, वे सभी पर्याय की अपेक्षा हैं । एक समय के सम्बन्धवाली पर्याय अस्तिरूप से है, परन्तु आनन्दकन्द नित्यानन्द ध्रुव प्रभु जो अनादि-अनन्त चैतन्यप्रवाहरूप है; उसकी दृष्टि में भेद प्रतिभासित नहीं होते, इसकारण वे भेद द्रव्य में नहीं हैं - इसप्रकार कथंचित् निषेध किये गये

हैं। यदि उन पर्याय के भेदरूप भावों को द्रव्य के कहना चाहें तो व्यवहारनय से कह सकते हैं; पर निश्चय से वे द्रव्य में नहीं हैं । ऐसा निश्चय-व्यवहार का कथन यथार्थ समझना चाहिए ।

प्रश्न – व्यवहार सत्य है या नहीं ? यदि व्यवहार सत्य है तो व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है या नहीं ? और यदि व्यवहार-मोक्षमार्ग सत्य है तो वह निश्चय-मोक्षमार्ग का कारण है या नहीं ?

उत्तर – भाई ! पर्याय में जो एकसमय मात्र का बन्ध है, वह सत्य है। जो परमस्वभावभावरूप वस्तु है, उसकी एक समय की दशा में ये सब भेद हैं, इसलिए 'हैं' – ऐसा कहा है; परन्तु ये भेद त्रिकाली ध्रुव की दृष्टि में नहीं आते, इसकारण द्रव्यदृष्टि कराने के लिए 'वे नहीं हैं' – इसप्रकार उनका निषेध किया है । वे त्रिकाली सत्य नहीं हैं; तथापि व्यवहारनय से वे सत्य हैं; क्योंकि उनका वर्तमान पर्याय में अस्तित्व है। भाई ! यदि व्यवहारनय है तो उसका विषय भी है । इसीकारण तो कहा है कि व्यवहार को भी छोड़ना नहीं अर्थात् व्यवहारनय नहीं है – ऐसा नहीं मान लेना ।

यदि व्यवहार को नहीं मानेंगे तो चौथा, पाँचवाँ आदि गुणस्थान ही नहीं बनेंगे, किन्तु इसका यह अर्थ भी नहीं है कि व्यवहार से निश्चय होता है । इस व्यवहार के कारण (व्यवहार के आश्रय से) तीर्थ अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र होता है – ऐसा नहीं है ।

यहाँ कहते हैं कि ये भेदरूप भाव त्रिकाली ध्रुवद्रव्य में नहीं हैं – यह निश्चय है; परन्तु उसकी एकसमय की पर्याय में है, इसकारण द्रव्य में हैं, – ऐसा कहा जाए तो व्यवहार से कह सकते हैं। भाई ! ऐसा ही नयविभाग है ।[१]"

इसप्रकार आचार्य अमृतचन्द्र की टीका, पण्डित जयचंदजी छाबड़ा के भावार्थ और स्वामीजी के स्पष्टीकरण से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि व्यवहारनय निश्चयनय का विरोधी नहीं है; अपितु अविरोधक ही है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३१४ से ३१७ तक

समयसार गाथा ६१-६४

'वर्णादि भावों का जीव के साथ तादात्म्य संबंध न होने से वे निश्चय से जीव नहीं हैं' – अबतक पूरा वजन देकर इस बात को कहते आ रहे हैं; अतः शिष्य का प्रश्न यह है कि वर्णादिभावों का जीव के साथ तादात्म्य संबंध क्यों नहीं है ?

शिष्य की इस आशंका का समाधान आगामी चार गाथाओं में अनेक युक्तियों से किया जा रहा है ।

तत्थ भवे जीवाणं संसारत्थाण होंति वण्णादी ।
संसारपमुक्काणं णत्थि हु वण्णादओ केई ॥६१॥
जीवो चेव हि एदे सव्वे भाव त्ति मण्णसे जदि हि ।
जीवस्साजीवस्स य णत्थि विसेसो दु दे कोई ॥६२॥
अह संसारत्थाणं जीवाणं तुज्झ होंति वण्णादी ।
तम्हा संसारत्था जीवा रूवित्तमावण्णा ॥६३॥
एवं पोग्गलदव्वं जीवो तहलक्खणेण मूढमदी ।
णिव्वाणमुवगदो वि य जीवत्तं पोग्गलो पत्तो ॥६४॥

(हरिगीत)

जो जीव हैं संसार में वर्णादि उनके ही कहे ।
जो मुक्त हैं संसार से वर्णादि उनके हैं नहीं ॥६१॥
वर्णादिमय ही जीव हैं तुम यदी मानो इसतरह ।
तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह ? ॥६२॥
मानो उन्हें वर्णादिमय जो जीव हैं संसार में ।
तब जीव संसारी सभी वर्णादिमय हो जायेंगे ॥६३॥
यदि लक्षणों की एकता से जीव हों पुद्गल सभी ।
बस इसतरह तो सिद्ध होंगे सिद्ध भी पुद्गलमयी ॥६४॥

वर्णादिभाव संसारी जीवों के ही होते हैं, मुक्त जीवों के नहीं। यदि तुम ऐसा मानोगे कि ये वर्णादिभाव जीव ही हैं तो तुम्हारे मत में जीव और अजीव का कोई अन्तर ही न रहेगा। यदि तुम ऐसा मानो कि संसारी जीव के ही वर्णादिक होते हैं; इसकारण संसारी जीव तो रूपी हो ही गये। किन्तु रूपित्व लक्षण तो पुद्गलद्रव्य का है। अत: हे मूढ़मति पुद्गलद्रव्य ही जीव कहलाया। अकेले संसारावस्था में ही नहीं, अपितु निर्वाण प्राप्त होने पर भी पुद्गल ही जीवत्व को प्राप्त हुआ ।

उक्त युक्तियों से आचार्यदेव यह बताना चाहते हैं कि वर्णादि का जीव के साथ तादात्म्य नहीं है; इसलिए वे निश्चय से जीव नहीं हो सकते ।

जयचन्दजी छावड़ा ने उक्त गाथाओं के भावार्थ में गाथाओं के भाव को अत्यन्त सरल भाषा में प्रस्तुत कर दिया है। अत: सर्वप्रथम उसका अवलोकन कर लेना ही उपयुक्त है; जो इसप्रकार है –

"द्रव्य की सर्व अवस्थाओं में द्रव्य के जो भाव व्याप्त होते हैं, उन भावों के साथ द्रव्य का तादात्म्यसम्बन्ध कहलाता है। पुद्गल की सर्व अवस्थाओं में (पुद्गल में) वर्णादि भाव व्याप्त हैं, इसलिये वर्णादिभावों के साथ पुद्गल का तादात्म्यसम्बन्ध है । संसारावस्था में जीव में वर्णादि भाव किसीप्रकार से कहे भी जा सकते हैं, किन्तु मोक्ष-अवस्था में तो जीव में वर्णादि भाव सर्वथा नहीं हैं; इसलिये जीव का वर्णादि भावों के साथ तादात्म्यसम्बन्ध नहीं है, यह बात न्यायप्राप्त है ।

जिसप्रकार वर्णादिकभाव पुद्गलद्रव्य के साथ तादात्म्यस्वरूप हैं, उसीप्रकार जीव के साथ तादात्म्यस्वरूप हों तो जीव-पुद्गल में कोई भी भेद न रहे और ऐसा होने से जीव का ही अभाव हो जाये – यह महादोष आता है ।

यदि ऐसा माना जाय कि संसार-अवस्था में जीव का वर्णादि के साथ तादात्म्यसम्बन्ध है तो जीव मूर्तिक हुआ; और मूर्तिकत्व तो पुद्गलद्रव्य का लक्षण है; इसलिये पुद्गलद्रव्य ही जीवद्रव्य सिद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त कोई

चैतन्यरूप जीवद्रव्य नहीं रहा। और मोक्ष होने पर भी उन पुद्गलों का ही मोक्ष हुआ; इसलिये मोक्ष में भी पुद्गल ही जीव ठहरे, अन्य कोई चैतन्यरूप जीव नहीं रहा। इसप्रकार संसार तथा मोक्ष में पुद्गल से भिन्न ऐसा कोई चैतन्यरूप जीवद्रव्य न रहने से जीव का ही अभाव हो गया। इसलिये मात्र संसार-अवस्था में ही वर्णादि भाव जीव के हैं - ऐसा मानने से भी जीव का अभाव ही होता है ।"

जयचन्दजी छाबड़ा के उक्त भावार्थ में आत्मख्याति और तात्पर्यवृत्ति टीका का पूरा भाव आ गया है। अब जो थोड़ी-बहुत अस्पष्टता रह जाती है, वह स्वामीजी के निम्नांकित कथन से स्पष्ट हो जाती है -

"जो निश्चय से सभी अवस्थाओं में स्वरूपपने से व्याप्त हो तथा उस स्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं हो, उनका तादात्म्यलक्षण संबंध होता है। जिसप्रकार ज्ञान के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षणसंबंध है; क्योंकि आत्मा की सर्व अवस्थाओं में वह ज्ञान स्वरूपपने व्याप्त रहता है और आत्मा कभी भी ज्ञानस्वरूपपने की व्याप्ति से रहित नहीं होता। रागादिरूप उदयभाव के साथ आत्मा का तादात्म्यलक्षण संबंध नहीं है; क्योंकि आत्मा सर्व अवस्थाओं में उदयभाव के साथ व्याप्त नहीं रहता। संसार अवस्था में तो उदयभाव है, परन्तु मोक्ष अवस्था में नहीं है ।[१]

पुद्गल की सभी अवस्थाओं में वे वर्णादिभाव व्याप्त रहते हैं तथा पुद्गल उन वर्णादि की व्याप्ति से कभी भी रहित नहीं होता; इसलिए वर्णादिभावों का पुद्गल के साथ तादात्म्यसंबंध है, किन्तु आत्मा के साथ नहीं है ।

वे वर्णादि व रागादि आत्मा के साथ संसार-अवस्था में कथंचित् व्याप्त रहते हैं; तथापि मोक्ष अवस्था में उनकी व्याप्ति बिल्कुल नहीं है। इसलिए उनका जीव के साथ तादात्म्यलक्षणसंबंध नहीं है ।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३२३
२. वही, पृष्ठ ३२४

वर्ण से लेकर गुणस्थान तक के सभी भावों का जिसप्रकार पुद्गल के साथ तादात्म्य-संबंध है, उसीप्रकार जीव के साथ भी तादात्म्यपना हो तो जीव व पुद्गल में कोई भेद नहीं रहेगा और ऐसा होने पर जीव का ही अभाव ठहरेगा ।[१]

जिसका अभिप्राय या श्रद्धान ऐसा है कि भले ही मोक्ष-अवस्था में रागादि का जीव के साथ तादात्म्यसंबंध न हो; परन्तु संसार अवस्था में तो जीव का रागादिभावों के साथ संबंध है ।

उनसे कहते हैं कि हे भाई ! यदि संसारावस्था में भी ज्ञान का वर्णादि भावों के साथ संबंध हो तो संसारावस्था के काल में तेरे मत के अनुसार जीव अवश्य ही रूपित्व को प्राप्त होगा । .....

यहाँ ऐसा कहते हैं कि संसारावस्था में भी रागादिभाव आत्मा के नहीं हैं। संसार-अवस्था में जीव का रंग, राग व भेदभावों के साथ तादात्म्यसंबंध नहीं है; तथापि यदि तेरा अभिप्राय ऐसा ही हो कि ज्ञानानन्दस्वभावी जीव के संसारावस्था में रंग, राग व भेद के भावों से तादात्म्य है तो आत्मा अवश्य ही रूपीपने को प्राप्त होगा ।[२]

भाई ! रंग-राग-भेद से तो पुद्गल को ही तन्मयपना है । यदि संसार-अवस्था में आत्मा को इससे तन्मयपना मानेंगे तो आत्मा रूपी-पुद्गल ही हो जायेगा, फिर संसार-अवस्था से पलटकर जब मोक्ष होगा तो किसका मोक्ष होगा ? पुद्गल का ही मोक्ष होगा अर्थात् मोक्ष में पुद्गल ही रहेगा, जीव नहीं रहेगा। एक अवस्था में यदि रंग-राग-भेद जीव से तन्मय हों तो दूसरी अवस्था में भी वे जीव से तन्मय अर्थात् एकमेक ही रहेंगे। अतः जब संसार-अवस्था में जीव पुद्गल से तन्मय है तो मोक्ष-अवस्था में भी पुद्गल से तन्मय ही रहेगा अर्थात् पुद्गल का ही मोक्ष होगा ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३३३
२. वही, पृष्ठ ३३६

अहो ! दिगम्बर सन्तों ने गजब वस्तुस्वरूप बताया है ।[1]"

उक्त सम्पूर्ण कथन से यही स्पष्ट होता है कि जीव का वर्णादि २९ प्रकार के भावों के साथ न मोक्ष अवस्था में तादात्म्यसंबंध है और न संसारावस्था में । अतः ये सभी पुद्गलरूप भाव निश्चय से जीव से भिन्न ही हैं ।

ध्यान रहे – यहाँ जिस जीव की बात चल रही है, वह जीव परमार्थ जीव है, दृष्टि का विषयभूत जीव है, ध्यान का ध्येय और परमशुद्धनिश्चयनयरूप ज्ञान का ज्ञेयरूप जीव है, परमपारिणामिकभावरूप जीव है ।

इस जीव के आश्रय से ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र की प्राप्ति होती है। अपने इस जीव में अपनापन स्थापित करने का नाम ही सम्यग्दर्शन है, इसे निज जानने का नाम ही सम्यग्ज्ञान है और इसमें ही जमने-रमने का नाम सम्यक्चारित्र है। यही जिनागम का सर्वस्व है, परमागम का सर्वस्व है ।

अरे भाई, अधिक क्या कहें ? आत्मार्थी के लिए तो यही सब कुछ है; जो कुछ है, सो यही है। यही एकमात्र धर्म का आधार है । अतः इसे जानना ही जानना है और सब तो बस यों ही है, भार झोकना ही है ।

अतः आत्मार्थियों को इसे जानने में ही जीवन लगा देना चाहिए, इसका अनुभव करने में ही सम्पूर्णतः समर्पित हो जाना चाहिए; व्यर्थ के विवादों से उपयोग को हटाकर इसमें समर्पित हो जाना ही उपयोग का सदुपयोग है, मानवजीवन की सार्थकता है ।

यही कारण है आचार्यदेव यहाँ उसके स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए पूरी शक्ति लगा रहे हैं, इतना विस्तार कर रहे हैं । ०

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३४०

उपयोग का आत्मसन्मुख होना ही आत्मा की सच्ची उपासना है। जब वह उपयोग निरन्तर आत्मसन्मुख होता है तो उस उपासना को साध्यभाव की उपासना कहते हैं और जब वह कभी-कभी आत्म-सम्मुख होता है तो उसे साधकभाव की उपासना कहते हैं। पर एक बात तो निश्चित ही है कि आत्मा की उपासना तो आत्मसन्मुख होने में ही है, आत्मज्ञान में ही है, आत्मध्यान में ही है, अपने में अपनापन स्थापित करने में ही है ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ १९८

समयसार गाथा ६५-६६

"ये २९ प्रकार के भाव जीव नहीं हैं" – यह सिद्ध करने के उपरान्त अब आचार्यदेव इस विषय के उपसंहार की ओर बढ़ते हुए कहते हैं –

एक्कं च दोण्णि तिण्णि य चत्तारि य पंच इन्दिया जीवा ।
बादरपज्जत्तिदरा पयडीओ णामकम्मस्स ॥६५॥
एदाहि य णिव्वत्ता जीवट्ठाणाउ करणभूदाहिं ।
पयडीहिं पुग्गलमइहिं ताहिं कहं भण्णदे जीवो ॥६६॥

(हरिगीत)

एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं जो नाम नामक कर्म की ।
पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब ॥६५॥
इनकी अपेक्षा कहे जाते जीव के स्थान जो ।
कैसे कहें – 'वे जीव हैं' – जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी ॥६६॥

एक-इन्द्रिय, दो-इन्द्रिय, तीन-इन्द्रिय, चार-इन्द्रिय, पांच-इन्द्रिय, बादर, सूक्ष्म, पर्याप्त और अपर्याप्त जीव – ये नामकर्म की प्रकृतियाँ हैं । इन पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों से करणरूप होकर रचित जीवस्थानों को जीव कैसे कहा जा सकता है ?

आचार्य जयसेन तात्पर्यवृत्ति टीका में उक्त गाथाओं की उत्थानिका में ही लिखते हैं कि शुद्ध निश्चयनय से जब ये चौदह जीवस्थान (जीवसमास) भी जीव का स्वरूप नहीं है तो फिर देहगत वर्णादिक जीव का स्वरूप कैसे हो सकते हैं ?

यद्यपि गाथा में अकेले जीवस्थान की बात कही है, तथापि गाथा का तात्पर्य यही है कि नामकर्म के उदय से होनेवाले वर्णादिक सभी भाव जीव नहीं हैं। इसी बात को आचार्य जयसेन ने उत्थानिका में स्पष्ट किया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में इन गाथाओं के भाव को सोदाहरण इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

"निश्चयनय से कर्म और करण की अभिन्नता होने से जो भाव जिससे किया जाता है, वह वही होता है । इस नियम के अनुसार जिसप्रकार सोने का पत्र (वर्क) सोने से निर्मित होने से सोना ही है, अन्य कुछ नहीं; उसीप्रकार वादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त नामक पुद्गलमयी नामकर्म की प्रकृतियों के किये जाने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं ।

नामकर्म की प्रकृतियों की पुद्गलमयता तो आगम में प्रसिद्ध ही है और अनुमान से भी जानी जा सकती है; क्योंकि प्रत्यक्ष दिखाई देने वाले शरीरादि मूर्तिकभाव कर्मप्रकृतियों के कार्य हैं; इसलिए कर्म प्रकृतियाँ पुदगलमय हैं । – ऐसा अनुमान किया जा सकता है ।

जिसप्रकार यहाँ जीवस्थानों को पौद्गलिक सिद्ध किया है, उसीप्रकार गंध, रस, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान और संहनन भी पुद्गल से अभिन्न हैं। अतः मात्र जीवस्थानों को ही पुद्गल कहे जाने पर भी इन सभी को पुद्गलमय कहा गया समझ लेना चाहिए ।

अतः यह निश्चय सिद्धान्त है, अटल सिद्धान्त है कि वर्णादिक जीव नहीं हैं ।"

ध्यान रहे २९ भावों में से यहाँ वे ही भाव लिए हैं, जो नामकर्म के उदय से होते हैं; क्योंकि मोहकर्म के उदय से होनेवाले भावों को ६८वीं गाथा में लेंगे ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने जो बात टीका में स्पष्ट की है, उसी को वे इसी टीका में समागत दो कलशों में इसप्रकार व्यक्त करते हैं –

(उपजाति)

निर्वर्त्यते येन यदत्र किंचित् तदेव तत्स्यान्न कथंचनान्यत् ।
रुक्मेण निर्वृत्तमिहासिकोशं पश्यंति रुक्मं न कथंचनासिम् ।।३८।।
वर्णादिसामग्र्यमिदं विदंतु निर्माणमेकस्य हि पुद्गलस्य ।
ततोऽस्त्विदं पुद्गल एव नात्मा यतः स विज्ञानघनस्ततोऽन्यः ।। ३९ ।।

(दोहा)

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
स्वर्णम्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥ ३८ ॥
वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गलजन्य ।
एक शुद्ध विज्ञानघन आतम इनसे भिन्न ॥ ३९ ॥

जिस वस्तु से जो भाव बनता है, वह भाव वह वस्तु ही है; किसी भी प्रकार अन्य वस्तु नहीं है; क्योंकि स्वर्ण निर्मित म्यान को लोग स्वर्ण के रूप में ही देखते हैं, तलवार के रूप में नहीं।

अतः हे ज्ञानीजनो ! इन वर्णादिक से लेकर गुणस्थान पर्यन्त भावों को एक पुद्गल की ही रचना जानो, पुद्गल ही जानो; ये भाव पुद्गल ही हों, आत्मा न हों; क्योंकि आत्मा तो विज्ञानघन है, ज्ञान का पुंज है; इसलिए इन भावों से भिन्न है ।

टीका और कलश में एक-सा भाव होने पर भी उदाहरण में थोड़ा-सा अन्तर है। टीका में स्वर्णपत्र लिया है जबकि कलश में स्वर्ण की म्यान ली है। इसीप्रकार टीका में सोने के लिए 'कनक' शब्द का उपयोग किया गया है और कलश में 'रुक्म' शब्द का प्रयोग है ।

'रुक्म' शब्द का अर्थ परमाध्यात्मतरंगिणी में आचार्य शुभचन्द्र ने, समयसार वचनिका में जयचन्दजी ने, सप्तदशांगीटीका में सहजानन्दजी वर्णी ने एवं अध्यात्म-अमृत कलश में पण्डित जगन्मोहनलालजी ने स्वर्ण ही किया है; किन्तु पाण्डे राजमलजी ने कलश टीका में रुक्म शब्द का अर्थ चाँदी किया है ।

पाण्डे राजमलजी की कलशटीका के आधार पर निर्मित होने पर भी कविवर पण्डित बनारसीदासजी कनक (स्वर्ण) शब्द का ही प्रयोग करते हैं, चाँदी का नहीं; जो इसप्रकार है ।

(दोहा)

"खांडो कहिये कनक कौ कनक-म्यान संयोग ।
न्यारौ निरखत म्यान सौं लोह कहे सब लोग ॥

वरनादि पुद्गल दसा धरै जीव बहुरूप।
वस्तु विचारत करमसौं भिन्न एक चिद्रूप ॥

जिसप्रकार सोने की म्यान में रखी हुई तलवार को यद्यपि सभी लोग सोने की तलवार कहते हैं; परन्तु म्यान से न्यारी देखने पर सभी लोग उसे लोह की ही कहते हैं ।

उसीप्रकार यद्यपि पौद्गलिक वर्णादिक के संयोग से जीव अनेक रूप धारण करता है, तथापि वस्तुस्वरूप का विचार करने पर भगवान आत्मा तो कर्मों से भिन्न एक चैतन्यस्वरूप तत्व ही है ।"

'रुक्म' शब्द का अर्थ चाँदी करो या सोना, उससे मूल प्रतिपाद्य में तो कोई अन्तर आता नहीं है; क्योंकि इसे तो दृष्टान्त के रूप में रखा गया है, दार्ष्टान्त में तो कोई अन्तर है ही नहीं ।

आचार्य जयसेन ने स्वर्णपत्र और सोने की म्यान के सन्दर्भ में आचार्य अमृतचन्द्र की टीका का अनुकरण न करके टीका में ही समागत कलश का अनुकरण किया है। तात्पर्य यह हैं कि उन्होंने उदाहरण के रूप में स्वर्णपत्र न लेकर स्वर्ण का असिकोश (म्यान) लिया है ।

उदाहरण कुछ भी दिये गये हों, पर इन गाथाओं में मूल बात तो यही कही गई है कि वर्ण, रस, गंध, स्पर्श, रूप, शरीर, संस्थान, संहनन और जीवस्थान निश्चय से जीव नहीं हैं, अजीव ही हैं, पुद्गल ही हैं । ०

भगवान और भगवानदास

अरे भाई, पर भगवान या पर्यायरूप भगवान की शरण में जानेवाले भगवानदास बनते हैं, भगवान नहीं। यदि स्वयं ही पर्याय में भगवान बनना हो तो निज भगवान आत्मा की ही शरण में जाना होगा, उसे ही जानना-पहिचानना होगा, उसमें ही अपनापन स्थापित करना होगा, उसका ही ध्यान धरना होगा, उसमें ही समा जाना होगा – इस बात को कभी भूलना नहीं चाहिए ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ २०३

समयसार गाथा ६७

मूल बात तो यह है कि नामकर्म के उदय से होनेवाले वर्णादिभाव निश्चय से जीव नहीं; उन्हें जो जीव कहा जाता है, वह मात्र व्यवहारकथन ही है।

इसी बात को अब इस ६७वीं गाथा में कह रहे हैं ।

पज्जत्तापज्जत्ता जे सुहुमा बादरा य जे चेव ।
देहस्स जीवसण्णा सुत्ते ववहारदो उत्ता ॥६७॥

(हरिगीत)

पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म वादर आदि सब ।
जड़ देह की है जीव संज्ञा सूत्र में व्यवहार से ॥६७॥

शास्त्रों में देह के पर्याप्तक, अपर्याप्तक, सूक्ष्म, वादर आदि जितने भी नाम जीवरूप में दिये गये हैं; वे सभी व्यवहारनय से ही दिये गये हैं ।

यद्यपि यह भगवान आत्मा ज्ञान का घनपिण्ड और आनन्द का रसकंद है, ज्ञानानन्दस्वभावी है; तथापि शास्त्रों में भी इस आत्मा को पर्याप्तकजीव, अपर्याप्तकजीव, सूक्ष्मजीव, वादरजीव, एकेन्द्रियजीव, द्वीन्द्रियजीव, संज्ञीजीव, असंज्ञीजीव आदि नामों से अभिहित किया जाता है। शास्त्रों का यह कथन परमार्थकथन नहीं है, मात्र व्यवहारकथन ही है। इस कथन को परमार्थकथन के समान सत्यार्थ मानकर इन्हें सत्यार्थ जीव नहीं मान लिया जाय – इस गाथा में इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित कर विशेष सावधान किया गया है ।

आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्मख्याति और कलश दोनों में ही घी के घड़े का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की है; जो इसप्रकार है –

"बादर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, पर्याप्त, अपर्याप्त – इन शारीरिक संज्ञाओं को सूत्र में जो जीव संज्ञा के रूप में कहा गया है, वह पर की प्रसिद्धि के कारण घी के घड़े की भाँति व्यवहार है और वह अप्रयोजनार्थ है ।

जिसप्रकार किसी पुरुष के जन्म से ही मात्र घी का घड़ा ही प्रसिद्ध हो, उससे भिन्न अन्य घड़े को वह जानता ही न हो; ऐसे पुरुष को समझाने के लिए 'जो यह घी का घड़ा है, सो मिट्टीमय है, घीमय नहीं' – इसप्रकार घड़े में घी के घड़े का व्यवहार किया जाता है; क्योंकि उस पुरुष को घी का घड़ा ही प्रसिद्ध है ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादि संसार से एक अशुद्धजीव ही प्रसिद्ध है, वह शुद्ध जीव को जानता ही नहीं है; उसे समझाने के लिए 'जो यह वर्णादिमान जीव है, वह ज्ञानमय है, वर्णादिमय नहीं' – इसप्रकार जीव में वर्णादिमयपने का व्यवहार किया गया है; क्योंकि अज्ञानी लोक को वर्णादिमान जीव ही प्रसिद्ध है ।''

टीका में समागत कलश इसप्रकार है –

(अनुष्टभ्)

''घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत् ।
जीवो वर्णादिमज्जीवजल्पनेऽपि न तन्मयः ॥४०॥

(दोहा)

कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय ।
कहने से वर्णादिमय जीव न तन्मय होय ॥४०॥

जिसप्रकार 'घी का घड़ा' कहे जाने पर भी घड़ा घीमय नहीं हो जाता; उसीप्रकार 'वर्णादिमान जीव' कहे जाने पर भी जीव वर्णादिमय नहीं हो जाता ।

समयसार नाटक में इस कलश का भावानुवाद इसप्रकार किया गया है –

''ज्यौं घट कहिये घीव कौ घट कौ रूप न घीव ।
त्यौं वरनादिक नाम सौं जड़ता लहै न जीव ॥''

पुराने जमाने में घी भी मिट्टी के घड़ों में ही रखा जाता था। इसके लिए घड़े को विशेष रूप से तैयार किया जाता था। मिट्टी का होने से वह स्वयं बहुत घी सोख लेता था। अत: कीमती भी हो जाता था। उसमें पहले कुछ दिन पानी भरा जाता था। उसके बाद छाछ भरी जाती थी, जिससे वह छाछ की

चिकनाई सोख ले। उसके बाद घी रखने के काम लिया जाता था। ऐसे घड़े पीढ़ी-दरपीढ़ी चलते थे और उन्हें घर में घी का घड़ा के नाम से ही अभिहित किया जाता था। अतः बहुत से लोग उसे जन्म से घी के घड़े के रूप में ही जानते थे, घी के घड़े के नाम से ही जानते थे ।

यहाँ इसीप्रकार का घड़ा और उसे जन्म से ही घी के घड़े के रूप में जाननेवाले व्यक्ति को उदाहरण के रूप में लिया गया है ।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति यह मानले कि जिसे घी का घड़ा कहा जाता है, वह घी से ही बना होगा, घीमय होगा; तो उसे समझाते हैं कि जो यह घी का घड़ा है वह घी से नहीं बना है, घीमय नहीं है; अपितु मिट्टी से ही बना है, मिट्टीमय ही है ।

इसीप्रकार इस अज्ञानी लोक को अनादिकाल से एक अशुद्धजीव ही प्रसिद्ध है, वर्णादिमय जीव ही प्रसिद्ध है; रागादिमय जीव ही प्रसिद्ध है; वह शुद्धजीव को जानता ही नहीं है, वर्णादिरहित जीव को जानता ही नहीं है; रागादिरहित जीव को जानता ही नहीं है; अतः उसे समझाते हुए कहते हैं कि जो यह वर्णादिमान जीव है, वह वर्णादिमय नहीं है, अपितु ज्ञानमय ही है; जो यह रागादिमान जीव है, वह रागादिमय नहीं, ज्ञानमय ही है ।

'जो यह वर्णादिमान जीव है' – ऐसा कहकर व्यवहार की स्थापना की है, व्यवहार का ज्ञान कराया है; और 'वह वर्णादिमय नहीं, ज्ञानमय है' – ऐसा कहकर व्यवहार का निषेध किया, निश्चय की स्थापना की है ।

वर्ण के साथ लगे आदि शब्द से २९ भावों में वर्ण को छोड़कर शेष २८ भाव भी ले लेना चाहिए और उक्त कथन वर्ण के समान ही उन पर भी घटित करना चाहिए ।

जो यह रसवाला जीव है, वह रसमय नहीं, ज्ञानमय है; जो यह रागवाला जीव है, वह रागमय नहीं, ज्ञानमय है; जो गुणस्थानवाला जीव है, वह गुणस्थानमय नहीं, ज्ञानमय है; जो जीवस्थानवाला जीव है, वह जीवस्थानमय नहीं, ज्ञानमय है। – इसीप्रकार सभी २९ भावों पर घटित करना चाहिए ।

इनके प्रभेदों पर भी इसीप्रकार घटित करना चाहिए। इस ६७वीं गाथा में जीवस्थान के प्रभेदों पर इस बात को ही घटित किया गया है; क्योंकि सूक्ष्म, वादर, पर्याप्तक, अपर्याप्तक भेद जीवस्थान अर्थात् जीवसमास के ही हैं ।

प्रश्न – इसे चौदह जीव स्थानों पर किसप्रकार घटित करें ?

उत्तर – इसे १४ जीवसमासों या जीवस्थानों पर इसप्रकार घटित करना चाहिए –

जो यह वादरेकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव है, वह वादरेकेन्द्रिय पर्याप्तकमय नहीं है, ज्ञानमय है; जो यह सूक्ष्मेकेन्द्रिय पर्याप्तक जीव है, वह सूक्ष्मेकेन्द्रिय पर्याप्तकमय नहीं है, ज्ञानमय है; जो द्वीन्द्रियपर्याप्तक जीव है, वह द्वीन्द्रिय पर्याप्तकमय नहीं; ज्ञानमय है ।

इसीप्रकार १४ भंग बनाने चाहिए ।

इसीप्रकार गुणस्थानों पर भी घटित करना चाहिए। जैसे – जो यह मिथ्यात्व गुणस्थानवाला जीव है, वह मिथ्यात्वगुणस्थानमय नहीं है, ज्ञानमय है ।

इसप्रकार १४ भंग गुणस्थान के भी बन जावेंगे ।

चौदह मार्गणाओं पर घटित करने पर और भी अधिक विस्तार हो जायेगा; क्योंकि जब गतिमार्गणा पर घटित करेंगे तो उसके भेदों पर भी घटित करना होगा । जैसे – जो देवजीव है, वह देवगतिमय नहीं है, ज्ञानमय है; यह मनुष्यजीव है, वह मनुष्यगतिमय नहीं है, ज्ञानमय है ।

इसीप्रकार अन्य मार्गणाओं पर भी घटित होगा ।

इसीप्रकार २९ बोलों के सभी भेद-प्रभेदों पर घटित करके समझना चाहिए। उन भेद-प्रभेदों पर विशेषरूप से ध्यान देना चाहिए कि जिनमें हमारे सहज ही एकत्व के विकल्प चलते हैं ।

यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि इस गाथा की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र ने व्यवहार को अप्रयोजनार्थ कहा है। जयचन्दजी छाबड़ा आदि लगभग सभी ने इसका अर्थ अप्रयोजनभूत ही किया है ।

स्वामीजी ने इसपर विस्तार से प्रकाश डाला है, जो इसप्रकार है –

"घी के घड़े की भाँति व्यवहार से समझाया है, परन्तु यह व्यवहार अप्रयोजनभूत है। 'राग आत्मा है' – यह कहना अप्रयोजनभूत है, क्योंकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। इसीप्रकार गुणस्थान, जीवस्थान, मार्गणास्थान आदि में आत्मा तन्मय नहीं है, इसलिए उसको जीव का कहना अप्रयोजनार्थ है, असत्यार्थ है; क्योंकि इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता।

कलशटीका में ३९वें कलश में कहा है कि 'कोई आशंका करता है कि कहने में तो ऐसा ही कहा जाता है – एकेन्द्रियजीव द्वीन्द्रियजीव इत्यादि; देवजीव, मनुष्यजीव इत्यादि; रागीजीव, द्वेषीजीव इत्यादि ।

उत्तर इसप्रकार है कि कहने में तो व्यवहार से ऐसा ही कहा जाता है, किन्तु निश्चय से ऐसा कहना झूठा है ।

तथा कलशटीका में ही ४०वें कलश में भी यही दृढ़ किया है कि आगम में गुणस्थानों का स्वरूप कहा है, वहाँ देवजीव, मनुष्यजीव, रागीजीव, द्वेषजीव इत्यादि बहुत प्रकार से कहा है, सो यह सब ही कथन व्यवहारमात्र से है, द्रव्यस्वरूप देखने पर ऐसा कहना झूठा है ।[१]

प्रश्न – प्रवचनसार की गाथा १८९ में ऐसा आता है कि निश्चय से आत्मा शुभाशुभभावों का, पुण्य-पाप के भावों का कर्ता और भोक्ता है तथा प्रवचनसार गाथा ८ में ऐसा कहा है कि शुभ, अशुभ या शुद्धरूप से परिणत जीव उन्हीं से तन्मय है ? इन कथनों का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर – भाई ! वहाँ तो पर्याय शुभाशुभभावों से एकरूप है, मात्र इतना बताना है। इसलिए त्रिकाली द्रव्य शुभाशुभभावों में तन्मय नहीं हो गया है। प्रवचनसार के उस प्रकरण में वर्तमान पर्याय के बराबर ही वस्तु की स्थिति सिद्ध की है। यहाँ तो अकेले त्रिकाली द्रव्य की सिद्धि करना है। त्रिकाली आत्मद्रव्य तो शुद्ध विज्ञानघन भगवान ही है, वह कभी शुभाशुभभावरूप हुआ ही नहीं है। समयसार की ६७वीं गाथा में भी आता है कि ज्ञायकस्वभावी

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३६२-३६३

भगवान आत्मा कभी भी शुभाशुभभावरूप नहीं हुआ है, तथापि 'शुभाशुभरूप हुआ है' - ऐसा कहना व्यवहार है ।

यदि भगवान आत्मा शुभाशुभभाव के स्वभावरूप से परिणमित हो जाय तो वह जड़-अचेतन हो जाय। भाई! भक्ति व महाव्रतादि के जो शुभभाव हैं, वे जड-अचेतन हैं; क्योंकि इनमें चैतन्य की किरण नहीं है। वहाँ प्रवचनसार में पर्याय की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय है - ऐसा कहा है, परन्तु यहाँ द्रव्य की अपेक्षा से कथन है। द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा शुभाशुभभाव से तन्मय नहीं है - ऐसा सिद्ध किया है ।

प्रवचनसार की १८९वीं गाथा में जो ऐसा कहा है कि निश्चय से आत्मा राग का कर्ता व भोक्ता है; वहाँ यह अभिप्राय है कि राग आत्मा की परिणति है, आत्मा स्वतः राग का कर्ता है तथा स्वतः भोक्ता है। पर की परिणति को जीव की कहना व्यवहारनय है तथा जीव की परिणति को जीव की कहना निश्चयनय है - इस अपेक्षा से आत्मा राग का कर्ता है - ऐसा उक्त कथन का अर्थ है ।

प्रश्न - फिर जीव राग का कर्ता है या नहीं - दोनों में सत्य क्या है ?

उत्तर - अपेक्षा से दोनों ही बातें सत्य हैं। प्रवचनसार के ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन में वस्तु की पर्याय सिद्ध की है, जबकि यहाँ द्रव्य सिद्ध करना है। द्रव्यदृष्टि से देखने पर वस्तु जो ज्ञायकमात्र है, उसमें राग है ही नहीं ।[१]

प्रवचनसार में पर्याय के परिणमन की बात है और यहाँ द्रव्यस्वभाव की बात है। दोनों की अपेक्षा जुदी-जुदी है। प्रवचनसार में यह बताने का प्रयोजन है कि राग पर्याय में होता है, वह कहीं अन्यत्र या अधर में (आकाश में) नहीं होता; अपनी ही पर्याय में होता है। तथा यहाँ शुद्धस्वरूप का ज्ञान कराना है, जीव को अजीव से भिन्न बताना है ।[२]

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३६३-३६४
२. वही, पृष्ठ ३६८

प्रवचनसार की गाथा १८९ में ऐसा आता है कि शुद्धनय से आत्मा विकार का कर्ता स्वतः है। पंचास्तिकाय की गाथा ६२ में भी कहा है कि आत्मा की विकारी पर्याय का परिणमन अपने षट्कारकों से स्वतः है तथा अन्य कारकों से निरपेक्ष हैं। अर्थात् जीव की पर्याय में जो विकार का परिणमन होता है, उसे कर्म के उदय की अपेक्षा नहीं है। परन्तु यहाँ अपेक्षा भिन्न है। यहाँ तो यह कहते हैं कि पर्याय में जो विकार होता है, वह स्वभाव में नहीं है। अतः पर्याय के विकार और जड़कर्म – दोनों को एक मानकर विकार कर्मप्रकृति के उदयपूर्वक होता है – ऐसा कहा है। प्रकृति जड़/अचेतन है, इसकारण विकार भी अचेतन है – ऐसा कहा है ।[१]"

प्रश्न – आप व्यवहार को अप्रयोजनभूत कहते हैं, यह तो ठीक नहीं है?

उत्तर – अरे भाई ! हम कहते हैं कि आचार्यदेव कह रहे हैं। आत्मख्याति में मूल में ही 'अप्रयोजनार्थ' शब्द पड़ा है ।

प्रश्न – तो क्या वह सर्वथा अप्रयोजनभूत है ?

उत्तर – कौन कहता है कि सर्वथा अप्रयोजनभूत है। पर यहाँ निश्चयनय के विषयभूत शुद्धात्मद्रव्य के निरूपण के प्रकरण में अप्रयोजनभूत है, अभूतार्थ है, असत्यार्थ है ।

यही आशय आचार्य अमृतचन्द्र का है और इसीप्रकार का स्पष्टीकरण लगभग सभी ने किया है। स्वामीजी ने भी इसीप्रकार का स्पष्टीकरण किया है।

प्रश्न – नञ् समास का प्रयोग ईषद् अर्थ में भी तो होता है। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में प्रथम अध्याय के १४वें सूत्र की व्याख्या में अनुदराकन्या का उदाहरण देकर बात स्पष्ट की है ।

अनुदराकन्या का अर्थ होता है बिना पेट की कन्या, पर बिना पेट की कन्या होना संभव नहीं है। जो अर्थ संभव हो, वही करना चाहिए। अतः यहाँ पेट की स्थूलता का अभाव ही अभीष्ट है, पेट का अभाव नहीं ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३७३

इसीप्रकार यहाँ भी नञ् समास का प्रयोग होने से मूलभूत प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला नहीं है – यह अर्थ भी किया जा सकता है ।

उत्तर – हाँ, किया जा सकता है; क्योंकि मुख्य प्रयोजन की सिद्धि करनेवाला न होने से ही यहाँ व्यवहार को अप्रयोजनार्थ कहा है। साथ में यह भी कहा है कि वह व्यवहार परप्रसिद्धि का ही कारण है। निमित्त का ज्ञान करानेवाला होने से, संयोग का ज्ञान करानेवाला होने से उसे परप्रसिद्धि का कारण कहा है और असंयोगी आत्मतत्त्व के ज्ञान कराने में असमर्थ होने से अप्रयोजनभूत कहा है ।

प्रश्न – उन दोनों अर्थों में कौन-सा अर्थ उत्तम है ?

उत्तर – दोनों ही उत्तम हैं; क्योंकि दोनों में कोई अन्तर ही नहीं है। दोनों अर्थों में आखिर एक ही बात तो स्पष्ट की है कि संयोग का ज्ञान करानेवाला व्यवहार, आत्मा को वर्णादि और रागादिमान कहनेवाला व्यवहार वर्णादि और रागादि से रहित असंयोगी आत्मतत्त्व का ज्ञान कराने में अप्रयोजनभूत है, परतत्त्व की प्रसिद्धि करनेवाला व्यवहार निजात्मतत्त्व की प्रसिद्धि, अनुभूति कराने में असमर्थ है; अतः अप्रयोजनार्थ है ।

इसप्रकार इस गाथा में यह बताया कि वर्णादिभाव जीव नहीं हैं और आगामी गाथा में यह स्पष्ट करेंगे कि रागादिभाव भी जीव नहीं हैं। अथवा इस गाथा में यह बताया कि जीवस्थान जीव नहीं है और आगामी गाथा में यह बतायेंगे कि गुणस्थान भी जीव नहीं हैं । •

जैनियों के भगवान विषय-कषाय और उसकी पोषक सामग्री तो देते ही नहीं, वे तो अलौकिक सुख और शान्ति भी नहीं देते; मात्र सच्ची सुख-शान्ति प्राप्त करने का उपाय बता देते हैं। यह भी एक अद्भुत बात है कि जैनियों के भगवान भगवान बनने का उपाय बताते हैं। जगत में ऐसा कोई अन्य दर्शन हो तो बताओ कि जिसमें भगवान अपने अनुयायियों को स्वयं के समान ही भगवान बनने का मार्ग बताते हों। भगवान में लीन हो जाने की बात, उनकी कृपा प्राप्त करने की बात तो सभी करते हैं, पर तुम स्वभाव से तो स्वयं भगवान हो ही और पर्याय में भी भगवान बन सकते हो – यह बात मात्र जैनियों के भगवान ही कहते हैं; साथ में वे भगवान बनने की विधि भी बताते हैं ।

– आत्मा ही है शरण, पृष्ठ २१७

समयसार गाथा ६८

मोहणकम्मस्सुदया दु वण्णिया जे इमे गुणट्ठाणा ।
ते कह हवंति जीवा जे णिच्चमचेदणा उत्ता ॥ ६८॥

(हरिगीत)

मोहन-करम के उदय से गुणस्थान जो जिनवर कहे ।
वे जीव कैसे हो सकें जो नित अचेतन ही कहे ॥ ६८॥

मोहकर्म के उदय से होनेवाले गुणस्थान सदा ही अचेतन हैं – ऐसा जिनेन्द्रदेव ने कहा है; अत: वे जीव कैसे हो सकते हैं ?

यद्यपि ६५, ६६ एवं ६७वीं गाथाओं में यह कहा गया था कि जीवस्थान जीव नहीं है और इस ६८वीं गाथा में यह कहा जा रहा है कि गुणस्थान जीव नहीं हैं; तथापि आचार्य अमृतचन्द्र आत्मख्याति में ६५ व ६६वीं गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं कि वर्णादिकभाव जीव नहीं हैं और ६८वीं गाथा की उत्थानिका में लिखते हैं कि रागादिभाव जीव नहीं हैं ।

आचार्य अमृतचन्द्र वर्ण के साथ लगे आदि शब्द में नामकर्म के उदय से होनेवाले जीवस्थान, रूप, रस, गंध, स्पर्श, शरीर, संस्थान और संहनन को लेते हैं और रागादि में लगे हुए आदि शब्द में मोहकर्म के उदय में होनेवाले द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान और गुणस्थानों के लेते हैं ।

वे जीवस्थान को वर्णादि के प्रतिनिधि और गुणस्थान को रागादि के प्रतिनिधि के रूप में ग्रहण करते हैं। इसप्रकार वे वर्णादि व रागादि में अथवा जीवस्थान और गुणस्थानों में मिलाकर पूर्वोक्त सभी २९ भावों को समाहित कर लेते हैं।

ये २९ प्रकार के भाव निश्चय से जीव नहीं हैं। यदि इन्हें आगम या परमागम में कहीं जीव कहा है तो वह घी के घड़े की भाँति व्यवहारकथन है। यह बात ६७वीं गाथा में स्पष्ट की गई है ।

आत्मख्याति में ६८वीं गाथा का भाव इसप्रकार स्पष्ट किया गया है –

"जिसप्रकार जौपूर्वक जौ ही होते हैं; उसीप्रकार पुद्गल पुद्गलपूर्वक ही होते हैं, अचेतन अचेतनपूर्वक ही होते हैं ।– इस नियम के अनुसार मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थान पौद्गलिक अचेतन मोहकर्म की प्रकृति के उदयपूर्वक होने से सदा पुद्गल ही हैं, अचेतन ही हैं; चेतन नहीं हैं, जीव नहीं हैं ।

गुणस्थानों का नित्य-अचेतनत्व आगम से सिद्ध है और वे गुणस्थान भेदज्ञानियों को चैतन्यस्वभावी आत्मा से सदा ही भिन्न उपलब्ध हैं; इसलिए भी उनका सदा अचेतनत्व सिद्ध होता है ।

इसीप्रकार राग, द्वेष, मोह, प्रत्यय, कर्म, नोकर्म, वर्ग, वर्गणा, स्पर्धक, अध्यात्मस्थान, अनुभागस्थान, योगस्थान, बंधस्थान, उदयस्थान, मार्गणास्थान, स्थितिबंधस्थान, संक्लेशस्थान, विशुद्धिस्थान और संयमलब्धिस्थान भी पुद्गलकर्मपूर्वक होते होने से, इसकारण सदा ही अचेतन होने से पुद्गल ही हैं, जीव नहीं। ऐसा स्वतः सिद्ध हो गया ।

इससे यह सिद्ध हुआ कि रागादिभाव जीव नहीं हैं ।"

इसी बात को जयचंदजी छावड़ा ने भावार्थ में सरल-सुबोध भाषा में इसप्रकार व्यक्त किया है –

"शुद्धद्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में चैतन्य अभेद है और उसके परिणाम भी स्वाभाविक ज्ञान-दर्शन हैं। परनिमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार, यद्यपि चैतन्य जैसे दिखाई देते हैं; तथापि चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्यापक न होने से चैतन्य शून्य हैं, जड़ हैं और आगम में भी उन्हें अचेतन कहा है। भेदज्ञानी भी उन्हें चैतन्य से भिन्नरूप अनुभव करते हैं; इसलिए भी वे अचेतन हैं, चेतन नहीं ।

प्रश्न – यदि वे चेतन नहीं हैं तो क्या हैं – पुद्गल या कुछ और ?

उत्तर – वे पुद्गलकर्मपूर्वक होते हैं, इसलिए निश्चय से पुद्गल ही है; क्योंकि कारण जैसा ही कार्य होता है ।

इसप्रकार यह सिद्ध हुआ कि पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से होनेवाले चैतन्य के विकार भी जीव नहीं, पुद्गल हैं ।''

उक्त सम्पूर्ण कथन पर ध्यान देने से यह बात अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है कि यहाँ पुण्य-पापरूप सभी शुभाशुभ भावों को आत्मा से भिन्न अचेतन कहा जा रहा है, जड़ कहा जा रहा है, पुद्गल कहा जा रहा है। अरे भाई ! इनसे धर्म कैसे हो सकता है ? जब विशुद्धिस्थान, संयमलब्धिस्थान भी जड़ हैं; तो फिर कौन-सा शुभभाव शेष रहा, जिसे धर्म कहा जाय ?

चेतन का धर्म तो चेतन के आश्रय से होता है। जब ये चेतन ही नहीं, जीव ही नहीं; तो इनके आश्रय धर्म भी कैसे हो सकता है ?

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि आप एक ओर तो रागादिभावों को पुद्गल की रचना कहते हैं और दूसरी ओर जीव की विकारी पर्याय बताते हैं – इससे भ्रम उत्पन्न होता है ।

अरे भाई ! विभिन्न स्थानों पर विभिन्न अपेक्षाओं से कथन होता है । जबतक हम उन अपेक्षाओं को अच्छी तरह नहीं समझेंगे, तबतक भ्रमित ही होते रहेंगे ।

आध्यात्मिक सत्पुरुष श्रीकानजीस्वामी इन अपेक्षाओं को इसप्रकार स्पष्ट करते हैं –

''यहाँ कहते हैं कि ये वर्णादि सभी भाव पुद्गल के ही हैं, इन्हें पुद्गल की ही रचना जानो! यह कथन किस अपेक्षा से किया है ?

ऐसा प्रश्न होने पर आचार्य उत्तर देते हैं कि राग की रचना तो पर्याय में अपने विपरीत पुरुषार्थ से होती है; इसलिए राग का परिणमन स्वयं जीव का है, उसमें कर्म निमित्त है। कर्म निमित्त है अवश्य, किन्तु निमित्त से राग नहीं हुआ – यह भी एक सिद्धान्त है; किन्तु यहाँ दूसरे सिद्धान्त की अपेक्षा से कहा है कि राग

का कर्ता आत्मा नहीं है। आत्मा में अकर्ता नाम का एक गुण है, इसकारण राग करने का उसका स्वभाव ही नहीं है; इसलिए राग की रचना पुद्‌गल द्रव्य से होती है – ऐसा कहा है। पुद्‌गल कारण है तथा राग उसका कार्य है, क्योंकि वे दोनों अभिन्न हैं। यहाँ वस्तु के स्वभाव अर्थात् चिदानन्दस्वरूप भगवान आत्मा की दृष्टि कराना है ।[१]

यहाँ जीव उसे कहा है कि जो अखण्ड अभेद एकरूप चैतन्यघनस्वरूप है । इस चैतन्यघनस्वरूप आत्मा की दृष्टि करने से ही सम्यग्दर्शन अर्थात् धर्म का प्रथम सोपान प्रगट होता है । ऐसे शुद्ध जीव की दृष्टि कराने के लिए यहाँ रंग, राग व भेद के भावों को पुद्‌गल की ही रचना है – ऐसा कहा है ।

यहाँ तो आत्मद्रव्य का पूर्णस्वभाव बताना है; परन्तु जब पर्याय की बात हो, तब पर्याय में जीव स्वयं राग करता है और पुद्‌गल तो इसमें निमित्तमात्र है – ऐसा कहने में आता है । निमित्त से राग होता है – ऐसा नहीं है। विकार के परिणमन में परकारक की भी अपेक्षा नहीं है । इसप्रकार पंचास्तिकाय में पर्याय की अस्ति सिद्ध की है तथा जब राग होता है, तब निमित्त भी होता ही है – ऐसा प्रमाणज्ञान कराने के लिए राग स्वयं से होता है – ऐसा निश्चय का ज्ञान रखकर 'राग निमित्त से हुआ है' – ऐसा निमित्त का ज्ञान कराया जाता है। निश्चय को उड़ाकर निमित्त का ज्ञान नहीं कराया जाता। भाई ! यहाँ तो प्रमाण व व्यवहार – दोनों को गौण किया है। भगवान आत्मा चैतन्यसूर्य है, इस चैतन्यसूर्य का प्रकाश चैतन्यमय ही होता है, इसमें राग का अन्धकार कहाँ से हो ? यह तो अचेतन-पुद्‌गल का ही कार्य है ।[२]

प्रश्न – राग व द्वेष के परिणामों को पुद्‌गल का क्यों कहा ?

उत्तर – एक तो वे परिणाम निकल जाते हैं और दूसरे वे जीव के स्वभावमय नहीं हैं, इसलिए उन्हें पुद्‌गल का कहा है ।[३]

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३५८
२. वही, पृष्ठ ३५८-३५९
३. वही, पृष्ठ ३६०

एकसमय की पर्याय में जो रागादि व भेदादिभाव होते हैं; वे पुद्गल के ही कार्य हैं, क्योंकि वे चैतन्यस्वरूप वस्तु में नहीं हैं । वस्तु तो त्रिकाली शुद्ध चैतन्यघन सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान है । वह विकार व भेद का कारण कैसे हो सकती है ? इसकारण निमित्त के आधीन हुए राग व भेदादिभाव पुद्गल की ही रचना है – ऐसा जानो ! ऐसा ही अनुभव करो ।[१]"

अब यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि जब ये भाव जीव नहीं हैं तो जीव क्या हैं, जीव कैसा है, जीव कौन है? – इसी प्रश्न के उत्तर में आगामी कलश लिखा गया है; जो इसप्रकार है –

(अनुष्टुभ्)

अनाद्यनंतमचलं स्वसंवेद्यमिदं स्फुटम् ।
जीवः स्वयं तु चैतन्यमुच्चैश्चकचकायते ॥ ४१ ॥

(दोहा)

स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगात अत्यन्त ॥

जो अनादि है, अनन्त है, अचल है, स्वसंवेद्य है, प्रगट है, चैतन्यस्वरूप है और अत्यन्त प्रकाशमान है, वही जीव है ।

इस कलश का पद्यानुवाद समयसार नाटक में इसप्रकार दिया गया है –

(दोहा)

निराबाध चेतन अलख जाने सहज स्वकीव ।
अचल अनादि अनंत नित प्रगट जगत में जीव ॥

उपर्युक्त २९ भावों से रहित यह भगवान आत्मा अनादि है, अनन्त है, अचल है। न तो कभी इसका आरंभ हुआ है और न कभी अन्त ही होनेवाला है। यह जन्म-मरण से रहित है, क्योंकि लोक में जन्म आदि का और मरण अन्त का सूचक है। जब यह आत्मा अनादि-अनन्त है तो इसके जन्म-मरण कैसे हो सकते हैं? इसे किसी ने बनाया भी नहीं है और न इसका कोई नाश ही कर सकता है; क्योंकि यह अनादि-अनन्त-अचल तत्त्व है ।

---

१. प्रवचनरत्नाकर (हिन्दी) भाग-२, पृष्ठ ३६०

अपने स्वभाव में अटलरूप से स्थित होने से यह अचल है। किसी भी स्थिति में यह अपने ज्ञानानन्दस्वभाव से चलायमान नहीं होता। अतः अपने में पूर्ण सुरक्षित है। इसे अपनी सुरक्षा के लिए किसी पर के सहयोग की रंचमात्र भी आवश्यकता नहीं है ।

इसका निर्माणकर्ता, विनाशकर्ता और रक्षणकर्ता कोई नहीं है; क्योंकि यह स्वयं अनादि-अनन्त और अचलतत्त्व है। यह ज्ञान-दर्शनस्वभावी होने से चैतन्य है; अपने चैतन्यस्वभाव से सदा प्रगट है और यह स्वयं जगमगाती हुई जलहलज्योति है, प्रकाशमान ज्योति है। यह कोई छुपा हुआ पदार्थ नहीं है, अपितु यह प्रकाशमान जलहलज्योति, सूर्य के समान स्वयं प्रकाशित हो रही है और जगत को प्रकाशित करने में भी पूर्ण समर्थ है ।

ऐसा यह ज्ञान-दर्शनस्वभावी अनादि-अनन्त अचल आत्मतत्त्व स्वसंवेद्य है, स्वानुभूति से जाना जा सकता है । 'नहीं जाना जा सकता' । – ऐसा भी नहीं है और वर्णादि व रागादि से जाना जावे – ऐसा भी नहीं है, व्रत-शील-संयम से जाना जावे – ऐसा भी नहीं है। यह एकमात्र स्वानुभूति से ही जाना जा सकता है ।

कहा भी है कि "आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व मैं ज्ञानानंदस्वभावी हूँ ।"

ऐसा यह भगवान आत्मा मैं ही हूँ। इसमें ही अपनापन सम्यग्दर्शन है, इसे ही निजरूप में जानना सम्यग्ज्ञान है और इसमें ही जमना-रमना सम्यक्चारित्र है। यही धर्म है, मुक्ति का मार्ग है, सन्मार्ग है, सुखी होने का उपाय है ।

अब आगामी कलश में यह स्पष्ट करते हैं कि जीव का लक्षण चेतनत्व ही क्यों है ।

(शार्दूलविक्रीडित)

वर्णाद्यैः सहितस्तथा विरहितो द्वेधास्त्यजीवो यतो ।
नामूर्तत्त्वमुपास्य पश्यति जगज्जीवस्य तत्त्वं ततः ॥
इत्यालोच्य विवेचकैः समुचितं नाव्याप्यतिव्यापि वा ।
व्यक्तं व्यंजित जीवतत्त्वमचलं चैतन्यमालंब्यताम् ॥४२॥

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके ।
सोचकर विचारकर भलीभांति ज्ञानियों ने,
कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके ॥
अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषों से विरहित,
चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का ।
अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥४२॥

वर्णादि सहित मूर्तिक और वर्णादि रहित अमूर्तिक – इसप्रकार अजीव दो प्रकार का है। इसलिए अमूर्तत्व के आधार पर अर्थात् अमूर्तत्व को जीव का लक्षण मानकर जीव के स्वरूप को यथार्थ नहीं जाना जा सकता। अतः वस्तुस्वरूप के विवेचक भेदज्ञानियों ने अच्छी तरह परीक्षा करके, अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषों से रहित जीव का लक्षण चेतनत्व को कहा है। वह चेतनत्व लक्षण स्वयं प्रगट है और जीव के यथार्थ स्वरूप को प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है। अतः हे जगत के जीवो ! इस अचल एक चैतन्यलक्षण का ही अवलम्बन करो ।

यद्यपि भगवान आत्मा अमूर्तिक महापदार्थ है, तथापि अमूर्तत्व को भगवान आत्मा की पहिचान का चिन्ह नहीं माना जा सकता है, उसे आत्मा का लक्षण नहीं बनाया जा सकता है; क्योंकि लक्षण वह होता है, जिसमें अव्याप्त, अतिव्याप्त और असंभव दोष न हो ।

जिस लक्षण की उपस्थिति लक्ष्य में संभव ही न हो, उस लक्षण को असंभव दोष से युक्त लक्षण कहते हैं अथवा असंभव दोष से युक्त लक्षणाभास कहते हैं। जो लक्षण पूरे लक्ष्य में व्याप्त न हो, उसे अव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं और जो लक्षण अलक्ष्य में भी पाया जाय, उसे अतिव्याप्त लक्षणाभास कहते हैं। सही लक्षण तो वही होता है, जो पूरे लक्ष्य में प्राप्त हो और अलक्ष्य में प्राप्त न हो तथा लक्ष्य में जिसकी उपस्थिति असंभव न हो ।

उक्त कसौटी के आधार पर अब अमूर्तत्व लक्षण की निर्दोषता पर विचार करते हैं ।

द्रव्य छह प्रकार के होते हैं – जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें जीव को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अजीवद्रव्य कहे जाते हैं। इन छहों द्रव्यों में अकेला एक पुद्गल ही मूर्तिक है, शेष पाँच द्रव्य अमूर्तिक हैं। यदि जीव का लक्षंण अमूर्तिक माना जाय तो असंभव दोष तो नहीं होगा; क्योंकि जीव अमूर्तिक है; किन्तु अव्याप्त और अतिव्याप्त दोष अवश्य होंगे ।

यह अमूर्तत्व लक्षण जीव के अलावा आकाश, काल, धर्म और अधर्म – इन चार अजीव द्रव्यों में भी पाया जाता है। अतः अलक्ष्य में चला जाने से यह अतिव्याप्त दोष से दूषित है ।

जीव दो प्रकार के हैं – संसारी और मुक्त। यह अमूर्तत्व लक्षण सिद्धों में तो पाया जाता है; क्योंकि वे किसी भी नय से मूर्तिक नहीं हैं; परन्तु संसारी जीव यद्यपि निश्चय से अमूर्तिक हैं, तथापि व्यवहारनय से जिनागम में उन्हें मूर्तिक भी कहा गया है; अतः यह लक्षण अव्याप्त दोष से दूषित है; क्योंकि यह लक्षण संसारी जीवों में व्याप्त नहीं रहा ।

इसप्रकार यह अमूर्तत्व लक्षण जीव का निर्दोष लक्षण नहीं बन सकता है; परन्तु ज्ञानदर्शनमय चैतन्य-उपयोग ही जीव का ऐसा लक्षण है जो संसारी और मुक्त सभी जीवों में पाया जाता है और जीव के अतिरिक्त किसी भी अजीव द्रव्य में नहीं पाया जाता; अतः न इसमें अव्याप्त दोष है और न अतिव्याप्त तथा असंभव दोष तो है ही नहीं। अतः यह लक्षण सर्वथा निर्दोष लक्षण है ।

अतः यदि हमें निज भगवान आत्मा को जानना है, पहिचानना है, पाना है, अपनाना है; तो इस एक चैतन्य लक्षण का ही अवलम्बन करना होगा ।

विशेष जानने की बात यह है कि यहाँ वर्णादि में सभी २९ प्रकार के भाव आ जाते हैं। अतः न केवल रूप, रस आदि ही मूर्तिक हैं; अपितु राग-द्वेष आदि विकारी भाव भी मूर्तिक ही हैं। अधिक क्या कहें; क्योंकि २९ भावों में संयमलब्धिस्थान जैसे भाव भी आते हैं; जिन्हें यहाँ पौद्गलिक कहकर मूर्तिक कहा गया है। अतः ये सभी भाव जीव के लक्षण नहीं बन सकते, जीव की पहिचान के चिन्ह नहीं बन सकते। जीव की पहिचान का असली चिन्ह तो उपयोग ही है, ज्ञानदर्शनमय उपयोग ही है। अतः आचार्यदेव आदेश देते हैं, उपदेश देते हैं, आग्रह करते हैं,

अनुरोध करते हैं कि हे जगत के जीवो ! तुम एक इस चैतन्य लक्षण का ही अवलम्बन लो, आश्रय करो; क्योंकि इस चैतन्य लक्षण से ही भगवान आत्मा की पहिचान होगी ।

यह चैतन्य लक्षण स्वयं प्रगट है और त्रिकालीध्रुव भगवान आत्मा को प्रगट करने में पूर्ण समर्थ है तथा अचल है; इसकारण कभी चलायमान नहीं होता। अधिक क्या कहें – यह चैतन्यलक्षण जीव का जीवन ही है। अतः इस लक्षण के आधार पर ही आत्मा की पहिचान हो सकती है, साधना और आराधना हो सकती है; क्योंकि आत्मा तो स्वलक्षण से स्वयं प्रगट ही है ।

अब आचार्यदेव आगामी कलश में आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहते हैं कि जब बात इतनी स्पष्ट है अर्थात् जीव स्वलक्षण से प्रगट ही है तो फिर अज्ञानियों की समझ में क्यों नहीं आता ?

(वसंततिलका)

जीवादजीवमिति लक्षणतो विभिन्नं,
ज्ञानीजनोऽनुभवति स्वयमुल्लसंतम् ।
अज्ञानिनो निरवधि प्रविजृम्भितोऽयं,
मोहस्तु तत्कथमहो बत नानटीति ॥४३॥

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को ।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन-भिन्न ही हैं जानते ॥
जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह ।
अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है ॥४३॥

आचार्यदेव खेद और आश्चर्य व्यक्त करते हुए कह रहे हैं कि जब जीव और अजीव अपने सुनिश्चित लक्षणों से स्वयं ही उल्लसित होते हुए भिन्न-भिन्न प्रकाशमान हैं और ज्ञानीजन उन्हें भिन्न-भिन्न जानते हैं, पहिचानते हैं, अनुभव करते हैं; तब भी अज्ञानियों में पर में एकत्व का अनादि-अमर्यादित यह व्यामोह न जाने क्यों व्यापता है, यह मोह न जाने क्यों नाचता है ? – यह बहुत ही आश्चर्य और खेद की बात है ।

यह तो अज्ञान की ही महिमा है, पर में एकत्व के मोह की ही महिमा है, मिथ्यात्व की ही महिमा है कि इतनी स्थूल बात भी अज्ञानी की समझ में नहीं आती।

इस कलश में आश्चर्य और खेद व्यक्त करने के उपरान्त अगले कलश की भूमिका बांधते हुए आचार्य गद्य में लिखते हैं कि यदि मोह नाचता है तो नाचे, इससे हमें क्या प्रयोजन है; क्योंकि यह सम्पूर्ण नृत्य आखिर है तो पुद्गल का ही। यह नाचनेवाला मोह भी तो पुद्गल ही है ।

(वसंततिलका)

अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये,
वर्णादिमान्नटति पुद्गल एव नान्य: ।
रागादि पुद्गलविकारविरुद्धशुद्ध-
चैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीव: ॥४४॥

(हरिगीत)

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में ।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है ।
आनन्दमय चिद्भाव तो दृग-ज्ञानमय चैतन्य है ॥४४॥

इस अनादिकालीन महा-अविवेक के नाटक में वर्णादिमान पुद्गल ही नाचता है, अन्य कोई नहीं; क्योंकि यह जीव तो रागादिक पुद्गल विकारों से विलक्षण शुद्ध चैतन्यधातुमय मूर्ति है ।

वर्णादिक से लेकर गुणस्थानपर्यन्त २९ प्रकार के जो पौद्गलिक भाव हैं; उन्हें जीव मानना ही मोह में नाचना है। दृष्टि का विषयभूत एवं ध्यान का ध्येय भगवान आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमात्र है, एक है, अभेद है; इन २९ प्रकार के भावरूप वह नहीं है। ये २९ प्रकार के भाव तो पुद्गल ही हैं, इनमें तो एक पुद्गल ही नाचता है; जीव नहीं ।

अज्ञानी यह नहीं समझता; अत: इनमें अपनापन स्थापित करता है। उसका यह अपनापन स्थापित करना ही मोह में नाचना है। यद्यपि इन २९ प्रकार के भावरूप होना पुद्गल का ही परिणमन है, तथापि अज्ञानी इसे अपना परिणमन मानता है, अत: उसकी चित्त की भूमि में इनके प्रति अपनत्व का व्यामोह नाचता है ।

अत: आचार्यदेव कहते हैं कि यदि अज्ञानी का व्यामोह नाचता है तो नाचे, हम क्या करें ? हम तो अपने में जाते हैं। अरे भाई ! यह तो पुद्गल

का नृत्य है, अज्ञान का नृत्य है; इसमें मेरा कुछ भी नहीं है; क्योंकि मैं तो ज्ञानानन्दस्वभावी ध्रुवतत्त्व हूँ और मेरा परिणमन तो ज्ञानदर्शन-उपयोगमय है; इन २९ भावों रूप नहीं है ।

मैं इन २९ प्रकार के भावों से पकड़ने में आनेवाला नहीं हूँ, पहिचानने में आनेवाला नहीं हूँ, मैं तो अपने चैतन्यलक्षण से ही लक्षित होनेवाला पदार्थ हूँ। मैं अपने चैतन्य लक्षण से ही पहिचाना जाऊँगा और मेरा चैतन्य का परिणमन ही पहिचानने का कार्य करेगा। न तो मैं रागादिभावों से पहिचाना जाऊँगा और न रागादिभाव पहिचानने का काम ही करेंगे; क्योंकि ये मेरे हैं ही नहीं, ये मुझमें हैं ही नहीं; ये तो मुझसे भिन्न पदार्थ हैं, पुद्गल हैं, अचेतन हैं, जड़ हैं ।

पण्डित जयचन्दजी छावड़ा इस बात को भावार्थ में इसप्रकार स्पष्ट करते हैं -

"रागादि चिद्विकार को देखकर ऐसा भ्रम नहीं करना कि ये भी चैतन्य ही हैं; क्योंकि यदि ये चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त हों तो चैतन्य के कहलायें। रागादि विकार सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते, मोक्ष अवस्था में उनका अभाव है और उनका अनुभव भी आकुलतामय दुःखरूप है। इसलिए वे चेतन नहीं, जड़ हैं। चैतन्य का अनुभव निराकुल है, वही जीव का स्वभाव है - ऐसा जानना ।"

रागादिभाव चैतन्य से भिन्न हैं, क्योंकि वे चैतन्य की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त नहीं होते। अतः उनके माध्यम से भगवान आत्मा को कैसे जाना जा सकता है? अरे भाई ! उनसे तो भिन्नता करनी है। जिनसे भिन्नता करनी है, उनसे ही आत्मा को पहिचानने की बात करना कहाँ की समझदारी हैं ? उनसे तो भेदज्ञान की भावना को नचाना है; क्योंकि इस भेदज्ञान की भावना को अनवरत रूप से नचाने से ही आगे का मार्ग निकलता है; भेदज्ञान की तीव्र भावना में से ही अभेद आत्मा के अनुभव का मार्ग प्रशस्त होता है ।

अतः आगामी कलश में आचार्यदेव कहते हैं कि इसतरह भेदज्ञान की भावना को धारावाही रूप से नचाते-नचाते जीव और अजीव का प्रकट विघटन हुआ नहीं कि भगवान आत्मा अनुभव में प्रकाशित हो उठा, अनुभव में प्रतिष्ठित हो गया ।

(मन्दाक्रान्ता)

इत्थं ज्ञानक्रकचकलनापाटनं नाटयित्वा,
जीवाजीवौ स्फुटविघटनं नैव यावत्प्रयातः ।
विश्वं व्याप्य प्रसभविकसद्व्यक्तचिन्मात्रशक्त्या,
ज्ञातृद्रव्यं स्वयमतिरसात्तावदुच्चैश्चकाशे ॥४५॥

(हरिगीत)

जब इसतरह धाराप्रवाही ज्ञान का आरा चला ।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन हो चला ॥
अब जबतलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्व ही ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥४५॥

इसप्रकार ज्ञानरूपी करवत (आरा) के निरन्तर चलाये जाने पर जबतक जीव और अजीव – दोनों ही प्रकटरूप से अलग-अलग नहीं हो पाये कि यह ज्ञायकभावरूप भगवान आत्मा अत्यन्त विकसित अपनी चैतन्यशक्ति से विश्वव्यापी होता हुआ अतिवेग से अपने आप ही प्रकट प्रकाशित हो उठा ।

इस कलश के आशय को स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं –

"इस कलश का आशय दो प्रकार का है –

(१) उपर्युक्त ज्ञान का अभ्यास करते-करते जहाँ जीव और अजीव – दोनों स्पष्ट भिन्न समझ में आये कि तत्काल ही आत्मा का निर्विकल्प अनुभव हुआ, सम्यग्दर्शन हुआ। – एक आशय तो इसप्रकार है ।

(२) दूसरा आशय इसप्रकार है कि जीव-अजीव का अनादिकालीन संयोग पूर्णतः अलग-अलग होने से पूर्व अर्थात् जीव का मोक्ष होने के पूर्व, भेदज्ञान के भाते-भाते अमुकदशा होने पर निर्विकल्प धारा जगी, जिसमें केवल आत्मा का अनुभव रहा और वह श्रेणी अत्यन्त वेग से आगे बढ़ते-बढ़ते केवलज्ञान प्रगट हुआ और फिर अघातिकर्मों का नाश होने पर जीवद्रव्य अजीव से पूर्णतः भिन्न हुआ ।

जीव और अजीव के भिन्न होने की यही रीति है ।"

ज्ञायकभाव प्रकाशित हो उठा का एक तो यह अर्थ है कि आत्मज्ञान हो गया, आत्मानुभूति हो गई, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हो गया तथा दूसरा अर्थ यह है कि केवलज्ञान हो गया। पहले अर्थ में मिथ्याज्ञान के अभाव की बात है और दूसरे अर्थ में अल्पज्ञान के अभाव की बात है; पहले अर्थ में सम्यग्ज्ञानी होने की बात है और दूसरे अर्थ में केवलज्ञानी होने की बात है ।

पहले अर्थ में यह स्पष्ट होता है कि ज्ञायकभाव हमारे ज्ञान का ज्ञेय बन गया और दूसरे अर्थ में यह स्पष्ट है कि सर्वज्ञस्वभावी ज्ञायकभाव का सर्वज्ञस्वभाव पर्याय में प्रगट हो गया, सर्वज्ञता प्रगट हो गई ।

दोनों अर्थों में से जो भी अर्थ किया जायगा, छन्द में समागत सम्पूर्ण विशेषणों को उसी अर्थ के अनुरूप समायोजित किया जायगा ।

पहले अर्थ में दर्शनमोह के नाश के लिए करणलब्धि में होनेवाले तीन करणों की बात है और दूसरे अर्थ में चारित्रमोह के नाश के लिए क्षपकश्रेणी में होनेवाले तीन करणों की बात है। पहले अर्थ में दर्शनमोह के अभावपूर्वक मोक्षमार्ग आरंभ करने की बात है और दूसरे अर्थ में चारित्रमोह के नाशपूर्वक पूर्णतः निर्मोह होने की बात है, मोक्षमार्ग की पूर्णता प्राप्त करने की बात है; पहले अर्थ में मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी पर कदम रखने की बात है और दूसरे अर्थ में मोक्षमहल में प्रवेश करने की बात है ।

दोनों ही अर्थों में भेदज्ञान की अनवरत प्रबल भावना के वेग की बात है। अतः प्रत्येक आत्मा को एकक्षेत्रावगाही जीव और अजीव के बीच ज्ञानरूपी करवत को, आरे को प्रबल वेग से निरन्तर चलाना चाहिए, भेदज्ञान की भावना अनवरत भाना चाहिए। भेदज्ञान की भावना आरंभ से अंततक भाने योग्य है। इसीलिए तो कहा है –

(अनुष्टभ्)

भावयेद्भेदविज्ञानमिदमच्छिन्नधारया ।
तावद्यावत्पराच्च्युत्वा ज्ञानं ज्ञाने प्रतिष्ठते ।।[१]

---

१. समयसार कलश – १३०

(दोहा)

भेदज्ञान भावो भविक नित ही अविरल धार ।
ज्ञान ज्ञान में ही जमें परभावों से पार ॥

भेदज्ञान की भावना अखण्ड-प्रवाह से तबतक निरन्तर भानी चाहिए कि जबतक ज्ञान परभावों से छूटकर ज्ञान (आत्मा) में ही प्रतिष्ठित न हो जावे ।

बनारसीदास ने इस छन्द का पद्यानुवाद इसप्रकार किया है -

"भेदग्यान तबलौं भलौ जब लौं मुकति न होइ ।
परमज्योति परगट जहां तहां न विकलप कोइ ॥[१]

उक्त छन्द में भेदज्ञान की उपयोगिता जबतक मुक्ति प्राप्त न हो, तबतक बताई गई है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानी-अज्ञानी सभी को भेदज्ञान की भावना भानी चाहिए। मिथ्यात्व की भूमिका में दर्शनमोह के अभाव के लिए और सम्यग्दर्शन होने के बाद चारित्रमोह के अभाव के लिए यह भावना भाई जानी चाहिए। परमज्योति प्रगट हो जाने पर, केवलज्ञान हो जाने पर तो कोई विकल्प शेष रहता ही नहीं है। अतः वहाँ इस भेदज्ञान की भावना की आवश्यकता भी नहीं रहती है; विकल्पात्मक भावना की आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि वहाँ तो भेदज्ञान का फल सम्पूर्णतः प्रगट हो गया है ।

इसप्रकार इस जीवाजीवाधिकार का समापन करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि इसप्रकार जीव और अजीव अलग-अलग होकर रंगभूमि में से बाहर निकल गये ।

आचार्य अमृतचन्द्र के समापन वाक्य का भाव स्पष्ट करते हुए पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा भावार्थ में लिखते हैं -

"जीवाजीवाधिकार में पहले रंगभूमिस्थल कहकर, उसके बाद टीकाकार आचार्य ने ऐसा कहा कि नृत्य के अखाड़े में जीव-अजीव दोनों एक होकर प्रवेश करते हैं और दोनों ने एकत्व का स्वांग रचा है। वहाँ भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष ने दोनों को पृथक् जाना; इसलिए स्वांग पूरा हुआ और दोनों अलग-अलग होकर अखाड़े से बाहर निकल गये। - इसप्रकार अलंकारपूर्वक वर्णन किया ।"

---

१. समयसार नाटक, संवर द्वार, छन्द - ७

वेश बदलने की सफलता तभी तक है; जबतक की कोई वास्तविकता न जान ले। वेश बदलकर काम करनेवाले तभी तक अपना काम सफलतापूर्वक करते रहते हैं; जबतक कि वे पहिचाने नहीं जाते। पहिचाने जाने पर वे अपनी भलाई भाग जाने में ही समझते हैं। लोक की इस स्थिति को नाटक में भी स्वीकार किया जाता है। अभिनेता तो वही चतुर है, जिसके वास्तविकरूप को लोग जान ही न पावें। परिचित लोग भी तभी जान सकें कि जब उन्हें बताया जाय कि अमुक व्यक्ति का अभिनय अमुक व्यक्ति कर रहा था ।

इसी बात को अलंकारिक भाषा में – नाटकीय रूप में यहाँ घटाया गया है। जीवाजीवाधिकार के आरंभ में जीव और अजीव ने एक होकर प्रवेश किया था, एकत्व का स्वांग रचा था, वेश बनाया था; किन्तु जब वे भेदज्ञानी सम्यग्दृष्टि पुरुष द्वारा पहिचान लिए गये तो दोनों अलग-अलग होकर भाग गये, रंगमंच पर से चले गये ।

इसप्रकार यह जीवाजीवाधिकार समाप्त होता है। इसके समापन पर पण्डित जयचन्दजी छाबड़ा ने एक छन्द लिखा है, जो इसप्रकार है –

(सवैया तेईसा)

जीव-अजीव अनादि संयोग मिलै लखि मूढ न आतम पावैं ।
सम्यक् भेदविज्ञान भये बुध भिन्न गहे निजभाव सुदावैं ॥
श्रीगुरू के उपदेश सुनै रु भले दिन पाय अज्ञान गमावैं ।
ते जगमाहिं महन्त कहाय बसैं शिव जाय सुखी नित थावैं ॥

जीव और अजीव को अनादिकाल से ही एकक्षेत्रावगाहरूप से मिले हुए देखकर अज्ञानी जीव अपने आत्मा को पहिचान नहीं पाते हैं। किन्तु वे ही अज्ञानी जीव जब श्रीगुरू का उपदेश श्रवण कर, अच्छे दिन आ जाने पर अर्थात् काललब्धि आ जाने पर अपने अज्ञान को मिटाकर भेदविज्ञान होने पर अपने आत्मा को प्राप्त कर लेते हैं तो ज्ञानी हो जाते हैं। ऐसे ही जीव जगत में महान कहलाते हैं और यथासमय मोक्ष को प्राप्त कर सदा के लिए सुखी हो जाते हैं।

इसप्रकार जीवाजीवाधिकार में पर से एकत्व और ममत्व का निषेध किया । •

समयसार पद्यानुवाद
रंगभूमि एवं जीव-अजीव अधिकार
(हरिगीत)

ध्रुव अचल अनुपम सिद्ध की कर वंदना मैं स्व-परहित ।
यह समयप्राभृत कह रहा श्रुतकेवली द्वारा कथित ॥ १ ॥

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्व-समय ।
जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे पर-समय ॥ २ ॥

एकत्वनिश्चयगत समय सर्वत्र सुन्दर लोक में ।
विसंवादनी पर बंध की यह कथा ही एकत्व में ॥ ३ ॥

सबकी सुनी अनुभूत परिचित भोग बंधन की कथा ।
पर से पृथक् एकत्व की उपलब्धि केवल सुलभ ना ॥ ४ ॥

निज विभव से एकत्व ही दिखला रहा करना मनन ।
पर नहीं करना छलग्रहण यदि हो कहीं कुछ स्खलन ॥ ५ ॥

न अप्रमत्त है न प्रमत्त है बस एक ज्ञायकभाव है ।
इस भाँति कहते शुद्ध पर जो ज्ञात वह तो वही है ॥ ६ ॥

दृग ज्ञान चारित जीव के हैं - यह कहा व्यवहार से ।
ना ज्ञान दर्शन चरण ज्ञायक शुद्ध है परमार्थ से ॥ ७ ॥

अनार्य भाषा के बिना समझा सके न अनार्य को ।
बस त्योंहि समझा सके ना व्यवहार बिन परमार्थ को ॥ ८ ॥

श्रुतज्ञान से जो जानते हैं शुद्ध केवल आतमा ।
श्रुतकेवली उनको कहे ऋषिगण प्रकाशक लोक के ॥ ९ ॥

जो सर्वश्रुत तो जानते उनको कहें श्रुतकेवली ।
सब ज्ञान ही है आतमा बस इसलिए श्रुतकेवली ॥ १० ॥

शुद्धनय भूतार्थ है अभूतार्थ है व्यवहारनय ।
भूतार्थ की ही शरण गह यह आतमा सम्यक् लहे ॥ ११ ॥

परमभाव को जो प्राप्त हैं वे शुद्धनय ज्ञातव्य हैं ।
जो रहें अपरमभाव में व्यवहार से उपदिष्ट हैं ॥ १२ ॥

चिदचिदास्रव पाप-पुण्य शिव बंध संवर निर्जरा।
तत्त्वार्थ ये भूतार्थ से जाने हुए सम्यक्त्व हैं ॥१३॥

अबद्धपुट्ठ अनन्य नियत अविशेष जाने आत्म को।
संयोग विरहित भी कहे जो शुद्धनय उसको कहें ॥१४॥

अबद्धपुट्ठ अनन्य अरु अविशेष जाने आत्म को।
द्रव्य एवं भावतश्रुतमय सकल जिनशासन लहे ॥१५॥

चारित्र दर्शन ज्ञान को सब साधुजन सेवें सदा।
ये तीन ही हैं आतमा बस कहै निश्चयनय सदा ॥१६॥

'यह नृपति है' - यह जानकर अर्थार्थिजन श्रद्धा करें।
अनुचरण उसका ही करें अतिप्रीति से सेवा करें ॥१७॥

यदि मोक्ष की है कामना तो जीवनृप को जानिए।
अतिप्रीति से अनुचरण करिए प्रीति से पहिचानिए ॥१८॥

मैं कर्म हूँ नोकर्म हूँ या हैं हमारे ये सभी।
यह मान्यता जबतक रहे अज्ञानि हैं तबतक सभी ॥१९॥

सचित्त और अचित्त एवं मिश्र सब परद्रव्य ये।
हैं मेरे ये मैं इनका हूँ ये मैं हूँ या मैं हूँ ये ही ॥१०॥

हम थे सभी के या हमारे थे सभी गतकाल में।
हम होंयगे उनके हमारे वे अनागत काल में ॥२१॥

ऐसी असंभव कल्पनाएँ मूढ़जन नित ही करें।
भूतार्थ जाननहार जन ऐसे विकल्प नहीं करें ॥२२॥

अज्ञान-मोहित-मती बहुविध भाव से संयुक्त जिय।
अबद्ध एवं बद्ध पुद्गल द्रव्य को अपना कहें ॥२३॥

सर्वज्ञ ने देखा सदा उपयोग लक्षण जीव यह।
पुद्गलमयी हो किसतरह किसतरह तू अपना कहे? ॥२४॥

जीवमय पुद्गल तथा पुद्गलमयी हो जीव जब।
'ये मेरे पुद्गल द्रव्य हैं'–यह कहा जा सकता है तब ॥२५॥

यदि देह ना हो जीव तो तीर्थंकरों का स्तवन।
सब असत् होगा इसलिए बस देह ही है आतमा ॥२६॥

'देह-चेतन एक हैं' – यह वचन है व्यवहार का ।
'ये एक हो सकते नहीं' – यह कथन है परमार्थ का ॥ २७॥

इस आतमा से भिन्न पुद्गल रचित तन का स्तवन ।
कर मानना कि हो गया है केवली का स्तवन ॥ २८॥

परमार्थ से सत्यार्थ ना वह केवली का स्तवन ।
केवलि-गुणों का स्तवन ही केवली का स्तवन ॥ २९॥

वर्णन नहीं है नगरपति का नगर-वर्णन जिसतरह ।
केवली-वंदन नहीं है देह-वंदन उसतरह ॥ ३०॥

जो इन्द्रियों को जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
वे हैं जितेन्द्रिय जिन कहें परमार्थ साधक आतमा ॥ ३१॥

मोह को जो जीत जाने ज्ञानमय निज आतमा ।
जितमोह जिन उनको कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥ ३२॥

सब मोह क्षय हो जाय जब जितमोह सम्यक्श्रमण का ।
तब क्षीणमोही जिन कहें परमार्थ ज्ञायक आतमा ॥ ३३॥

परभाव को पर जानकर परित्याग उनका जब करे ।
तब त्याग हो बस इसलिए ही ज्ञान प्रत्याख्यान है ॥ ३४॥

जिसतरह कोई पुरुष पर को जानकर पर परित्यजे ।
बस उसतरह पर जानकर परभाव ज्ञानी परित्यजे ॥ ३५॥

मोहादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है मोह-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥ ३६॥

धर्मादि मेरे कुछ नहीं मैं एक हूँ उपयोगमय ।
है धर्म-निर्ममता यही वे कहें जो जाने समय ॥ ३७॥

मैं एक दर्शन-ज्ञानमय नित शुद्ध हूँ रूपी नहीं ।
ये अन्य सब परद्रव्य किंचित् मात्र भी मेरे नहीं ॥ ३८॥

परात्मवादी मूढ़जन निज आतमा जाने नहीं ।
अध्यवसान को आतम कहें या कर्म को आतम कहें ॥ ३९॥

अध्यवसानगत जो तीव्रता या मंदता वह जीव है ।
पर अन्य कोई यह कहे नोकर्म ही बस जीव है ॥ ४०॥

मन्द अथवा तीव्रतम जो कर्म का अनुभाग है।
वह जीव है या कर्म का जो उदय है वह जीव है ॥४१॥

द्रवकर्म का अर जीव का सम्मिलन ही बस जीव है।
अथवा कहे कोइ करम का संयोग ही बस जीव है ॥४२॥

बस इसतरह दुर्बुद्धिजन परवस्तु को आतम कहें।
परमार्थवादी वे नहीं परमार्थवादी यह कहें ॥४३॥

ये भाव सब पुद्गल दरव परिणाम से निष्पन्न हैं।
यह कहा है जिनदेव ने 'ये जीव हैं' – कैसे कहें ? ॥४४॥

अष्टविध सब कर्म पुद्गलमय कहे जिनदेव ने।
सब कर्म का परिणाम दुखमय यह कहा जिनदेव ने ॥४५॥

ये भाव सब हैं जीव के जो यह कहा जिनदेव ने।
व्यवहारनय का पक्ष यह प्रस्तुत किया जिनदेव ने ॥४६॥

सेना सहित नरपती निकले नृप चला ज्यों जन कहें।
यह कथन है व्यवहार का पर नृपति उनमें एक है ॥४७॥

बस उसतरह ही सूत्र में व्यवहार से इन सभी को।
जीव कहते किन्तु इनमें जीव तो बस एक है ॥४८॥

चैतन्य गुणमय आतमा अव्यक्त अरस अरूप है।
जानो अलिंगग्रहण इसे यह अनिर्दिष्ट अशब्द है ॥४९॥

शुध जीव के रस गंध ना अर वर्ण ना स्पर्श ना।
यह देह ना जड़रूप ना संस्थान ना संहनन ना ॥५०॥

ना राग है ना द्वेष है ना मोह है इस जीव के।
प्रत्यय नहीं है कर्म ना नोकर्म ना इस जीव के ॥५१॥

ना वर्ग है ना वर्गणा अर कोई स्पर्धक नहीं।
अर नहीं हैं अनुभाग के अध्यात्म के स्थान भी ॥५२॥

योग के स्थान नहिं अर बंध के स्थान ना।
उदय के स्थान नहिं अर मार्गणा स्थान ना ॥५३॥

थिति बंध के स्थान नहिं संक्लेश के स्थान ना।
संयमलब्धि के स्थान ना सुविशुद्धि के स्थान ना ॥५४॥

जीव के स्थान नहिं गुणथान के स्थान ना।
क्योंकि ये सब भाव पुद्गल द्रव्य के परिणाम हैं ॥५५॥

वर्णादि को व्यवहार से ही कहा जाता जीव के।
परमार्थ से ये भाव भी होते नहीं हैं जीव के ॥५६॥

दूध-पानी की तरह सम्बन्ध इनका जानना।
उपयोगमय इस जीव के परमार्थ से ये हैं नहीं ॥५७॥

पथिक लुटते देखकर पथ लुट रहा जग-जन कहें।
पर पथ तो लुटता है नहीं बस पथिक ही लुटते रहें ॥५८॥

उस ही तरह रंग देखकर जड़ कर्म अर नोकर्म का।
जिनवर कहें व्यवहार से यह वर्ण है इस जीव का ॥५९॥

इस ही तरह रस गंध तन संस्थान आदिक जीव के।
व्यवहार से हैं - कहें वे जो जानते परमार्थ को ॥६०॥

जो जीव हैं संसार में वर्णादि उनके ही कहे।
जो मुक्त हैं संसार से वर्णादि उनके हैं नहीं ॥६१॥

वर्णादिमय ही जीव हैं तुम यदी मानो इसतरह।
तब जीव और अजीव में अन्तर करोगे किसतरह ? ॥६२॥

मानो उन्हें वर्णादिमय जो जीव हैं संसार में।
तब जीव संसारी सभी वर्णादिमय हो जायेंगे ॥६३॥

यदि लक्षणों की एकता से जीव हों पुद्गल सभी।
बस इसतरह तो सिद्ध होंगे सिद्ध भी पुद्गलमयी ॥६४॥

एकेन्द्रियादिक प्रकृति हैं जो नाम नामक कर्म की।
पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म-बादर आदि सब ॥६५॥

इनकी अपेक्षा कहे जाते जीव के स्थान जो।
कैसे कहें - 'वे जीव हैं' जब प्रकृतियाँ पुद्गलमयी ॥६६॥

पर्याप्तकेतर आदि एवं सूक्ष्म बादर आदि सब।
जड़ देह की है जीव संज्ञा सूत्र में व्यवहार से ॥६७॥

मोहन-करम के उदय से गुणस्थान जो जिनवर कहे।
वे जीव कैसे हो सकें जो नित अचेतन ही कहे ? ॥६८॥

समयसार कलश पद्यानुवाद

(दोहा)

निज अनुभूति से प्रगट, चित्स्वभाव चिद्रूप ।
सकलज्ञेय ज्ञायक नमौं, समयसार सद्रूप ॥ १ ॥

(सोरठा)

देखे पर से भिन्न, अगणित गुणमय आतमा ।
अनेकान्तमयमूर्ति, सदा प्रकाशित ही रहे ॥ २ ॥

(रोला)

यद्यपि मैं तो शुद्धमात्र चैतन्यमूर्ति हूँ ।
फिर भी परिणति मलिन हुई है मोहोदय से ॥
परमविशुद्धि को पावे वह परिणति मेरी ।
समयसार की आत्मख्याति नामक व्याख्या से ॥ ३ ॥
उभयनयों में जो विरोध है उसके नाशक ।
स्याद्वादमय जिनवचनों में जो रमते हैं ॥
मोह वमन कर अनय-अखण्डित परमज्योतिमय ।
स्वयं शीघ्र ही समयसार में वे रमते हैं ॥ ४ ॥
ज्यों दुर्बल को लाठी है हस्तावलम्ब त्यों ।
उपयोगी व्यवहार सभी को अपरमपद में ॥
पर उपयोगी नहीं रंच भी उन लोगों को ।
जो रमते हैं परम-अर्थ चिन्मय चिद्घन में ॥ ५ ॥

(हरिगीत)

नियत है जो स्वयं के एकत्व में नय शुद्ध से ।
वह ज्ञान का घनपिण्ड पूरण पृथक् है परद्रव्य से ॥
नवतत्त्व की संतति तज बस एक यह अपनाइये ।
इस आतमा का दर्श दर्शन आतमा ही चाहिए ॥ ६ ॥

(दोहा)

शुद्धनयाश्रित आतमा, प्रगटे ज्योतिस्वरूप ।
नवतत्त्वों में व्याप्त पर, तजे न एकस्वरूप ॥ ७ ॥

(रोला)

शुद्ध कनक ज्यों छुपा हुआ है बानभेद में ।
नवतत्त्वों में छुपी हुई त्यों आत्मज्योति है ॥

एकरूप उद्योतमान पर से विविक्त वह।
अरे भव्यजन ! पद-पद पर तुम उसको जानों ॥८॥
निक्षेपों के चक्र विलय नय नहीं जनमते।
अर प्रमाण के भाव अस्त हो जाते भाई ॥
अधिक कहें क्या द्वैतभाव भी भासित ना हो।
शुद्ध आतमा का अनुभव होने पर भाई ॥९॥

(हरिगीत)

परभाव से जो भिन्न है अर आदि-अन्त विमुक्त है।
संकल्प और विकल्प के जंजाल से भी मुक्त है ॥
जो एक है परिपूर्ण है – ऐसे निजात्मस्वभाव को।
करके प्रकाशित प्रगट होता है यहाँ यह शुद्धनय ॥१०॥
पावें न जिसमें प्रतिष्ठा बस तैरते हैं बाह्य में।
ये बद्धस्पृष्टादि सब जिसके न अन्तरभाव में ॥
जो है प्रकाशित चतुर्दिक उस एक आत्मस्वभाव का।
हे जगतजन ! तुम नित्य ही निर्मोह हो अनुभव करो ॥११॥

(रोला)

अपने बल से मोह नाशकर भूत भविष्यत्।
वर्तमान के कर्मबंध से भिन्न लखे बुध ॥
तो निज अनुभवगम्य आतमा सदा विराजित।
विरहित कर्मकलंकपंक से देव शाश्वत ॥१२॥
शुद्धनयातम आतम की अनुभूति कही जो।
वह ही है ज्ञानानुभूति तुम यही जानकर ॥
आतम में आतम को निश्चल थापित करके।
सर्व ओर से एक ज्ञानघन आतम निरखो ॥१३॥
खारेपन से भरी हुई ज्यों नमक डली है।
ज्ञानभाव से भरा हुआ त्यों निज आतम है ॥
अन्तर-बाहर प्रगट तेजमय सहज अनाकुल।
जो अखण्ड चिन्मय चिद्घन वह हमें प्राप्त हो ॥१४॥

(हरिगीत)

है कामना यदि सिद्धि की ना चित्त को भरमाइये।
यह ज्ञान का घनपिण्ड चिन्मय आतमा अपनाइये ॥

बस साध्य-साधक भाव से इस एक को ही ध्याइये ।
अर आप भी पर्याय में परमातमा बन जाइये ॥१५॥
मेचक कहा है आतमा दृग ज्ञान अर आचरण से ।
यह एक निज परमातमा बस है अमेचक स्वयं से ॥
परमाण से मेचक-अमेचक एक ही क्षण में अहा ।
यह अलौकिक मर्मभेदी वाक्य जिनवर ने कहा ॥१६॥
आतमा है एक यद्यपि किन्तु नयव्यवहार से ।
त्रैरूपता धारण करे सद्ज्ञानदर्शनचरण से ॥
बस इसलिए मेचक कहा है आतमा जिनमार्ग में ।
इसे जाने बिन जगतजन ना लगें सन्मार्ग में ॥१७॥
आतमा मेचक कहा है यद्यपि व्यवहार से ।
किन्तु वह मेचक नहीं है अमेचक परमार्थ से ॥
है प्रगट ज्ञायक ज्योतिमय वह एक है भूतार्थ से ।
है शुद्ध एकाकार पर से भिन्न है परमार्थ से ॥१८॥
मेचक अमेचक आतमा के चिन्तवन से लाभ क्या ।
बस करो अब तो इन विकल्पों से तुम्हें है साध्य क्या ॥
हो साध्यसिद्धि एक बस सद्ज्ञानदर्शनचरण से ।
पथ अन्य कोई है नहीं जिससे बचे संसरण से ॥१९॥
त्रैरूपता को प्राप्त है पर ना तजे एकत्व को ।
यह शुद्ध निर्मल आत्मज्योति प्राप्त है जो स्वयं को ॥
अनुभव करें हम सतत ही चैतन्यमय उस ज्योति का ॥
क्योंकि उसके बिना जग में साध्य की हो सिद्धि ना ॥२०॥

(रोला)

जैसे भी हो स्वतः अन्य के उपदेशों से ।
भेदज्ञानमूलक अविचल अनुभूति हुई हो ॥
ज्ञेयों के अगणित प्रतिबिम्बों से वे ज्ञानी ।
अरे निरन्तर दर्पणवत् रहते अविकारी ॥२१॥

(हरिगीत)

आजन्म के इस मोह को हे जगतजन तुम छोड़ दो ।
रसिकजन को जो रुचे उस ज्ञान के रस को चखो ॥
तादात्म्य पर के साथ जिनका कभी भी होता नहीं ।
अर स्वयं का ही स्वयं से अन्यत्व भी होता नहीं ॥२२॥

निजतत्त्व का कौतूहली अर पड़ौसी बन देह का।
हे आत्मन्! जैसे बने अनुभव करो निजतत्त्व का॥
जब भिन्न पर से सुशोभित लख स्वयं को तब शीघ्र ही।
तुम छोड़ दोगे देह से एकत्व के इस मोह को॥२३॥
लोकमानस रूप से रवितेज अपने तेज से।
जो हरें निर्मल करें दशदिश कान्तिमय तनतेज से॥
जो दिव्यध्वनि से भव्यजन के कान में अमृत भरें।
उन सहसअठ लक्षण सहित जिन-सूरि को वंदन करें॥२४॥
प्राकार से कवलित किया जिस नगर ने आकाश को।
अर गोल गहरी खाई से है पी लिया पाताल को॥
सब भूमितल को ग्रस लिया उपवनों के सौंदर्य से।
अद्भुत् अनूपम अलग ही है वह नगर संसार से॥२५॥
गंभीर सागर के समान महान मानस मंग हैं।
नित्य निर्मल निर्विकारी सुव्यवस्थित अंग हैं॥
सहज ही अद्भुत् अनूपम अपूरव लावण्य है।
क्षोभ विरहित अर अचल जयवंत जिनवर अंग हैं॥२६॥
इस आतमा अर देह का एकत्व बस व्यवहार से।
यह शरीराश्रित स्तवन भी इसलिए व्यवहार से॥
परमार्थ से स्तवन है चिद्भाव का ही अनुभवन।
परमार्थ से तो भिन्न ही हैं देह अर चैतन्यघन॥२७॥
इस आतमा अर देह के एकत्व को नय युक्ति से।
निर्मूल ही जब कर दिया तत्त्वज्ञ मुनिवरदेव ने॥
यदि भावना है भव्य तो फिर क्यों नहीं सद्बोध हो।
भावोल्लसित आत्मार्थियों को नियम से सद्बोध हो॥२८॥
परभाव के परित्याग की दृष्टि पुरानी न पड़े।
अर जबतलक हे आत्मन् वृत्ति न हो अतिबलवती॥
व्यतिरिक्त जो परभाव से वह आतमा अतिशीघ्र ही।
अनुभूति में उतरा अरे चैतन्यमय वह स्वयं ही॥२९॥
सब ओर से चैतन्यमय निजभाव से भरपूर हूँ।
मैं स्वयं ही इस लोक में निजभाव का अनुभव करूँ॥
यह मोह मेरा कुछ नहीं चैतन्य का घनपिण्ड हूँ।
हूँ शुद्ध चिद्घन महानिधि मैं स्वयं एक अखण्ड हूँ॥३०॥

वस इसतरह सब अन्यभावों से हुई जब भिन्नता ।
तब स्वयं को उपयोग ने स्वयमेव ही धारण किया ॥
प्रकटित हुआ परमार्थ अर दृग ज्ञान वृत परिणत हुआ ।
तब आतमा के बाग में आतम रमण करने लगा ॥ ३१ ॥
सुख शान्तरस से लबालब यह ज्ञानसागर आतमा ।
विभरम की चादर हटा सर्वांग परगट आतमा ॥
हे भव्यजन ! इस लोक के सब एक साथ नहाइये ।
अर इसे ही अपनाइये इसमें मगन हो जाइये ॥ ३२ ॥

(सवैया इकतीसा)

जीव और अजीव के विवेक से हैं पुष्ट जो,
ऐसी दृष्टि द्वारा इस नाटक को देखता ।
अन्य जो सभासद हैं उन्हें भी दिखाता और,
दुष्ट अष्ट कर्मों के बंधन को तोड़ता ॥
जाने लोकालोक को पै निज में मगन रहे,
विकसित शुद्ध नित्य निज अवलोकता ।
ऐसो ज्ञानवीर धीर मंग भरे मन में,
स्वयं ही उदात्त और अनाकुल सुशोभता ॥ ३३ ॥

(हरिगीत)

हे भव्यजन ! क्या लाभ है इस व्यर्थ के बकवाद से ।
अब तो रुको निज को लखो अध्यात्म के अभ्यास से ॥
यदि अनवरत छहमास हो निज आतमा की साधना ।
तो आतमा की प्राप्ति हो सन्देह इसमें रंच ना ॥ ३४ ॥
चैतन्यशक्ति से रहित परभाव सब परिहार कर ।
चैतन्यशक्ति से सहित निजभाव नित अवगाह कर ॥
है श्रेष्ठतम जो विश्व में सुन्दर सहज शुद्धातमा ।
अब उसी का अनुभव करो तुम स्वयं हे भव्यातमा ॥ ३५ ॥

(दोहा)

चित् शक्ति सर्वस्व जिन केवल वे हैं जीव ।
उन्हें छोड़कर और सब पुद्गलमयी अजीव ॥ ३६ ॥
वर्णादिक रागादि सब हैं आतम से भिन्न ।
अन्तर्दृष्टि देखिये दिखे एक चैतन्य ॥ ३७ ॥

जिस वस्तु से जो बने, वह हो वही न अन्य ।
स्वर्णम्यान तो स्वर्ण है, असि है उससे अन्य ॥ ३८॥
वर्णादिक जो भाव हैं, वे सब पुद्गल जन्य ।
एक शुद्ध विज्ञानघन आतम इनसे भिन्न ॥ ३९॥
कहने से घी का घड़ा, घड़ा न घीमय होय ।
कहने से वर्णादिमय जीव न तन्मय होय ॥ ४०॥
स्वानुभूति में जो प्रगट, अचल अनादि अनन्त ।
स्वयं जीव चैतन्यमय, जगमगाता अत्यन्त ॥ ४१॥

(सवैया इकतीसा)

मूर्तिक अमूर्तिक अजीव द्रव्य दो प्रकार,
इसलिए अमूर्तिक लक्षण न बन सके ।
सोचकर विचारकर भलीभांति ज्ञानियों ने,
कहा वह निर्दोष लक्षण जो बन सके ॥
अतिव्याप्ति अव्याप्ति दोषों से विरहित,
चैतन्यमय उपयोग लक्षण है जीव का ।
अतः अवलम्ब लो अविलम्ब इसका ही,
क्योंकि यह भाव ही है जीवन इस जीव का ॥४२॥

(हरिगीत)

निज लक्षणों की भिन्नता से जीव और अजीव को ।
जब स्वयं से ही ज्ञानिजन भिन-भिन्न ही हैं जानते ॥
जग में पड़े अज्ञानियों का अमर्यादित मोह यह ।
अरे तब भी नाचता क्यों खेद है आश्चर्य है ॥४३॥

अरे काल अनादि से अविवेक के इस नृत्य में ।
बस एक पुद्गल नाचता चेतन नहीं इस कृत्य में ॥
यह जीव तो पुद्गलमयी रागादि से भी भिन्न है ।
आनन्दमय चिद्भाव तो दृगृज्ञानमय चैतन्य है ॥४४॥

जब इसतरह धाराप्रवाही ज्ञान का आरा चला ।
तब जीव और अजीव में अतिविकट विघटन हो चला ॥
अब जबतलक हों भिन्न जीव-अजीव उसके पूर्व ही ।
यह ज्ञान का घनपिण्ड निज ज्ञायक प्रकाशित हो उठा ॥४५॥

॥ इति ॥

लेखक के महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

१.	समयसार अनुशीलन भाग-१ (सम्पूर्ण)	२०.००
२.	परमभाव प्रकाशक नयचक्र	१६.००
३.	पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व	११.००
४.	आत्मा ही है शरण	११.००
५.	सत्य की खोज (हिन्दी, गुजराती, मराठी, तमिल, कन्नड़)	८.००
६.	तीर्थंकर भगवान महावीर और उनका सर्वोदयतीर्थ (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	७.००
७.	वीतराग-विज्ञान प्रशिक्षण निर्देशिका	७.००
८.	धर्म के दशलक्षण (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	६.००
९.	बारह भावना : एक अनुशीलन	६.००
१०.	आप कुछ भी कहो (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी)	६.००
११.	क्रमबद्धपर्याय (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़, तमिल, अंग्रेजी)	५.००
१२.	गागर में सागर	५.००
१३.	आचार्य कुन्दकुन्द और उनके पंच परमागम	५.००
१४.	पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	५.००
१५.	निमित्तोपादान	२.५०
१६.	अहिंसा : महावीर की दृष्टि में (हिन्दी, मराठी, गुजराती, अंग्रेजी)	२.५०
१७.	युगपुरुष कानजीस्वामी (हिन्दी, गुजराती, मराठी, कन्नड़)	२.००
१८.	चैतन्य चमत्कार	२.००
१९.	पण्डित टोडरमल : जीवन और साहित्य	२.००
२०.	मैं कौन हूँ (हिन्दी, गु., म., क., त., अं.)	२.००
२१.	बालबोध पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	२.००
२२.	बालबोध पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., त., बं., अं.)	२.००
२३.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-१ (हि., गु., म., क., अं.)	२.००
२४.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-२ (हि., गु., म., क., अं.)	२.००
२५.	वीतराग-विज्ञान पाठमाला भाग-३ (हि., गु., म., क., अं.)	२.००
२६.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-१ (हिन्दी, गु., म., क., अं.)	३.००
२७.	तत्त्वज्ञान पाठमाला भाग-२ (हिन्दी, गु., म., क., अं.)	३.००
२८.	सार समयसार	१.५०
२९.	शाश्वत तीर्थधाम : सम्मेदशिखर	१.५०
३०.	कुन्दकुन्द शतक (अर्थ सहित)	१.२५
३१.	समयसार पद्यानुवाद	१.२५
३२.	योगसार पद्यानुवाद	१.००
३३.	बारह भावना एवं जिनेन्द्र वन्दना	१.००
३४.	शुद्धात्म शतक (अर्थ सहित)	१.००
३५.	तीर्थंकर भगवान महावीर	१.००
३६.	अनेकान्त और स्याद्वाद	१.००
३७.	शाकाहार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	१.००
३८.	अर्चना (जेबी साइज)	१.००
३९.	गोम्मटेश्वर बाहुबली	१.००
४०.	वीतरागी व्यक्तित्व : भगवान महावीर (हिन्दी, गुजराती)	१.००